फरवरी : 2006 मूल्य : 10 रुपये

आजकल

साहित्य और संस्कृति का मासिक

परंपराओं की नगरी काशी

अतिथि संपादक

डॉ. ओम प्रकाश केजरीवाल

संदर्भ-ग्रंथ

भारत 2006

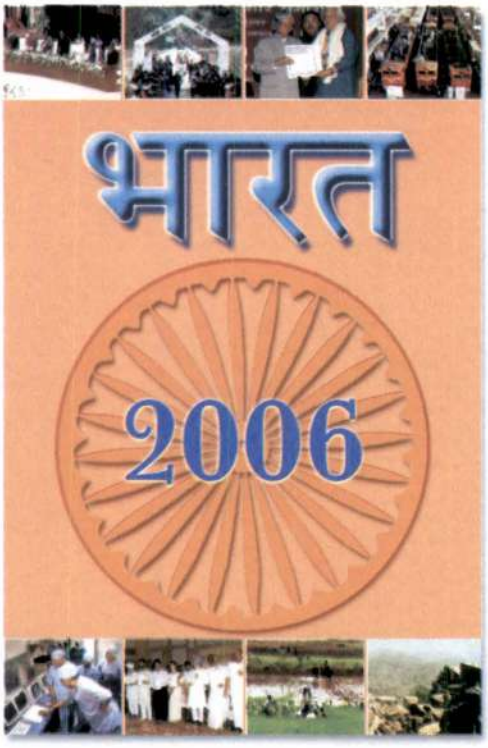

भारत के भौगोलिक, सांस्कृतिक, औद्योगिक, शैक्षिक एवं तकनीकी विकास आदि के बारे में प्रामाणिक जानकारी के लिए

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार
वेबसाइट :http : // www. publicationsdivision.nic.in
e.mail : dpd@sb.nic.in

पृष्ठः1170 मूल्यः 200 रुपये

आज ही खरीदें

प्रकाशन विभाग के विकय केंद्र

* प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ काम्प्लैक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली–110003 (फोन. 24365610, 24367260,) *हॉल न. 196, पुराना सचिवालय, दिल्ली–110054, (फोन. 23890205) * कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालाड पायर, मुंबई–400038 (फोन. 22610081) * 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कोलकाता–700069 (फोन. 22488030) * राजाजी भवन, बेसेंट नगर, चेन्नई–600090 (फोन. 24917673) * प्रेस रोड, निकट गवर्नमेंट प्रेस, तिरूअनंतपुरम –695001 (फोन. 2330650) *ब्लाक न.4, प्रथम तल, गृहकल्प कॉम्प्लैक्स, एम.जे. रोड, नामपल्ली, हैदराबाद–5401 (फोन. 24605383) * बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, 800004, (फोन. 2301823) हाल न.1, * दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, सेक्टर–8, अलीगंज, लखनउ–226024 (फोन. 2325455) *प्रथम तल, एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, बैंगलोर–560034, (फोन. 25537244) * अंबिका कॉम्प्लैक्स, प्रथम तल, पलदी, अहमदाबाद–380007 (फोन. 26588669) * के.के.बी. रोड, न्यू कालोनी, हाउस न.7 चेनी कुथी, गुवाहाटी–781003 (फोन. 2665090)

ISSN-0971-8478

पृष्ठ 1-112

स्थापित 1945

काशी विशेषांक

आजकल

अतिथि संपादक

डॉ. ओम प्रकाश कंजरीवाल

लेख

7. भारतीय इतिहास में काशी — *गुणाकर मुळे*
16. काशी के इतिहास का कालक्रम
18. धर्म और संस्कृति का केंद्र काशी — *पृथ्वी कुमार अग्रवाल*
22. अठारहवीं शताब्दी का बनारस — *संजय गर्ग*
26. काशी की विद्वत् परम्परा — *शीतला प्रसाद उपाध्याय*
33. काशी में वैदिक परम्परा — *विश्वेश्वर शास्त्री द्राविड़ एवं डी.पी. अग्रवाल*
36. काशी से प्रारंभ कबीरी परम्परा — *संत विवेकदास आचार्य*
41. काशी की ज्योतिष साधना — *गुणाकर मुळे*
50. प्रतिरोध की संस्कृति से अविभाज्य : बनारस की साहित्यिक परम्परा — *चंद्रकला त्रिपाठी*
54. काशी की कोश परम्परा — *बदरीनाथ कपूर*
62. काशी की टीका परम्परा — *युगेश्वर*
65. काशी की हिंदी पत्रकारिता — *धीरेन्द्रनाथ सिंह*
73. बनारस में बाल-साहित्य सृजन — *श्रीप्रसाद*
76. काशी की अनूठी संगीत-साधना — *पारसनाथ सिंह*
79. लोकरंजन की अनूठी परम्परा : काशी के लाखा मेले — *राममोहन पाठक*
81. काशी की नाट्य परम्परा — *कुंवरजी अग्रवाल*
87. काशी की रामलीला — *भानुशंकर मेहता*
96. काशी की कला के आयाम — *मारूतिनंदन प्रसाद तिवारी*
99. काशी की चित्रकला — *राय आनंदकृष्ण*
105. बनारस के वास्तुशिल्प का इतिहास — *माधुरी देसाई*

रत्तंभ

2. संपादकीय
4. पत्र
55. काशी दर्शन (फोटो फीचर)
110. पुस्तक चर्चा : कल्पना का काशी अंक — *हरे प्रकाश उपाध्याय*

वर्ष : 61; अंक : 10; पूर्णांक : 736
फरवरी 2006, माघ-फाल्गुन 1927

संपादक
प्रवीण उपाध्याय

सहायक संपादक
सीमा ओझा

आवरण सज्जा : *अलका नय्यर*
आवरण पेंटिंग : *संजय ओझा*
अंतिम आवरण चित्र : *जेम्स प्रिंसेप*

संपादकीय पत्र व्यवहार
संपादक **आजकल**
प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 120 सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स
लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
फोन : 2436 2915
www.publicationdivision.nic.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन)
एन.सी. मजूमदार

चंदे की दरें :
वार्षिक : 70 रुपये
दो वर्ष : 135 रुपये
तीन वर्ष :190 रुपये
विदेशों में (हवाई डाक से)
एक वर्ष :
पड़ोसी देश : 500 रुपये
शेष विश्व : 700 रुपये

चंदे संबंधी पूछताछ :
जगदीश प्रसाद
वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
पूर्वी ब्लाक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066
दूरभाष : 26105590

टाइप सेट : ज्योति लेजर टाइप सेटिंग

सम्पादकीय

बचपन में किसी पाठ्य पुस्तक में बेढब बनारसी का एक लेख पढ़ा था– 'बनारसी एक्का'। करीब चालीस वर्ष होने को आए, पर मैं उस लेख को नहीं भूल सका। जब इस विशेषांक का संपादकीय लिखने की बात उठी तो मैंने वह लेख खोजवाया। बड़ी मुश्किल से, लेकिन वह लेख मिल गया। इसमें बनारसी एक्के के अलावा बनारसी साड़ी, बनारसी लंगड़े आम और बनारसी ठग की भी चर्चा है। पर मेरा मानना है कि केवल ये ही नहीं, दुनिया का संभवतः कोई और शहर नहीं जहां कि इतनी चीजें मशहूर हों जितनी बनारस की। उदाहरण के लिए लीजिए : बनारस की गंगा, बनारस के घाट, बनारस के मंदिर, बनारसी पान, बनारस की गलियां, बनारस की गायकी, बनारसी बाबू आदि जब विशेषांक को निकालने की बात उठी तो किसी ने बताया कि बनारस पर करीब तीन सौ पुस्तकें छप चुकी हैं और कितनी ही पत्रिकाओं के विशेषांक निकल चुके हैं। प्रश्न था कि अब कौन-सा ऐसा पहलू चुना जाए जिसमें बनारस की विशेषताएं भी मौजूद हों और साथ में यह औरों से थोड़ा अलग भी हो। सोचते-सोचते एक और बात दिमाग में आई– शायद ही दुनिया का कोई और शहर हो जिसमें इतनी परंपराएं विद्यमान हों जितनी कि बनारस में। बस, इसी दृष्टिकोण से हमने इस विशेषांक की परिकल्पना की, जो आज आपके हाथों में है।

सच में, बनारस एक अनूठा शहर है। विश्व के प्राचीनतम शहरों में तो है ही, विश्व के पावन शहरों में भी इसकी गिनती होती है। फिर, विश्व के कितने शहर होंगे जिनके बारे में यह मान्यता होगी कि यहां मरने से मोक्ष की प्राप्ति होती है? यह भावना हिन्दू जनमानस में इस तरह बैठी हुई है कि लोग यहां मरने के लिए ही आते हैं। मेरे एक चाचा थे। पैसे वाले थे। तीन बार ऐसा हुआ कि उनकी तबियत बिगड़ी और अपने लाव-लश्कर के साथ पहुंच गए बनारस– मरने की आस लिए। किराए पर मकान लिया और लगे काशीवास करने। पर तीनों बार बनारस में उनकी तबियत सुधर गई और करीब महीने भर बाद यहां रहने के बाद लौट गए। आखिर में मृत्यु हुई तो काशी में नहीं, अपने ही शहर, मुजफ्फरपुर में। शायद इसीलिए कहा जाता है कि बनारस में वही रहता है, वही मरता है जिस पर बाबा विश्वनाथ की कृपा हो।

यह केवल कहने की बात नहीं है। बनारस के कई और नामों में एक है 'महाश्मशान'। और सही में देखा जाए तो यह मृत्यु की नगरी है। यहां के एक घाट के बारे में प्रसिद्ध है– हो सकता है यहां निहित स्वार्थों ने यह बात फैलाई हो-- कि जिस क्षण यहां कोई चिता नहीं जलेगी, उसी क्षण बनारस का विनाश हो जाएगा और उसके साथ-साथ विश्व का भी। जो भी हो, यह बात अवश्य सही है कि बनारस में कोई भी विचारशील व्यक्ति मृत्यु की भावना से दूर नहीं रह सकता। आप शहर में कहीं भी निकल जाइए, आप मृत्यु को अपने करीब पाएंगे। जैसा कि श्रीकांत वर्मा ने लिखा है :

तुमने देखी है काशी ?
जहां, जिस रास्ते
जाता है शव–
उसी रास्ते
आता है शव !

और यह बनारस के सभी रास्तों पर लागू होता है।

कहते हैं कि मृत्यु ही मानव के सभी धर्मों और सभी दर्शन का आधार है। यदि मृत्यु नहीं होती तो वह न तो किसी धर्म का आविष्कार करता और न ही उसे किसी दर्शनशास्त्र की आवश्यकता होती। यदि ऐसा है -- और लगता है कि ऐसा ही है-- तो बनारस अपने आप ही धर्म और दर्शन का सर्वोच्च स्थान हो जाता है क्योंकि यहां मृत्यु चहुंदिक और आठों पहर आपके आसपास रहती है।

पर बनारस की एक खूबी है, मृत्यु का शहर होने के साथ-साथ यह जीवंतता का शहर भी है। यहां जीवन का हर रंग देखने को मिलता है। यह शायद इसलिए कि मृत्यु यहां इस तरह आदमी को घेरे रहती है कि वह उसके प्रति सजगता खो बैठता है : मृत्यु के प्रति एक निस्पृहता का भाव आ जाता है। अर्थात मृत्यु तो है पर वह अपनी भयावहता और अपनी अनिश्चतता-- सभी कुछ खो बैठती है क्योंकि वह यहां इतनी व्याप्त है। अतः जो यहां देखने को मिलता है, वह मृत्यु के साथ-साथ जीवन है: हर रंग में जीवन। अतः यहां जितनी शास्वत मृत्यु है , उतना ही शास्वत है जीवन। अपने एक लेख 'जहां बसे संभु भवानी' में विद्यानिवास मिश्र कहते हैं : काशी के बारे में 'प्रसिद्ध है कि ऐसा कोई भी समय नहीं आएगा कि काशी में कोई मूर्धन्य साधक न हो, मूर्धन्य विद्वान न हो, मूर्धन्य कलाकार न हो, मूर्धन्य रचनाकार न हो, मूर्धन्य वंचक न हो, मूर्धन्य पाखंडी न हो, मूर्धन्य अवधूत न हो, मूर्धन्य जौहरी न हो— यह हो सकता है कि वह काफी समय तक प्रकट न हो, छिपा हो; यह हो सकता है कि उसकी कीमत लोग उसके समय में न आंक सकें, पर ऐसे मूर्धन्य व्यक्तियों की शृंखला ही वस्तुतः काशी है।'

स्पष्ट है कि जहां इतनी विभिन्न श्रेणियों के मूर्धन्य लोग होंगे, शहर में उतनी ही परम्पराएं भी होंगी। यह भी स्पष्ट है कि कोई भी एक पुस्तक या एक पत्रिका का विशेषांक इन सारी परम्पराओं को नहीं समेट सकता। अतः हम इस विशेषांक में काशी की कुछ ही परम्पराओं की चर्चा कर पाए हैं। इच्छा तो यह थी कि कोई हमारे लिए, 'काशी की ठगी परम्परा' या 'काशी की पाखंड परम्परा' पर भी कोई लेख दे दे पर ऐसे रचनाकार हमें मिले नहीं।

खैर ! चेष्टा हमारी यही रही कि पत्रिका की सीमित पृष्ट संख्या में काशी की जितनी परम्पराओं की चर्चा संभव थी, हम शामिल कर लें। कुछ परम्पराएं इसीलिए छूट गई हैं क्योंकि इनके लेखक नहीं मिले या फिर वे परम्पराएं हमें सूझी ही नहीं। पर हम तो यही मानकर चलते हैं कि हमने एक शुरूआत की है। शायद बाद का कोई संपादक और अधिक समय लेकर और अधिक हिम्मत जुटाकर काशी पर और अधिक विस्तृत सामग्री प्रस्तुत कर सकेगा।

परम्पराओं के साथ-साथ हमने काशी के इतिहास से भी संबंधित कुछ लेख लिए हैं। इसे हमने एक परिप्रेक्ष्य देने की चेष्टा की है जो हमें लगा, आवश्यक था। वैसे काशी के और अधिक विस्तृत इतिहास की चर्चा अपेक्षित है, जो संभवतः आगे का कोई लेखक या संपादक कर सकेगा।

प्रस्तुत विशेषांक की एक और सीमा थी इसकी घोषणा हमने बनारस में सितंबर माह में साहित्यकारों की एक गोष्ठी में की थी। और फरवरी अंक में इसे हम पाठकों के हाथों में दे रहे हैं। इतने कम समय में काशी की सारी महिमा का बखान करना या सारी परम्पराओं की चर्चा करना असंभव था, फिर भी हमारा मानना है कि यह भी कम बड़ी उपलब्धि नहीं रही है। हमारा तो यही मानना है, वास्तव में ऐसा है या नहीं, यह तो पाठक ही तय करेंगे।

इतने कम समय में इतना बड़ा काम कई लोगों की सहायता के बिना संभव नहीं था। यह सभी हमारे धन्यवाद और आभार के पात्र हैं। इनमें सर्वप्रथम प्रो. उमाकांत मिश्र निदेशक, प्रकाशन विभाग हैं, जिन्होंने इस योजना को अपनी स्वीकृति दी और इसे पूर्ण करने में डॉ. वसुधा गुप्ता, संयुक्त निदेशक, प्रकाशन विभाग ने पूरा सहयोग दिया। प्रवीण उपाध्याय, संपादक 'आजकल' ने सभी लेखों को टाइप करवाने, प्रूफ देखने आदि कई अन्य कार्यों में सहायता दी। इनके अलावा कवर डिजाइन के चित्रकार संजय ओझा और इस पूरी पत्रिका के संयोजन तथा मुद्रण में जिन लोगों ने मदद की, उनके प्रति मैं आभारी हूं।

साथ में मेरा विशेष आभार उन सभी लेखकों के प्रति है जिनके सहयोग के बिना यह विशेषांक न तो इतनी जल्दी और न ही इतने सार्थक रूप से निकल पाता। इनका सहयोग कितना अधिक और कितना महत्वपूर्ण रहा, यह किसी पत्रिका का संपादक ही समझ पाएगा जो एक विशेषांक निकालने की पीड़ा से गुजर चुका है। 'आज' के धीरेन्द्र जी ने न केवल अपना लेख हमें दिया बल्कि अन्य कई तरह से सहयोग किया।

मैं प्रभात प्रकाशन, दिल्ली के प्रभातजी का भी आभारी हूं जिन्होंने विद्यानिवास जी की पुस्तक 'थोड़ी-सी जगह दें', मुझे उपलब्ध करवाई। विद्यानिवासजी का जो मैंने उद्धरण दिया है, इसी पुस्तक के एक लेख से लिया गया है।

अंत में मैं विश्वविद्यालय प्रकाशन, बनारस, के श्री पुरुषोत्तमदास मोदी के प्रति विशेष रूप से आभारी हूं जिनके कई स्तरों पर सहयोग के बिना यह विशेषांक इतनी जल्दी आपके हाथों में नहीं आ पाता।

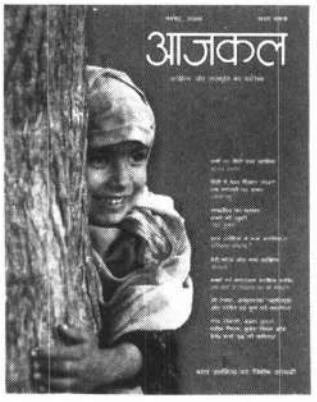

बाल साहित्य को समर्पित

• *आजकल* का बाल साहित्य को समर्पित नवंबर अंक पढ़ा। जानी-मानी लेखिका क्षमा शर्मा ने अपने साक्षात्कार में कुछ महत्त्वपूर्ण विषय उठाए हैं। यूनिसेफ का यह कहना कि बच्चों की परवाह किसी को इसलिए नहीं है क्योंकि वे वोट नहीं दे सकते, बहुत गहरे अर्थ प्रकट करता है। यह एक तरफ जहां भागम-भाग और व्यस्तता भरी जिंदगी में बालकों के प्रति की जाने वाली उपेक्षा को उद्घाटित करता है, वहीं दूसरी तरफ समकालीन औद्योगिक और आधुनिक समाज की संवेदनशून्यता और विकृतियों को भी अनावृत्त करता है। एक ओर यह कहना कि बालकों के स्वस्थ मनोरंजन के लिए कुछ लिखा नहीं जाता और दूसरी ओर पत्र-पत्रिकाओं में बाल साहित्य को समुचित स्थान न देना वास्तव में विरोधाभास को ही दर्शाता है।

मूल्यों में हो रहे परिवर्तनों और तकनीकी उन्नति में हो रहे नित नए बदलावों से बच्चे भला अप्रभावित कैसे रह सकते हैं? मीडिया और ढेर सारे चैनलों ने बाल साहित्य को जो नई दिशा दी है वह कुछ पहलुओं को छोड़कर, वास्तव में बाल मन के कोरे कागज पर कोई प्रेरक संदेश नहीं छोड़ पाती। समाज और सभ्यता का भविष्य कहे जाने वाले बच्चों से बातें करके कभी-कभी आश्चर्य होता है। जैसा अशोक अंजुम ने लिखा भी है– 'एक बच्चा सुनाता है, फसाने कई-कई, देखे हैं जैसे उसने जमाने कई-कई' ये फसाने *हैरी पॉटर* शृंखला के उपन्यासों के प्रतिबिंब ही लगते हैं। अतीत के शासकों की भाषा अंग्रेजी में रची गई *हैरी पॉटर* शृंखला ने, अंग्रेजी के आगे पानी भरते देशों में अच्छी खासी धूम मचाई है। लेकिन वास्तव में इस धूम के पीछे जबर्दस्त प्रचार तंत्र और मीडिया का वरदहस्त रहा है। कल्पनाधिक्य ने बाल मन को कल्पनाशील बनाने की बजाय कल्पना शक्ति से हीन बनाने का ही 'उपकार' किया है। सेलिब्रेटी स्टेटस पाने के बाद, अभिभावकों के लिए अपने बच्चों को कोई सीख या शिक्षा देने के उद्देश्य की बजाय ऐसी पुस्तकें खरीदना इसलिए जरूरी हो गया है क्योंकि प्राय: यह 'स्टेट्स' का मामला बन जाता है।

हिंदी में बाल विज्ञान लेखन बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए अनिवार्य है। इस विषय पर 'एक शताब्दी का सफर' लेख बहुत अच्छा लगा। प्रकाश मनु ने वैज्ञानिक साहित्य के पहलुओं को बड़ी सुंदरता से इस लेख में समेटा है। परीलोक की सैर कराने वाले समर्थ लेखक रमेश वर्मा की पुस्तकें वास्तव में बधाई की पात्र हैं। बच्चों को इनसे विज्ञान की जानकारी खेल-खेल में मिल जाती है और उनका मानसिक स्तर ऊपर उठता है और शब्दकोष भी समृद्ध होता है। रमेश तैलंग का लेख 'हिंदी की नई बाल पुस्तकें' रोचक और सूचनात्मक लगा। यह अंक वास्तव में संग्रहणीय है।

–प्रांजल धर
अरुणा आसफ अली रोड, नई दिल्ली

ग़ज़लों का स्वागत

• *आजकल* में काव्य की अच्छी विधाओं के साथ ग़ज़ल का भी समान रूप से स्वागत और सत्कार किया जा रहा है, यह सुखद है। अक्तूबर अंक में सुरेश कुमार शेष तथा मधुर नज़्मी जैसे समर्पित रचनाकारों की उम्दा ग़ज़लें पढ़ने को मिलीं।

–एहतराम इस्लाम, इलाहाबाद

तर्कशील है बाल रंगमंच

• यह हमारी ज़मीनी तैयारी है जो हमारी भविष्य की धरोहर को संवेदनशील बनाती है। बाल कहानी, बाल लेख, बाल नाटक पर परिशिष्ट, किसी एक नाटक के बिना-परिपूर्ण होते हुए भी, दिखायी नहीं पड़ता है। सुरेन्द्र विक्रम की विवेचना से पता चलता है कि हमारा बाल रंगमंच भी युवा रंगमंच की तरह ही तर्कशील है। इस पर अपनी-अपनी कोशिश या जिसे हम प्रयोग कह सकते हैं किया जा सकता है।

–याची, मुग़लसराय, चंदौली (उ.प्र.)

आभार

• बाल साहित्य पर विशेष सामग्री प्रकाशित करने पर आभार। सारगर्भित लोक तथ्य नाटक, बाल साहित्य, लेखिका क्षमा शर्मा का साक्षात्कार, रमेश तैलंग का लेख हिंदी की 'नई बाल-पुस्तकें' पर चर्चा एक अनोखी तरह की सोच को उकसाती है।

टी.वी. पर उबाऊ धारावाहिक, अच्छे बाल-साहित्य के अभाव में डरावनी भयानक, हिंसात्मक कामिक्स, यौनिक शिक्षा के नाम पर दूषित साहित्य से अभिभावक बच्चों को कैसे छुटकारा दिलाएं यह सोच का विषय है।

–राणा प्रताप सिंह
काशीनगर (उ.प्र.)

मर्मस्पर्शी कहानियां

• कहानियां 'सोने का कंगन' एवं 'रोशनियों के दरख्त' मर्मस्पर्शी हैं। बाल साहित्य के विविध पक्षों को रेखांकित करते आलेख सदी का हिंदी बाल साहित्य (कौशल पाण्डेय), बाल साहित्य में बाल-मनोविज्ञान (रोहिताश्व अस्थाना) तथा हिंदी में बाल-विज्ञान लेखन (प्रकाश मनु) विशेष बधाई के पात्र हैं।

–शारदानंद, लखनऊ (उ.प्र.)

सोच में बदलाव है समरहिल

• *समरहिल* पुस्तक के बहाने जो चर्चा की गई है वह अभिभावकों की सोच में बदलाव की पक्षधर है। क्षमा शर्मा को यह लगता है कि यदि नई सदी के बच्चों की अपेक्षाओं के अनुरूप बाल-लेखन किया जाए तो बच्चे उनकी ओर अवश्य आकृष्ट होंगे। उन्हें बाल साहित्य का भविष्य उज्ज्वल दिखाई देता है। हैरी पॉटर को इसलिए पसंद किया गया कि वह अंग्रेजी में है। रोहिताश्व के अनुसार बाल-लेखन हेतु हमें भी बच्चों के साथ बच्चा बनना होगा। इस सदी के बाल साहित्य (*सिंहासन बत्तीसी, पंचतंत्र, हितोपदेश*) पर हम अपने को गौरवान्वित महसूस कर सकते हैं। यह साहित्य आज भी बड़े और छोटों के बीच समान रूप से लोकप्रिय है।

–गजानन पाण्डेय,
काचीगुडा, हैदराबाद

विचारपूर्ण अंक

• इस अंक में संपादकीय 'प्रसंगवश' काफ़ी विचारपूर्ण एवं चिंतन के दृष्टिकोण से उत्प्रेरित करने वाला लगा। पं. नेहरू को बच्चों से प्यार था। उनके मन में तो यह रहा ही था कि आज के बच्चे ही कल देश के कर्णधार बनेंगे और

पत्र

भारत की आजादी को बरकरार रखने में भी यह आधार स्तम्भ होंगे जिस पर देश की मजबूत अट्टालिका का निर्माण होगा।

'सदी का हिन्दी बाल साहित्य' में कौशल पाण्डेय ने बाल साहित्य से संबंधित पठनीय सामग्री दी है। उन्होंने गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए प्रकाशक को भी नहीं बख्शा है जो पैसे के लोभ में महंगी पुस्तकें छापते हैं जिससे पुस्तक की गुणवत्ता भी प्रभावित होती है। यदि वरिष्ठ साहित्यकार भी बाल-लेखन पर ध्यान दें तो बहुत सारी समस्याओं का हल निकल आएगा। प्रकाश मनु के आलेख में बच्चों से संबंध रखने वाली विज्ञान विषयक किताबों के विषय में अच्छी जानकारी दी गई है। गुणाकर मुळे ने। अपनी किताब *आर्यभट्ट* में वैज्ञानिकों के जीवन से संबंधित बातों का उल्लेख किया है। बाल-साहित्य की स्वनामधन्य लेखिका क्षमा शर्मा से दिव्यप्रभा राव की बातचीत प्रभावशाली लगी। इस बात पर उन्होंने खेद प्रकट किया है कि किसी भी पत्रिका में बच्चों के पुस्तकों की समीक्षा नहीं की जाती। कविताएं अच्छी हैं। और अंजलि उपाध्याय की रचना छोटी होती हुई भी प्रभावित करती है। सुरेन्द्र विक्रम ने अपने आलेख में बच्चों के लिए लिखे गए, हास्य नाटकों से लोगों को परिचित कराया है। महेश चंद्र चौरसिया की लघुकथा में नेता के अवसरवादी तेवर पर करारा व्यंग्य किया गया है। रॉबिन शॉ पुष्प की कथा 'रोशनियों के दरख्त' में रोमांस है पर अंत में नायिका की संवेदनशीलता पाठक को झकझोर देती है।

'सोने के कंगन' के रूप में हिंदी में अनुवादित एक अच्छी तेलुगु कथा से पाठकों को रू-ब-रू कराया गया है जिसमें दादी का उसके पोते के प्रति निश्छल और सरल स्नेह का दर्शन है। डॉ. श्रीप्रसाद ने 'पुस्तक' शीर्षक के अंतर्गत 'हैरी पार्टर' का आकलन करते हुए यह सिद्ध करने की सफल चेष्टा की है कि भारतीय बाल साहित्य इस दृष्टिकोण से मौलिक है कि इसमें यथार्थ का ताना-बाना तो बुना जाता है पर भय और वायवीय कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं रहता। 'बाल-साहित्य में बाल मनोविज्ञान' आलेख में लेखक ने बाल मनोविज्ञान को आधार मानते हुए पुस्तकों के सृजन की वकालत की है।

-अमरनाथ मेहरोत्रा,
मुजफ्फरपुर (बिहार)

बाल साहित्य की तलाश

● पिछले कई बरसों से नवंबर के अंक बाल साहित्य पर केंद्रित रहे हैं। इस बार भी यह आयोजन 'रूटीन' काम की तरह लगा। तमाम लेखों से भरे अंक की बजाए क्या यह अच्छा नहीं होता कि सदी की श्रेष्ठ रचनाएं छपतीं और पाठकों को आकलन का मौका दिया जाता। हिंदी की पत्रिका होने के बाद भी क्या यह आपका दायित्व नहीं कि भारत की अन्य भाषाओं में रचे हुए बाल-साहित्य की भी तलाश की जाती,।

-सोमप्रभ सिंह
बलरामपुर (उ.प्र.)

एक रचना कई जगह

● 14 नवंबर, बाल दिवस के दिन आपको यह पत्र लिखना एक संयोग है। मनोज वार्ष्णेय की एक ही रचना दो-दो, तीन-तीन जगह छप रही है। प्रत्यक्ष किम् प्रमाणम् 'विदूषक बन गया है बाल साहित्य' शीर्षक लेख जिसे आपने *आजकल* के हालिया प्रकाशित नवंबर अंक के पृष्ठ 44-56 पर छापा है। वह रविवार 13 नवंबर के दैनिक *ट्रिब्यून* में छपा भी है। इससे ये लगा कि *आजकल* में रचनाएं बिना पढ़े ही छापी जाती

आजकल का ग्राहक बनें :

मैं आपकी पत्रिका *---------- का ☐ एक वर्ष (70 रुपये)

☐ दो वर्ष (135 रुपये) ☐ तीन वर्ष (190 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूं।

चंदे का रुपये---------- भारतीय पोस्टल आर्डर/ मनीआर्डर / डिमांड ड्राफ्ट सं----------दिनांक--------संलग्न है।

हस्ताक्षर ----------

नाम :----------

पता : ----------

पिन : ☐☐☐☐☐☐

- कृपया अपना चंदा डी.डी./ पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर, *निदेशक, प्रकाशन विभाग* के नाम बनाएं।
- पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।
- दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : *बाल भारती*, *आजकल* (उर्दू), *कुरुक्षेत्र* (हिंदी व अंग्रेजी), *योजना* (हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।

चंदा निम्न पते पर भेजें :

विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक,
प्रकाशन विभाग, ईस्ट ब्लाक 4, लेवल-7,
रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066

हैं। अन्यथा बाल साहित्य के लेख का वह शीर्षक न होता, जो मनोज वार्ष्णेय ने लगाकर भेजा और शीर्षक ही नहीं पूरा का पूरा लेख छाप दिया गया। जो लेख नवंबर में आपने छापा है, वह दरअसल मेरे द्वारा लिखा और 4-5 वर्ष पूर्व संशोधित परिवर्तित लेख है। इसे मनोज ने मुझसे यह कहकर लिया था कि मैं पढ़कर दे दूंगा।

-बंधु कुशावर्ती, लखनऊ,(उ.प्र.)

ज्ञानवर्द्धक सामग्री

● *आजकल* के अंक को एक ही सांस में पढ़ गया। बाल साहित्य पर केंद्रित इस पत्रिका में बाल साहित्य पर जो भी चर्चा की गई है वह वास्तव में सराहनीय है। क्षमा शर्मा का साक्षात्कार अच्छा लगा। वास्तव में बच्चों का साहित्य रोचक, ज्ञानपूर्ण सरल एवं मनोरंजक होना चाहिए ताकि बच्चे इसे आसानी से पढ़ सकें, समझ सकें, मनोज वार्ष्णेय ठीक कहते हैं कि साहित्यकार बच्चों के बीच जीते हुए भी उनके लिए लिखने में रुचि नहीं ले रहे हैं। 'सोने का कंगन' कहानी अच्छी लगी।

-मनोज कुमार खोलिया 'मन्नू' गरूड़, बागेश्वर (उत्तरांचल)

साक्षात्कार में भटकाव

● दिव्यप्रभा राव द्वारा क्षमा शर्मा से लिया गया साक्षात्कार पढ़ा। बाल साहित्य की वर्तमान दशा और दिशा पर प्रारंभ हुआ यह साक्षात्कार अपने अंत तक आते-आते, खुद अपनी दिशा भूल गया। बाल साहित्य की चर्चा हो और प्रकाश मनु की बात न की जाए। बाल विज्ञान कथा पर उनका लेख मन मोह गया।

-आशीष कुमार अंशु नेहरू विहार (दिल्ली)

लाजवाब है लेखन

● श्री रमणा की कहानी 'सोने का कंगन' मर्मस्पर्शी लगी। कौशल पाण्डेय का तो जवाब ही नहीं है। उनकी लेखन क्षमता लाजवाब है। यह भारतीय हिंदी साहित्य की विडंबना है कि प्रसिद्ध बाल लेखकों के रहते हुए भी यहां विदेशी बाल लेखकों की रचना को ज्यादा तवज्जो दी जाती है।

-रंजन कुमार, जहानाबाद (बिहार)

शून्यता क्यों ?

● बाल विशेषांक में छपी समस्त सामग्री उत्कृष्ट है। फिर भी कौशल पाण्डेय, प्रकाश मनु, देवेन्द्र कुमार एवं रोहिताश्व अस्थाना आदि के आलेख ज्यादा रोचक एवं पठनीय लगे। 'सोने का कंगन' कहानी अच्छी लगी। रॉबिन शॉ पुष्प जैसे बड़े नाम वाले लेखक की कहानी 'रोशनियों के दरख्त' हल्की लगी। इससे तो अच्छी महेशचंद्र चौरसिया की लघुकथा 'पांच साल बाद' है। कविताएं यद्यपि पर्याप्त मात्रा एवं संख्या में हैं। फिर भी कम ही कविताएं स्तरीय लगीं। अलबत्ता देवेन्द्र शर्मा 'इंद्र' की गज़लें मन को कुछ हरा अवश्य कर गईं।

यह पत्रिका साहित्य एवं संस्कृति के वाहक होने की घोषणा करती है। कुछ हद तक ऐसी है भी। किंतु पूरे अंक में दिपावली पर एक भी स्तरीय लेख, कविता या कहानी क्यों नहीं? ऐसी शून्यता क्यों? अच्छे अंक के लिए मेरी बधाई स्वीकारें।

-विपिन कुमार, नवादा (बिहार)

अंक पसंद आया

● बाल साहित्य चिंतन पर केंद्रित यह अंक बहुत पसंद आया। प्रकाश मनु का 'हिंदी में बाल विज्ञान लेखन' आलेख काफी तथ्यपूर्ण लगा। अंजलि उपाध्याय की कविता स्वार्थ पसंद आई। महेश चंद्र चौरसिया की लघुकथा 'पांच साल बाद' राजनीतिक व्यवस्था और नेताओं की पोल खोलती है। आपसे निवेदन है कि *आजकल* का एक अंक नए लेखकों पर केंद्रित करें। ताकि नए लेखकों को भी स्थान मिले।

-अश्विनी कुमार, भागलपुर (बिहार)

प्रेरणादायी

● आपकी पत्रिका *आजकल* बहुत अच्छी और प्रेरित करने वाली पुस्तक है। मुझे पत्रिका एक ही नजर में पसंद आ गई है मैं इसे रोज पढ़ता हूं जबकि यह मुझे नवंबर माह में प्राप्त हुई। मुझे इस अंक में 'सोने का कंगन' नामक कहानी बहुत पसंद आई।

-एस. रमन, लखनऊ (उ.प्र.)

बाल साहित्य की जानकारियां

● *आजकल* के अंक में कौशल पाण्डेय की रचना 'सदी का हिन्दी बाल साहित्य' बहुत पसंद आया। क्षमा शर्मा से दिव्यप्रभा राव की बातचीत अच्छी लगी। नरेन्द्र तिवारी की कविता 'निर्बीज' और कुमार मुकुल की 'महुआ बीनती लड़की' तथा गीत, गज़ल भी अच्छे लगे सुरेन्द्र विक्रम की बाल रंगमंच की जानकारी डॉ. श्रीप्रसाद का 'हैरी पॉटर और बाल साहित्य' पसंद आई। देवेन्द्र कुमार की पुस्तक चर्चा अच्छी लगी।

-मणि भूषण प्रकाश, सुपौल (बिहार)

मार्मिक कहानी

● मैंने पहली बार *आजकल* का नवंबर अंक पढ़ा। कहानी में दिलचस्पी लेते हुए मैंने एक-एक कर सभी कहानियों को पढ़ डाला। कहानियों को पढ़ने के बाद मैं अपने आप को पत्र लिखने से रोक नहीं पाया। विशेषकर श्री रमणा द्वारा रचित कहानी 'सोने का कंगन' बहुत ही मार्मिक थी। मैं इस कहानी के अनुवादक जे.एच. रेड्डी को धन्यवाद देना चाहूंगा, उन्होंने हिंदी के पाठकों को अच्छी कहानी पढ़ने का मौका दिया।

रॉबिन शॉ पुष्प की कहानी 'रोशनियों के दरख्त' भी बहुत अच्छी लगी। लगभग दोनों ही कहानियों में मानवीय आकांक्षाओं और मजबूरी का सजीव चित्रण किया गया है।

-सिद्धार्थ कुमार, वाराणसी (उ.प्र.)

सामग्री से परिपूर्ण

● हमेशा की तरह *आजकल* का अंक बाल साहित्य पर विवेचनात्मक सामग्री से परिपूर्ण है। कई वर्षों से नवंबर में एक ही प्रकार की सामग्री का प्रकाशन होता आ रहा है। बच्चों के लिए यदि कुछ लोकप्रिय कविताओं का संकलन प्रकाशित होता तो यह अंक और अधिक संग्रहणीय बन जाता। *हैरी पॉटर* शृंखला की लोकप्रियता हमारे देश में अंग्रेजी माध्यम के महंगे स्कूलों की अंग्रेजी की गुलामी का प्रतीक है। काशी पर विशेषांक प्रकाशित करने की घोषणा मात्र से मेरे साहित्यिक मानस पटल पर उस अंक की छवि कल्पित हो गई है।

-अजय शंकर सिंह (बिहार)

ज्ञानवर्धक सामग्री

● बाल साहित्य पर केंद्रित सामग्री ज्ञानवर्धक और रोचक रही एक कमी जो मुझे लगी बाल साहित्य अंक में बच्चों से ही संबंधित कविताएं भी होनी चाहिए।

-बीना त्रिपाठी, गाजीपुर (उ.प्र.)

शेष पत्र पृष्ठ 112 पर

भारतीय इतिहास में काशी

***गंगा के तट पर राजघाट में हुए उत्खनन से वाराणसी नगर का इतिहास ईसा-पूर्व प्रथम सहस्राब्दि के आरंभकाल तक पीछे चला जाता है। आज काशी को हिंदुओं की संभवतः सबसे पुनीत नगरी माना जाता है, परंतु ऐतिहासिक काल में काशी जनपद और उसकी राजधानी वाराणसी का विशेष महत्व उसकी भौगोलिक और व्यापारिक स्थिति के कारण रहा है। वस्तुतः वाराणसी एक सम्मिश्र भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि ऐतिहासिक नगर है। बौद्ध धर्म तथा संघ की स्थापना सारनाथ-वाराणसी में हुई थी। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जन्मस्थली होने के कारण जैनियों के लिए भी काशी का बड़ा महत्व है। आज वाराणसी का जो स्वरूप और जैसा चरित्र है, उसकी नींव गाहडवाल युग (ईसा की बारहवीं सदी) में पड़ी थी। आरंभ से लेकर ईसा की 12वीं सदी तक वाराणसी के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं विज्ञान और इतिहास-पुरातत्व के सुपरिचित लेखक* **गुणाकर मुळे**

हमारे देश में प्राचीन काल से ही सांस्कृतिक स्तर के तीन प्रमुख जन-समुदायों का अस्तित्व रहा है—आदिवासी, ग्रामवासी और नगरवासी। सभ्यता की कहानी नगरों की स्थापना से शुरू होती है। कौन-सी सभ्यता कितनी उन्नत रही है, यह उसके नगरों की स्थिति से पहचाना जा सकता है। आज भी नगरों की स्थिति से ही यह स्पष्ट पता चल जाता है कि कौन-सा देश कितना उन्नत है।

नगरों की उत्पत्ति के अनेक विद्वानों ने अनेक कारक बताए हैं। लेविस मम्फोर्ड (Lewis Mumford) का मत है कि नवपाषाण युग की कृषि-प्रणाली और पशुपालन-व्यवस्था के कारण कालांतर में नगरों का आविर्भाव हुआ। गॉर्डन चाइल्ड (Gordon Childe) का मत है कि अधिशेष (surplus) के कारण गांव नगरों में विकसित हुए। उत्पादन की शक्तियां और उत्पादन के संबंध जब विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुंचते हैं, तभी नगर की आवश्यकता महसूस होती है। चाइल्ड के अनुसार, वैशिष्ट्यपूर्ण उत्पादन, बाहरी व्यापार, जनसंख्या में वृद्धि, राजनीतिक व सामाजिक संस्थाओं का उदय, लेखन, विज्ञान व तकनीकों का प्रयोग आदि चीजें नगरीय क्रांति (Urban Revolution) की सूचक होती हैं।[1] अमलानंद घोष की मान्यता है कि अधिशेष को संभालने के लिए शासक-वर्ग और वणिक-वर्ग का होना आवश्यक है; इसलिए नगरों का उद्भव इन वर्गों के उदय के साथ जुड़ा हुआ है। इसके विपरीत, मध्य-अमरीका की मय या माया (Maya) सभ्यता के नगरों का विकास धार्मिक केंद्रों के रूप में पुरोहितों के क्रियाकलापों से जुड़ा हुआ है। आधुनिक काल में कानपुर जैसे अनेक नगरों का विकास यंत्रीकरण और औद्योगिकरण के कारण हुआ है। अनेक नगरों का उद्भव सैनिक छावनियों से भी हुआ है।

वस्तुतः ग्राम तथा नगर का भेद परिमाणात्मक है। छोटे-छोटे गांव ही कालांतर में वाणिज्य, व्यवसाय, शिक्षाकेंद्र अथवा तीर्थस्थल आदि विभिन्न मूल कारणों के होने से विशाल नगरों में परिणत हो जाते हैं।

काशी (वाराणसी) को सम्मिश्र भारतीय संस्कृति का एक प्रतिनिधि ऐतिहासिक नगर माना जा सकता है। आज के भारतीय जनमानस की दृष्टि में वाराणसी देश की सर्वाधिक पुनीत नगरी है। पर वास्तविकता यह है कि ऐतिहासिक काल में काशी जनपद और उसकी राजधानी वाराणसी का विशेष महत्व उसकी व्यापारिक और भौगोलिक स्थिति के कारण रहा है। डा. मोतीचंद्र अपने *काशी का इतिहास* में स्पष्ट लिखते हैं : "सुदूर प्राचीन काल में वाराणसी की स्थापना का आधार धार्मिक न था। इतिहास ने हमें पता चलता है कि हिंदू धर्म से बनारस का संबंध बहुत बाद की घटना है, क्योंकि मनुस्मृति आदि ग्रंथों में तो काशी की साधारण-सी बातों पर प्रकाश डाला गया है। बौद्ध जातकों में वाराणसी की धार्मिक प्रवृत्तियों के बदले काशी की बहुत-सी बातों पर प्रकाश डाला गया है। वास्तव में उस प्राचीन युग में काशी का सनातन आर्य-धर्म से तो कोई विशेष संबंध नहीं था।"[2]

धार्मिक विश्वास के अनुसार वाराणसी विश्व की प्राचीनतम नगरी है। परंतु वस्तुस्थिति भिन्न है। यह संसार की प्राचीनतम नगरी तो है ही नहीं, भारत की भी नहीं है। पुरातात्विक खोजबीन के अनुसार मृत सागर के उत्तरी सिरे पर योर्डान उपत्यका में स्थित येरिको (Jericho) को संसार का सबसे पुराना नगर माना जाता है। आज से लगभग नौ हजार साल पहले का आरंभिक नवपाषाण युग का यह नगर परकोटे से घिरा हुआ था।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक के आरंभ में पश्चिमोत्तर भारत में जिस कांस्ययुगीन सिंधु सभ्यता (उन्नत काल : 2600-2000 ई.पू.) का उद्घाटन हुआ उसके मोहेंजो-दड़ो, हड़प्पा, लोथल, कालीबंगा, धौलावीरा आदि नगरों में पक्की ईंटों से बने रिहाइशी मकान, स्नानागार, सीधी सड़कें, जल-निकास प्रणाली और पेयजल के लिए कुओं की जैसी व्यवस्था रही है, वैसी आज की अनेक बस्तियों में भी देखने को नहीं मिलती। सिंधु सभ्यता की इन नगरीय बस्तियों में दुर्गों का विशेष महत्व रहा है।

सिंधु सभ्यता के अवसान के बाद आगे लगभग एक हजार साल तक भारत में कहीं कोई नगर नजर नहीं आता। वैदिक काल में गंगा-यमुना की घाटी में नए क्षेत्र बड़े पैमाने पर आबाद हुए, स्थायी जीवन-पद्धति को अपनाया गया और कृषि की तकनीकों का विकास हुआ। इस तरह, ईसा-पूर्व प्रथम सहस्राब्दि के पूर्वार्ध में उत्तर भारत में आर्यों के जनपद स्थापित हुए और ये भगवान बुद्ध (563-483 ई.पू.) के जन्म के पहले सोलह महाजनपदों[3] में विकसित हुए, तभी हमें गंगा-यमुना की द्रोणी में पहली बार ऐतिहासिक नगरों के दर्शन होते हैं। कौशांबी, वाराणसी, राजगृह, मथुरा आदि ऐसे ही नगर थे। कौशांबी में मिट्टी के परकोटे के अवशेष मिले हैं। राजघाट[4] (प्राचीन वाराणसी) से कच्ची ईंटों के तटबंध के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो ईसा-पूर्व सातवीं-आठवीं सदी के हैं। बौद्ध ग्रंथ **दीघ निकाय** के एक उल्लेख से भी पता चलता है कि वाराणसी-काशी के रक्षार्थ उसके चारों ओर परकोटे व परिखा का निर्माण किया गया था (वाराणसी च कासीनाम् एतं गोविंद मापिता)।

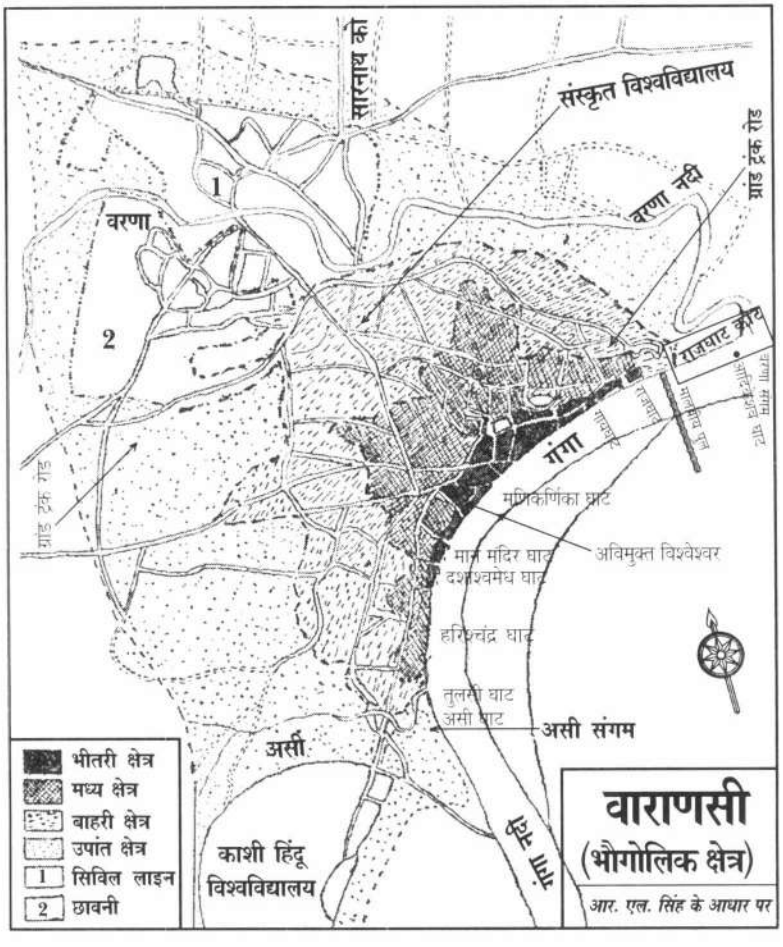

भौगोलिक स्थिति

प्राचीन काल में वाराणसी का विशेष महत्व इसकी भौगोलिक स्थिति के कारण रहा है। गंगा के बाएं (उत्तरी) तट पर अर्धचंद्राकार में आबाद यह नगर 25°18' उत्तरी अक्षांश और 83°1' पूर्वी देशांतर पर स्थित है। यहां गंगा पहले रामनगर के ऊंचे टीले से टकराकर वाराणसी की ओर मुड़ जाती है। यहां गंगा उत्तरवाहिनी हो गई है, बहुत गहरी होकर बहती है। प्राचीन वाराणसी की स्थापना एक ऊंचे कंकरीले सुरक्षित स्थान (राजघाट के मैदान) पर हुई थी। बाद के शिल्पग्रंथ भी नगर की स्थापना नदी के बाएं तट पर किए जाने का सुझाव देते हैं। नदीमार्ग ने प्राचीन वाराणसी के व्यापार-व्यवसाय की उन्नति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। ऊंचाई पर बसा होने के कारण यह नगर बाढ़ के विनाश से सुरक्षित रहा है। बाद में नगर का विस्तार गंगा के समीप दक्षिण की ओर होता गया। नगर के उत्तर में वरणा (वरना) नदी और दक्षिण में असी या अस्सी नदी (वस्तुतः नाला) है। बौद्ध ग्रंथों से जानकारी मिलती है कि प्राचीन काल में वाराणसी के पश्चिमोत्तर में—आज के सारनाथ की ओर—घने जंगल थे। इस प्रकार वाराणसी की प्राचीन बस्ती चहुंओर से सुरक्षित थी।

नामकरण

'वाराणसी' नामकरण के बारे में कई मत प्रचलित हैं। यह पौराणिक मत कि वरणा और असी नदियों के बीच में बसा होने के कारण इस नगर का नाम वाराणसी पड़ा, बाद का है। *महाभारत* में वरणा को 'वराणसी' कहा गया है,[5] इसलिए इसके तट पर आबाद बस्ती को 'वाराणसी' नाम मिला। 'वरणा' एक वृक्ष का भी नाम है। जान पड़ता है कि वरणा वृक्षों से घिरी होने के कारण नदी को 'वरणासी' या 'वराणसी' और नगर को 'वाराणसी' कहा गया था;[6] जैसे, कोशंब वृक्ष के आधार पर कौशांबी नगर। पुरातात्विक उत्खनन से भी पुष्टि होती है कि प्राचीन वाराणसी राजघाट के ऊंचे मैदान वर वरणा नदी के दोनों तरफ बसी हुई थी—गंगा तक। मध्ययुगीन 'बनारस' नाम 'वाराणसी' का ही अपभ्रंश है।

राजघाट टीले का उत्खनन 1960-61 ई.

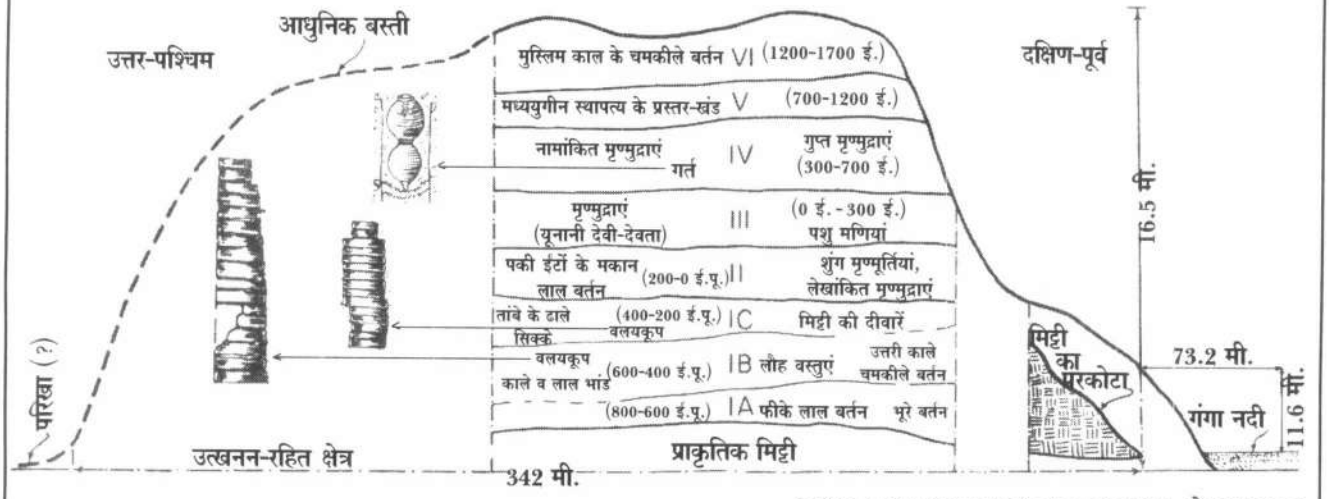

Indian Archaeology, A Review 1960-61 **के आधार पर**

वाराणसी का एक अन्य नाम काशी भी है। डा. वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि, "वह भूभाग जो अधिक जल के कारण कुश और काश के जंगलों से भरा रहता था 'काशि' कहा गया।"[7] प्राचीन साहित्य में 'काशि' नाम अधिकतर एक जनपद या जन-समूह के रूप में व्यवहृत रहा है, और 'काशी' को नगर-नाम माना गया है। ऐसा ही एक उदाहरण है, अवंति या अवंतिका। अवंति एक देश का नाम था, परंतु यह उज्जयिनी नगरी का भी नाम था।

शताब्दियों से काशी के ये पांच नाम प्रचलित रहे हैं : वाराणसी, काशी, अविमुक्त, आनंदकानन, श्मशान या महाश्मशान। पुराणों और अन्य ग्रंथों में इन नामों के बारे में सूचनाएं मिलती हैं। **काशी** शब्द 'काश्' (= चमकना) धातु से बना है। *स्कंदपुराण* के अनुसार, यह नगरी निर्वाण के मार्ग को प्रकाशित करती है। कुछ पुराणों के अनुसार, इसका नाम **अविमुक्त** इसलिए पड़ा, क्योंकि शिव ने इसे कभी नहीं त्यागा (अ-विमुक्त)। इस नाम की एक अन्य व्युत्पत्ति भी है : 'अवि' = पाप; अर्थात्, अविमुक्त = पाप से मुक्त करने वाली।[8] यह नगरी शिव को आनंद देती है, इसलिए इसे **आनंदकानन** या **आनंदवन** कहा गया। *मत्स्य* व *पद्म* पुराणों में काशी को **श्मशान** कहा गया है। 'काशीखंड' का उल्लेख है : काशी में बिना किसी प्रयत्न के केवल मरने मात्र से मोक्ष मिलना निश्चित है (मृतमात्रोऽपि मुच्येत काश्यामेकेन जन्मना)।

प्रागैतिहासिक काल

वाराणसी के आसपास के कुछ स्थानों से उत्तर कालीन प्रस्तर युग के औजार मिले हैं। इसलिए स्पष्ट है कि वाराणसी और उसके आसपास का स्थान प्रस्तर युगीन मानव का भी निवास रहा है। उत्तर भारत के अनेक स्थानों से, विशेषकर गंगा-यमुना की द्रोणी से, बहुत-सी ताम्र निधियां (copper hoards), यानी तांबे की चीजों के जख़ीरे मिले हैं। पुराविदों ने इनकी संस्कृति का समय 1800 ई.पू. से 1400 ई.पू. के बीच निर्धारित किया है। कुछ पुराविद इनका संबंध नवागत आर्यों से जोड़ते हैं, तो अन्य कुछ पुराविदों का मत है कि इनके निर्माता आर्यों के पहले की आदिम जनजातियों—कोल, शबर, भील, भर, निषाद आदि—से होना चाहिए। उत्तर प्रदेश के दक्षिणांचल में आज भी इन आदिवासियों के वंशजों को देखा जा सकता है। इस बात की पूर्ण संभावना है कि आर्यों के आगमन के पहले वाराणसी और इसके आसपास आदिवासियों का निवास रहा हो। कई विद्वानों का मत है कि महादेव (शिव) मूलतः अनार्यों के देवता थे। आर्यों के आगमन के बाद भी लंबे अरसे तक वाराणसी अनार्यों का पूजा-केंद्र रही है।

वैदिक काल

स्पष्ट जानकारी मिलती है कि आर्य लोग जब गंगा की घाटी की ओर आगे बढ़े, तो उन्हें यहां के विस्तृत जंगलों को जलाना पड़ा था। *शतपथ ब्राह्मण* की एक कथा है कि अग्निदेव मुंह में वैश्वानर अग्नि धारण करके पूर्व की ओर आगे बढ़कर सदानीरा (गंडक) नदी तक पहुंच गए थे। विदेघ माथव और उनके पुरोहित उनके पीछे-पीछे गए थे। अग्निदेव के आदेश से विदेघ माथव ने सदानीरा के पूर्व में बसकर वहां कृषि की शुरुआत की। इस प्रकार, उत्तर प्रदेश में आर्यों की बस्तियों की शुरुआत हुई थी।

वैदिक साहित्य में काशी और अन्य जनपदों से उसके संबंधों के बारे में सूचनाएं मिलती हैं। *ऋग्वेद* की सर्वानुक्रमणि में 'काशिराज' प्रतर्दन और *अथर्ववेद* की पैप्पलाद शाखा में 'काशि' लोगों का निर्देश है। *शतपथ ब्राह्मण* का उल्लेख है कि इस देश के राजा धृतराष्ट्र काश्य के अश्वमेध यज्ञ पर भरत राजा शतानीक ने हमला किया, तो उसने सारे यज्ञकर्मों का बहिष्कार करके वैदिक संस्कृति के

प्रसार पर प्रतिबंध लगा दिया। *गोपथ ब्राह्मण* में 'काशि-कोशलाः' समास आया है। उपनिषदों में काशी के अजातशत्रु राजा का उल्लेख मिलता है। *श्रौतसूत्रों* के अनुसार, काशी के लोग विदेह तथा कोशल के सहवर्ती थे और इन तीनों के पुरोहित एक ही थे।

पाणिनि के *गणपाठ* में वाराणसी को काशी जनपद की राजधानी बताया गया है और काशि देश की वस्तुओं को 'कार्शाय' तथा वाराणसी के निवासियों को 'वाराणसेय' कहा है। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में जानकारी है कि काशी के एक राजा को उसकी पत्नी ने विष देकर मार डाला था।[9] पतंजलि ने *महाभाष्य* में बताया है कि व्यापारी लोग वाराणसी को 'जित्वरी' (विजय दिलानेवाली, यानी मनोकामनाओं पूर्ण करने वाली) कहते थे। *महाभारत* में काशी के कई राजाओं (काशिराज) के उल्लेख हैं। *महाभारत* (वनपर्व) में ही पहली बार एक तीर्थ के रूप में वाराणसी का नामोल्लेख हुआ है। *रामायण* में काशी के उल्लेख अपेक्षाकृत कम हैं। उत्तरकांड में आया है कि प्रतिष्ठान के राजा पुरुरवा और पुरु 'काशिराज' के नाम से भी जाने जाते थे।

पुराणों में काशी

पुराणों के समय (ईसा की तीसरी सदी से आगे) वाराणसी (काशी) का धार्मिक महत्व तेजी से बढ़ता गया। काशी को शिवपुरी कहा गया और इसकी गणना मोक्षदायिनी सप्तपुरियों (अयोध्या, मथुरा, माया यानी कनखल-हरिद्वार, काशी, कांची, अवंतिका यानी उज्जैन और द्वारिका) में होने लगी। यह भी कहा गया कि अंतिम मोक्षप्राप्ति के लिए काशी में एक बार और जन्म लेना पड़ता है। काशी में मरने से सभी को मुक्ति मिल जाती है (काश्यां हि मरणान्मुक्तिः)।

पुराणों में काशी के कई राजाओं का उल्लेख है। *हरिवंश* में ऐल के पुत्र आयु के वंश का वर्णन है। आयु का एक वंशज था शुनहोत्र, जिसके काश, शल तथा गृत्समद नामक तीन पुत्र थे। काश से 'काशि' शाखा का उदय हुआ। काश का एक वंशज धन्वंतरि काशि का राजा हुआ। धन्वंतरि का पौत्र दिवोदास हुआ। दिवोदास के बाद वाराणसी का कई बार विध्वंस हुआ और इसे कई बार पुनः बसाया गया। अलर्क, जिसने वाराणसी को पुनः बसाया, दिवोदास का पौत्र था। *सुश्रुत-संहिता* में काशिराज दिवोदास को ही 'धन्वन्तरि' कहकर शल्य-चिकित्सा में पारंगत बताया गया है (अथ खलु भगवन्तममरवरऋषिगणपरिवृत्तमाश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिमौपधेन ''' सुश्रुतप्रभृय ऊचुः)।

जैन साहित्य में काशी

जैन ग्रंथों में वाराणसी के बारे में काफी उल्लेख मिलते हैं। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी के राजा (मुखिया) अश्वसेन और उनकी रानी वर्मला (वामा) से हुआ था। जैन पुराणानुसार पार्श्वनाथ का निर्वाण तीर्थंकर महावीर के निर्वाण (527 ई.पू.) से 250 वर्ष पहले यानी 777 ई.पू. में हुआ था। राजघाट (वाराणसी) की खुदाई में मिले पुरावशेषों से पता चलता है कि ईसा-पूर्व आठवीं सदी में वहां के ऊंचे स्थान पर बस्ती की शुरुआत हुई थी। राजघाट में उसी काल का मिट्टी का एक तटबंध भी मिला है, जो गंगा की बाढ़ से बस्ती की रक्षा के लिए बनाया गया था। जैन ग्रंथों से यह भी जानकारी मिलती है कि ईसा-पूर्व की सदियों में वाराणसी में यक्ष-पूजा का प्रचलन था। वाराणसी आज भी जैनियों का एक प्रमुख तीर्थ है।

बौद्ध साहित्य में काशी

बौद्ध ग्रंथों में वाराणसी के बारे में प्रचुर जानकारी मिलती है। बुद्ध-पूर्व काल में काशी एक स्वतंत्र और समृद्ध राष्ट्र (महाजनपद) था। काशी देश के राजाओं का कुल-नाम या उपाधि-नाम 'ब्रह्मदत्त' था, इसीलिए जातक कथाओं में अनेक ब्रह्मदत्तों का उल्लेख मिलता है। *पुराणों* और *महाभारत* में भी सौ ब्रह्मदत्तों का उल्लेख है (शतं वै ब्रह्मदत्तानाम्)। जातक कथाओं से ही पता चलता है कि काशी के राजा सब राजाओं में अग्रणी राजा (अग्गराजा) बनने के प्रयास में जुटे रहते थे।

बुद्ध-पूर्व काल में काशी और उसके उत्तर में स्थित कोशल राज्य के बीच अनेक बार संघर्ष हुआ। आरंभ में विजय काशी को मिली थी, परंतु बाद में, ईसा-पूर्व छठी सदी में, उसे कोशल में मिल जाना पड़ा। बुद्ध (563-483 ई.पू.) के समय में काशी की स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता समाप्त हो गई थी। कोशलराज प्रसेनजित के राज्यारोहण के पहले ही काशी जनपद का कोशल में विलयन हो चुका था। उसके पिता महाकोशल ने मगध-नरेश बिंबिसार के साथ अपनी पुत्री कोशलदेवी के विवाह के अवसर पर उसे कासीगाम (काशीग्राम) शृंगार-धन के रूप में दे दिया था। पालि *त्रिपिटक* में 'कासी-कोशल' का प्रयोग समास रूप में एकसाथ देखने को मिलता है। बाद में मगध-नरेश अजातशत्रु ने काशी और कोशल, दोनों को ही अपने राज्य में मिला लिया।

पालि बौद्ध ग्रंथों में काशी जनपद की राजधानी वाराणसी की गणना बुद्धकालीन भारत के छह प्रसिद्ध नगरों में की गई है। वाराणसी अपने सुंदर, बहुमूल्य वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थी। *संयुत्त निकाय* में कहा गया है : "सभी बुने हुए कपड़ों में काशी का बना हुआ कपड़ा अग्र (श्रेष्ठ) होता है।" काशी के कपड़ों को 'कासिक' या 'कासेय्यक' और वाराणसी के कपड़ों को 'वाराणसेय्यक' कहा जाता था। काशी के बने सूती वस्त्र बहुत सुंदर माने जाते थे। 'महासकुलुदायि-सुत्त' की अट्ठकथा में कहा गया है : "वहां (वाराणसी) में कपास भी कोमल सूत कातने वाली तथा जुलाहे भी चतुर, तथा जल भी सु-वि-स्निग्ध है। वहां वस्त्र दोनों ही ओर से ''' कोमल और स्निग्ध होता है।"[10] काशी में रेशमी वस्त्र भी बनते थे। बहुमूल्य वस्त्रों के अलवा काशी जनपद चंदन के लिए भी प्रसिद्ध था। जातकों में 'कासि विलेपन' और 'कासि चंदन' का उल्लेख है।

बुद्ध के समय में वाराणसी एक समृद्ध व्यापारिक नगरी थी और यह तक्षशिला से राजगृह जाने वाले तत्कालीन प्रमुख व्यापारिक मार्ग के केंद्र में स्थित थी। वाराणसी से तक्षशिला तक सीधा व्यापार होता था। वाराणसी में व्यापारियों के अपने संगठन (निगम) थे और कारीगरों व शिल्पियों की श्रेणियां थीं। व्यापार और शिक्षा के लिए

वाराणसी तथा तक्षशिला के बीच सतत आवागमन होता था। वाराणसी से एक मार्ग श्रावस्ती भी जाता था। नदीमार्ग वाराणसी को कौशांबी से जोड़ता था। वाराणसी में घोड़ों का एक बड़ा बाजार लगता था। यहां हाथियों का भी एक बड़ा मेला लगता था। वाराणसी में हाथीदांत के कारीगरों की एक वीथि थी।

बौद्ध धर्म के प्रचार की दृष्टि से वाराणसी का बहुत बड़ा महत्व है। उरुवेला (बोधगया) में ज्ञान-प्राप्ति के बाद बुद्ध ने पंचवर्गीय भिक्षुओं (कौंडिन्य आदि पांच भिक्षुओं) को अपना प्रथम उपदेश वाराणसी के समीप के इसिपतन मिगदाय (ऋषिपतन मृगदाव, सारनाथ) में ही दिया था—528 ई.पू. में। इसिपतन मिगदाय में प्रथम वर्षावास करके वाराणसी लौटने पर बुद्ध ने वहां के श्रेष्ठिपुत्र यश और उनके विमल, सुबाहु, पूर्णजित्, गवांपति आदि 54 मित्रों को प्रव्रजित किया था।[11] इस प्रकार, पंचवर्गीय भिक्षुओं सहित बुद्ध के साठ साथियों का पहला संघ वाराणसी में ही बना था। सारनाथ-वाराणसी में ही बौद्ध धर्म और संघ की स्थापना हुई। आगे के बौद्ध धर्म-प्रचार के कार्य की रूपरेखा वाराणसी में ही बनी थी।

पालि विवरणों में इसिपतन मिगदाय (ऋषिपतन मृगदाव, दाव=उद्यान) यानी सारनाथ (सारंगनाथ = मृगराज) को वाराणसी का ही अंग माना गया है। इसलिए बुद्ध को जब इसिपतन मिगदाय में विहार करते दिखाया गया है, तो प्रायः इस प्रकार कहा गया है : "एकं समय भगवा वाराणसियं विहरति इसिपतने मिगदाये," अर्थात् 'एक समय भगवान् वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव में विहार करते थे।' वास्तव में बुद्ध यहां कई बार आए थे।

बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश इसिपतन मिगदाय में दिया था, इसलिए चार बौद्ध तीर्थों में इसकी गणना की जाती है। अन्य तीन बौद्ध तीर्थ हैं : बुद्ध का जन्म-स्थान लुंबिनी (नेपाल), बुद्धत्व-प्राप्ति का स्थान बोधगया और निर्वाण-स्थान कुशीनारा (कुशीनगर)। बौद्ध धर्म में इन्हें चार संवेजनीय (वैराग्यप्रद) स्थान माना जाता है।

मौर्य काल

बुद्ध-निर्वाण (483 ई.पू.) के लगभग सवा दो सौ साल बाद सम्राट अशोक (272-232 ई.पू.) हुए। कलिंग युद्ध के बाद अशोक का ध्यान बुद्ध के उपदेशों की ओर गया और उसने बुद्ध से संबंधित अनेक स्थलों की यात्रा की और वहां स्मारक बनवाए। इसिपतन मिगदाय (ऋषिपतन मृगदाव) यानी सारनाथ में बनवाए सम्राट अशोक के स्मारक हैं—धर्मराजिका स्तूप, अशोक-स्तंभ और धमेख स्तूप।

सारनाथ का अशोक-निर्मित धर्मराजिका स्तूप नष्ट हो गया है; अब उसकी केवल बुनियाद ही बाकी बची है। सन् 1794 में काशिराज चेतसिंह के दीवान बाबू जगतसिंह ने धर्मराजिका स्तूप को उखाड़ डाला और उसके माल-मसाले से बनारस में जगतगंज नामक मोहल्ला बसाया। उस समय स्तूप के भीतर से पत्थर की गोल पेटी में रखी हुई हरे पत्थर की एक मंजूषा मिली थी जिसमें बुद्ध की धातुएं थीं। धातुओं को गंगा में प्रवाहित कर दिया गया।[12]

धर्मराजिका स्तूप उस स्थान के पास बना था जहां भगवान बुद्ध व्यायाम के लिए कुछ देर टहलते थे। पालि साहित्य में इस स्थान को 'चंकम' (संस्कृत में 'चंक्रम') कहा गया है।

पुरातात्विक अन्वेषण से पता चला है कि धर्मराजिका स्तूप का छह बार विस्तार हुआ था। अशोक-निर्मित मूल स्तूप का व्यास 13.49 मीटर था और उसकी ईंटें मौर्यकाल की थीं। आगे कुषाण, हर्ष और पाल शासनकाल में भी इस स्तूप का विस्तार हुआ। राजा महीपाल के समय के 1026 ई. के एक लेख से पता चलता है कि गौड़ देश के स्थिरपाल और वसंतपाल नामक दो बंधुओं ने धर्मराजिका स्तूप का जीर्णोद्धार कराया था।

बोधिसत्व की पाषाण-मूर्ति, कुषाण-काल (सारनाथ संग्रहालय)

स्तूप की अंतिम मरम्मत बारहवीं सदी में तब हुई, जब कन्नौज-काशी के गाहडवाल (गहडवाल)[13] शासक गोविंदचंद्र (1114-1154 ई.) की रानी कुमारदेवी ने सारनाथ में 'धर्मचक्र-जिन-विहार' बनवाया।

धर्मराजिका स्तूप के समीप से दो महत्वपूर्ण प्रस्तर-मूर्तियां मिली हैं। एक है—लाल पत्थर से निर्मित बोधिसत्व की विशाल मूर्ति, जिसकी स्थापना मथुरा के त्रिपिटकाचार्य भिक्षु बल ने की थी। मूर्ति के ऊपर एक विशाल पाषाण-छत्र लगा हुआ था, जो एक पाषाण-यष्टि पर टिका हुआ था। यष्टि पर उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि मूर्ति की स्थापना कनिष्क के राज्यकाल के तीसरे वर्ष (78 + 3 = 81 ई. में) की गई थी। इन लेखों में क्षत्रप वनस्पर और महाक्षत्रप खरपल्लान की सहायता का उल्लेख है। ये क्षत्रप उस समय सारनाथ-वाराणसी में कनिष्क के प्रतिनिधि-शासक रहे होंगे।

धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में बुद्ध, गुप्तकाल (सारनाथ संग्रहालय)

दूसरी मूर्ति धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में भगवान बुद्ध की है। यह बुद्ध-मूर्ति सारनाथ से प्राप्त गुप्तकाल की एक सर्वश्रेष्ठ कलाकृति है।

सारनाथ में एक भग्न अशोक-स्तंभ भी मिला है। अपने मूल रूप में यह लगभग 17.75 मीटर ऊंचा था। अब इसका केवल 2.03 मीटर ऊंचा निचला हिस्सा ही अपने स्थान पर खड़ा है; बाकी खंड पास ही

अशोक-स्तंभ का सिंह-शीर्ष (सारनाथ संग्रहालय)

पड़े हुए हैं। अशोक-स्तंभ के सिरे पर एक ही पत्थर को काटकर बनाया गया 2.31 मीटर ऊंचा जो सिंहशीर्ष था, वह अब सारनाथ के संग्रहालय में प्रदर्शित है। स्तंभ पर तीन लेख हैं। पहला लेख, जो अशोक के 22वें-23वें राज्यवर्ष (247-246 ई.पू.) का है, ब्राह्मी लिपि और प्राकृत भाषा में है। इसमें अशोक की राजाज्ञा है कि जो भिक्षु या भिक्षुणी संघ में फूट डालेंगे और संघ की निंदा करेंगे उन्हें श्वेत वस्त्र पहनाकर बाहर कर दिया जाएगा। अशोक-स्तंभ पर उत्कीर्ण दूसरा लेख कुषाणकाल का और तीसरा लेख गुप्तकाल का है।

सारनाथ का धमेख (धर्मचक्र) स्तूप उस स्थान पर बना है जहां बुद्ध ने धर्मचक्रप्रवर्तन किया था। इस ठोस गोलाकार स्तूप का व्यास 28.35 मीटर और ऊंचाई 39.01 मीटर है। 11.20 मीटर की ऊंचाई तक स्तूप का घेरा अलंकृत शिलापट्टों से आच्छादित है। यह सुंदर अलंकरण गुप्तकाल का है। लेकिन स्तूप के गर्भ की पड़ताल करने पर पता चला है कि मूल स्तूप मौर्यकाल की प्राचीन ईंटों से निर्मित है।

शुंग काल

मौर्य शासन का अंत लगभग 185 ई.पू. में हुआ जब मौर्य वंश के अंतिम शासक बृहद्रथ को उसने सेनापति पुष्यमित्र ने मार डाला और शुंग वंश की नींव रखी। इसका प्रभुत्व लगभग 100 ई.पू. तक कायम रहा। सारनाथ से शुंगकाल का कोई अभिलेख नहीं मिला है। परंतु शुंग काल में यहां के स्तूप के चारों ओर पत्थर की जो सुंदर वेदिका या चारदीवारी बनाई गई थी उसके स्तंभ सारनाथ के संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।

राजघाट के उत्खनन में मौर्य व शुंग काल की महत्वपूर्ण पुरावस्तुएं प्राप्त हुई हैं। इस काल के प्रारंभ में नगरीकरण और तटबंट के स्पष्ट सबूत मिलते हैं। फर्श के उत्खनित अंश और पकी ईंटों का प्रयोग भवनों के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। यहां से इस काल के वलयाकार कूप और तांबे के ढाले हुए कुछ सिक्के भी मिले हैं।

राजघाट से शुंगकाल के रोमन शैली के मनके और यूनानी देवी-देवताओं(अथेना,अपोलो) की आकृतियों वाली मृण्मुद्राएं (मोहरें) मिली हैं। प्रश्न है : ये मोहरें राजघाट (प्राचीन वाराणसी) में कैसी पहुंचीं? *युगपुराण* (*गार्गी संहिता*) से जानकारी मिलती है कि यवनों (हिंद-यवनों) ने मथुरा व साकेत को रौंदने के बाद कुसुमध्वज (पुष्पपुर, पाटलिपुत्र) पर हमला करके हाहाकार मचा दिया था।[14] लेकिन यवन-सेना को जल्दी ही वापस लौटना पड़ा था।

मिनांदर या मिलिंद का सिक्का (155-130 ई.पू.)

मध्यमिका (चित्तौड़ के पास) और साकेत (अयोध्या) पर यवनों के हमलों का जिक्र पतंजलि के *महाभाष्य* में भी आया है (अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्, अरुणद् यवनः साकेतम्)। डा. मोतीचंद्र का मत है कि हिंद-यवन शासक दिमित्रियोस-द्वितीय (190-171 ई.पू.) या मिनेंद्र (मिनांदर या मिलिंद : 155-130 ई.पू.) की सेना का यह हमला ईसा-पूर्व दूसरी सदी के लगभग मध्यकाल में हुआ था। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पाटलिपुत्र पर चढ़ाई के बीच यवन-सेना ने वाराणसी में पड़ाव डालकर यहां से गंगा पार की थी। राजघाट की खुदाई में मिली मृण्मुद्राएं यहां यवन-सेना के पड़ाव की साक्षी हैं। डा. वासुदेवशरण अग्रवाल भी इस विचार से सहमत हैं।[15]

राजघाट से प्राप्त शुंग काल के मिट्टी के एक चौकोर फलक पर उत्कीर्ण प्राचीन भारतीय मेले का दृश्य। (भारत कला भवन)

कुषाण काल

स्पष्ट पता चलता है कि ईसा की प्रथम सदी के उत्तरार्ध में वाराणसी पर कुषाणों का अधिकार स्थापित हो गया था। लेकिन उनके पहले, ईसा की प्रथम सदी के पूर्वार्ध में, वाराणसी पर कौशांबी का आधिपत्य रहा। कुषाणों के बाद, ईसा की दूसरी(उत्तरार्ध)-तीसरी सदियों में वाराणसी पर पुनः कौशांबी के मघ राजाओं अधिकार हो गया था। राजघाट के उत्खनन में मघ राजाओं की मुद्राएं मिली हैं। जो भी हो, राजघाट से प्राप्त पुरावशेषों के अध्ययन से पता चलता है कि काशी के इतिहास में ईसा की आरंभिक तीन सदियों का काल काफी समृद्धि का था। इसका मुख्य कारण था—फलता-फूलता व्यापार-व्यवसाय। इस काल में वाराणसी में बौद्ध धर्म का काफी जोर था। आगे कंधों पर लिंग धारण करने वाले भारशिवों का उदय हुआ, तो वाराणसी में शैव धर्म का भी प्रभाव बढ़ता गया। कुछ विद्वानों का मत है कि भारशिवों ने दस अश्वमेध यज्ञ करके वाराणसी में जिस घाट पर गंगा में स्नान किया वही बाद में दशाश्वमेध घाट कहलाया।

गुप्त काल

लगता है कि समुद्रगुप्त (लगभग 330-370 ई.) के विजय-अभियान (प्रयाग प्रशस्ति) के पहले ही गंगा की घाटी में गुप्तों का राज्य स्थापित हो चुका था। *वायुपुराण* के एक श्लोक से भी इसकी पुष्टि होती है।[16] चंद्रगुप्त-द्वितीय (लगभग 380-412 ई.) परमभागवत (वैष्णव) था, पर उसके समय में वाराणसी में बौद्ध और शैव धर्म उन्नति कर रहे थे। उसी के शासनकाल में चीनी पर्यटक फाहियान भारत-यात्रा (401-410 ई.) पर आया था। वह पाटलिपुत्र से गंगा के किनारे-किनारे चलकर वाराणसी पहुंचा था। वह ऋषिपतन मिगदाय

मयूरासीन कार्तिकेय, 5वीं सदी ई., राजघाट (भारत कला भवन)

(सारनाथ) भी गया था और वहां उसने स्तूप और विहार देखे थे। फाहियान ने अपने विवरण में चंद्रगुप्त का उल्लेख नहीं किया है, न ही वह उससे मिला था, परंतु उसने गंगा के घाटी के मैदान (जिसे उसने 'मध्यदेश' कहा है) की खुशहाली का उल्लेख किया है।

चंद्रगुप्त-द्वितीय का पुत्र कुमारगुप्त (413-455 ई.) कार्तिकेय का भक्त था। उसकी कुछ मुद्राओं पर लक्षण-स्वरूप मयूर अंकित है। वाराणसी के गायघाट से ईसा की पांचवीं सदी की कार्तिकेय की एक बहुत ही सुंदर मूर्ति मिली है, जो अब भारत कला भवन (वाराणसी) में सुरक्षित है।

गुप्तकाल में सारनाथ का खूब विकास हुआ। यह स्थान कला का एक उत्कृष्ट केंद्र बन गया। यहां से ईसा की पांचवीं सदी की धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में भगवान बुद्ध की अतिसुंदर मूर्ति मिली है। बुधगुप्त के समय (476 ई.) की भी एक बुद्ध-मूर्ति सारनाथ से मिली है। बुधगुप्त बौद्ध अनुयायी था और उसका राज्य बंगाल से मध्यप्रदेश तक फैला हुआ था। अभिलेखों और सिक्कों से पता चलता है कि काशी पर गुप्तों का राज्य लगभग 550 ई. तक कायम रहा।

राजघाट से शासन व व्यापार से संबंधित गुप्तकाल की बहुत सारी नाम-मृण्मुद्राएं मिली हैं। इनमें से कई मुद्राओं पर 'वाराणस्याधिष्ठानाधिकरण' (यानी नगर का मुख्य कार्यालय) लेख अंकित है। यहां से 'निगम' (व्यापार-व्यवसाय करनेवालों का समूह) नामवाली मुद्राएं भी मिली हैं। गुप्त शासन में उत्तर भारत के लोगों को पूरी धार्मिक स्वतंत्रता थी। गुप्त शासक परमभागवत थे, परंतु वे बौद्ध व जैन धर्म का भी सम्मान करते थे। उनके समय में वाराणसी में शैव धर्म का उत्कर्ष हुआ और यहां बड़ी तादाद में शिवलिंगों की स्थापना हुई। गुप्तकाल में ही वाराणसी का नाम अविमुक्त क्षेत्र पड़ा। राजघाट से गुप्तकाल की 'श्रीअविमुक्तेश्वर' नामवाली मृण्मुद्रा भी मिली है। जैसा कि पीछे बताया गया है, कालांतर में अविमुक्तेश्वर ही विश्वेश्वर कहलाए। राजघाट से प्राप्त मुद्राओं से पता चलता है कि गुप्तकाल

राजघाट से प्राप्त 'श्रीअविमुक्तेश्वर' लेख वाली मृण्मुद्रा (चौथी-पांचवीं सदी ई.)

में वाराणसी में कई पाठशालाएं थीं, जिनमें से कुछ में वेद पढ़ाने की विशेष व्यवस्था थी।

गुप्त साम्राज्य के अवसान (लगभग 550 ई.) के बाद गुप्तों का राज्य मगध तक सीमित रह गया (मागध-गुप्त) और वाराणसी का राज्य मौखरियों के अधिकार में चला गया। पर दोनों में संघर्ष जारी रहा। अंत में, सातवीं सदी के आरंभ में, मौखरियों के कन्नौज से लेकर वाराणसी तक के राज्य पर थानेश्वर के हर्षवर्धन (606-648 ई.) का अधिकार हो गया।

हर्ष काल

युवान् च्वाङ

हर्ष के शासनकाल में चीनी बौद्ध पर्यटक युवान् च्वाङ (600?-664 ई.) भारत-यात्रा पर आया था (729 ई.) और उसने यहां 17 साल गुजारे। उसने वाराणसी और सारनाथ की भी यात्रा की। उसका यात्रा-वर्णन वाराणसी-सारनाथ की धार्मिक व सामाजिक स्थिति पर प्रचुर प्रकाश डालता है। वह लिखता है : "वाराणसी राज्य की परिधि चार हजार ली (1 ली = आधा किलोमीटर) से अधिक थी। राजधानी गंगा के पश्चिमी तट पर स्थित थी। इसकी लंबाई अट्ठारह-उन्नीस ली और चौड़ाई पांच-छह ली थी। मुहल्लों में भवन एक-दूसरे से सटे हुए थे। निवासी सम्पन्न थे। उनके घरों में बहुमूल्य वस्तुओं के भंडार थे। वे सुशील और शिष्ट थे एवं कलाएं सीखने में उत्साही थे। अधिकांश लोग विधर्मी (बौद्धेतर) थे, केवल अल्पसंख्यक लोग ही बौद्ध धर्म मानते थे। जलवायु समशीतोष्ण थी। फसलों की भरपूर पैदावार होती थी। नाना प्रकार के फलों के वृक्ष उपलब्ध थे और चारों ओर वृक्ष ही वृक्ष दिखाई पड़ते थे। यहां तीसेक संघाराम (विहार) थे और भिक्षुओं की संख्या तीन हजार से अधिक थी। वे सभी सम्मतीय थे। देव-मंदिरों की संख्या सौ से अधिक थी और उनके अनुयायियों की संख्या दस हजार। उनमें से अधिकतर शिव-भक्त थे। किसी का सिर मुंड़ा हुआ था, तो कोई जटा रखता था। वे निर्वस्त्र रहते थे और शरीर पर राख पुती रहती थी। वे तपस्या में लीन रहते थे, ताकि मोक्ष प्राप्त किया जा सके। राजधानी के उत्तर-पूर्व में वरणा नदी के पश्चिम की ओर सौ छि (1 छि = एक-तिहाई मीटर) ऊंचा एक अशोक-स्तूप था। स्तूप के समक्ष एक शीशे की भांति चमकदार और चिकना प्रस्तर-स्तंभ था जिसमें तथागत की आकृति दृष्टिगोचर होती रहती थी।

"वरणा नदी से दसेक ली दूर उत्तर-पूर्व में मृगदाव (आधुनिक सारनाथ) था, जो आठ भागों में विभाजित था और जिसके चारों ओर प्राचीर निर्मित था। ... यहां डेढ़ हजार भिक्षु थे। ये सभी सम्मितीय शाखा[17] के थे। प्राचीर के अंदर दो सौ छि ऊंचा एक चैत्य था। ... चैत्य के भीतर एक आदमकद ताम्र बुद्ध-प्रतिमा सुशोभित थी। वह

धर्मचक्रप्रवर्तन की मुद्रा में थी। चैत्य के दक्षिण-पश्चिम में एक प्रस्तर-स्तूप था जो अशोक ने बनवाया था। उसकी नींव तो ढह चुकी थी, फिर भी उसकी ऊंचाई सौ छि थी। स्तूप के सामने एक सत्तर छि ऊंचा प्रस्तर-स्तंभ था, जो श्वेत वज्रमणि की भांति चिकना एवं चमकीला था। ... यहीं पर बुद्ध ने संबोधि-प्राप्ति के अनंतर प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन किया था।"[18] युवान् च्वाङ ने सारनाथ के बारे में और भी कई बातों की जानकारी दी है।

हर्षवर्धन के बाद मागध-गुप्तों और कन्नौज के शासकों के बीच संघर्ष जारी रहा। आठवीं सदी के दूसरे चरण में कश्मीर के पराक्रती राजा ललितादित्य मुक्तापीड (724-760 ई.) ने कन्नौज के राजा यशोवर्मन को हराकर वाराणसी पर अधिकर कर लिया था। फिर गंगा के दोआब पर बंगाल के पाल राजा धर्मपाल (752-794 ई.) का कब्जा हो गया। आगे मध्यदेश के लिए पालों, राष्ट्रकूटों और प्रतिहारों के बीच संघर्ष जारी रहा। फिर 11वीं सदी के प्रथम चरण में काशी पर त्रिपुरी के कलचुरि राजा गांगेयदेव (लगभग 1015-1040 ई.) का अधिकार हो गया। इसी गांगेयदेव के शासनकाल में, 1033 ई. में, अहमद नियाल तिगिन की अफगान फौज ने लाहौर से चलकर और गंगा के बाएं किनारे के साथ आगे बढ़ते हुए एकाएक वाराणसी पर हमला बोल दिया और उसे खूब लूटा। यह किसी मुस्लिम सेना का वाराणसी पर पहला हमला था।

गांगेयदेव के बाद उसका पुत्र कर्णदेव (लगभग 1040-1070 ई.) गद्दी पर बैठा। पता चलता है कि कर्ण ने काशी में कर्णमेरु नामक शिव-मंदिर बनवाया था। कर्ण का पुत्र यशःकर्ण एक कमजोर शासक साबित हुआ। पहले की तरह कलचुरियों के समय में भी शैव धर्म काशी का प्रधान धर्म बना रहा। मगर सारनाथ में अब वज्रयानियों और महायानियों का प्रभाव बढ़ गया था।

गाहडवाल[19] युग

बाहरी हमलों के कारण मध्यदेश में जब अराजकता और अस्थिरता की स्थिति पैदा हो गई, तब ग्यारहवीं सदी के अंतिम दशक में गाहडवाल वंश का उदय हुआ। इस राजवंश का संस्थापक चंद्रदेव था। कलचुरि यशःकर्ण (लगभग 1070-1125 ई.) को हराकर उसने अपने राज्य को बढ़ाया था। चंद्रदेव के बाद मदनपाल और मदनपाल के बाद गोविंदचंद्र (लगभग 1110-1154 ई.) गाहडवाल शासक बने। गोविंदचंद्र ने उत्तर प्रदेश और बिहार में अपना राज्य फैलाकर राजधानी कन्नौज से एक विशाल क्षेत्र पर शासन किया। डा. मोतीचंद्र का मत है कि राजनीतिक

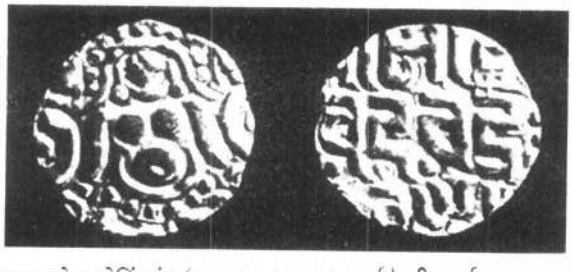

गाहडवाल-नरेश गोविंदचंद्र (लगभग 1110-1154 ई.) की स्वर्णमुद्रा मुखपृष्ठ : लक्ष्मी, पृष्ठभाग : 'श्रीमद् गोविन्दचन्द्रदेव' लेख

महत्ता के कारण कन्नौज भले ही गाहडवालों की एक राजधानी मान ली गई हो, परंतु उनकी असल राजधानी काशी ही थी। सबूत : "एक तो गाहडवालों के अधिकतर ताम्रपत्र काशी से मिले हैं; दूसरे, मुस्लिम इतिहासकार भी गाहडवालों को बनारस का राजा कहते हैं।"[20]

गोविंदचंद्र एक योग्य शासक था। वह तलवार का ही नहीं, ज्ञान में भी पराक्रमी था (एष ज्ञानपराक्रमैकवसतिः)। उसने कई लड़ाइयां लड़ीं। उसने उत्तर प्रदेश में बसे हुए मुसलमानों पर 'जजिया' की तरह का 'तुरुष्कदंड' लगाया। निस्संदेह, गोविंदचंद्र 12वीं सदी में उत्तर भारत का सबसे पराक्रमी राजा था।

गाहडवाल नरेश गोविंदचंद्र के संधिविग्रहिक (युद्ध व संधि के मंत्री) लक्ष्मीधर भट्ट राजनीति और धर्मशास्त्र के बहुत बड़े पंडित थे। उन्होंने राजधर्म व धर्मशास्त्र का *कृत्यकल्पतरु* नामक एक बहुत बड़ा ग्रंथ लिखा है, परंतु इसकी पूरी पांडुलिपि अभी उपलब्ध नहीं हुई है।

गोविंदचंद्र के बाद उसका पुत्र विजयचंद्र गद्दी पर बैठा। दिल्ली पर अधिकार को लेकर चाहमान राजा विग्रहराज से उसकी लड़ाई हुई थी। विजयचंद्र के बाद उसका पुत्र जयचंद काशी-कन्नौज का राजा हुआ। कथानक प्रसिद्ध है कि पृथ्वीराज चौहान द्वारा संयोगिता के हरण के कारण जयचंद ने पृथ्वीराज के विरुद्ध शहाबुद्दीन गोरी को सहायता पहुंचाई। परिणामस्वरूप, पृथ्वीराज और जयचंद, दोनों का ही शहाबुद्दीन के हाथों अंत हो गया। शहाबुद्दीन गोरी ने पृथ्वीराज के साथ हुई अपनी दूसरी लड़ाई में उसे हराकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया (1193ई.)। फिर 1194 ई. में शहाबुद्दीन और कुतुबुद्दीन की संयुक्त सेना ने काशी पर हमला करके जयचंद को मार डाला। इस लड़ाई के बाद गोरी की सेना ने जयचंद का खजाना हासिल किया और मुस्लिम सेना ने वाराणसी में खूब लूट मचाई। पता चलता है कि कुतुबुद्दीन को 1197 ई. में पुनः बनारस पर हमला करना पड़ा था—उसे पूरी तरह जीतने के लिए। इस तरह, बारहवीं सदी के अवसान-काल में काशी के राज्य का अंत हो गया। साथ ही, काशी के प्राचीन इतिहास का अंत होकर एक नए अध्याय की शुरुआत हुई।

गाहडवालों के शासनकाल में वाराणसी व्यापार का एक बड़ा केंद्र था। मुस्लिम इतिहासकार जानकारी देते हैं कि वाराणसी के बजाजा और जौहरी तथा सुगंधित द्रव्यों के बाजार बड़े सम्पन्न थे। गाहडवालों के समय में देश के कई दूसरे प्रदेशों के पंडित वाराणसी में आकर बसने लग गए थे। अल-बरूनी (973-1048 ई.) ने भी इस बात की पुष्टि की है।[21] गाहडवाल शासन के पहले से ही मोक्षप्राप्ति के लिए दूसरे प्रदेशों के साधु-संन्यासी काशी आकर यहां बसने लग गए थे। अल-बरूनी ने भी लिखा है: "हिंदुओं के कुछ स्थान ऐसे हैं जो उनसे सम्बद्ध नियमों और धर्म के कारण पूज्य बन जाते हैं, जैसे बनारस (वाराणसी)। साधु-संन्यासी वहां आते हैं और वहीं रह पड़ते हैं, ठीक उसी तरह जैसे काबे के रहने वाले हमेशा के लिए मक्का में रह जाते हैं। वे मृत्युपर्यंत वहीं रहना चाहते हैं, ताकि मरने के बाद उन्हें वहां रहने का पुण्य प्राप्त हो। उनकी यह धारणा है कि हत्यारा अपने अपराध के लिए उत्तरदायी होता है और उसे अपने अपराध के अनुरूप

दंड दिया जाता है। वह तभी बच सकता है जब वह **बनारस** शहर में चला जाए जहां उसे क्षमा मिल जाती है।"[22] मोतीचंद्रजी की टिप्पणी है : "जान पड़ता है, इसी धर्मांधता से बारहवीं सदी में बनारस ठगी का घर बन गया था। हेमचंद्र ने अपने 'कुमारपाल चरित' (3-59) में ठग पर टीका करते हुए उस युग की कहावत यथा **'वाराणसी ठकानां स्थानं'** अर्थात् बनारस ठगों का घर है, उल्लेख किया है। बनारस का इस कहावत से अब भी पिंड नहीं छुटा है।"[23] लेकिन पता चलता है कि उसी युग में काशी विद्या का एक प्रमुख केंद्र भी बन गया था। गोविंदचंद्र के सभा-पंडित दामोदर के **उक्तिव्यक्ति प्रकरण** के अनुसार गाहडवाल युग में बनारस की शिक्षा का उद्देश्य था : 'वेद पढ़व, स्मृति अभ्यसवि, पुराण देखव, धर्म करव'।

गाहडवाल नरेश गोविंदचंद्र की रानी कुमारदेवी बौद्ध धर्म की भक्त थीं। उसने सारनाथ में एक विहार बनवाया था, जिसके अवशेष खुदाई में मिले हैं। उसके बाद सारनाथ के वैभव का अंत हो गया।

गाहडवाल युग में वाराणसी में अनेक तीर्थों की स्थापना हुई। यह नगरी देश का एक प्रमुख तीर्थक्षेत्र बन गई। प्राचीन काल में वाराणसी के प्रमुख देवता अविमुक्तेश्वर थे; अब उनका नाम बदलकर विश्वेश्वर हो गया था। लगता है कि वाराणसी का विश्वेश्वर मंदिर गाहडवालों के पहले ही बन चुका था।

इस तरह, वाराणसी के वर्तमान स्वरूप व संस्कृति की नींव काफी हद तक गाहडवाल युग (बारहवीं सदी ई.) में ही पड़ चुकी थी।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. देखिए गॉर्डन चाइल्ड की पुस्तकें **Man Makes Himself** (Chapter VII) और **What Happened in History** (Chapter V).
2. डा. मोतीचंद्र, **काशी का इतिहास**, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1985, पृ. 1.
3. पहली बार बौद्ध ग्रंथ **अंगुत्तर निकाय** में इन सोलह महाजनपदों की सूची देखने को मिलती है : 1. **अंग** (मगध के पूर्व में, राजधानी चंपा), 2. मगध (राजधानी राजगृह), 3. **कासी** अथवा काशी (राजधानी वाराणसी), 4. **कोसल** (राजधानी श्रावस्ती), 5. **वज्जी** (राजधानी वैशाली), 6. **मल्ल** : वज्जियों के पश्चिम में और कोसल के पूर्व में (राजधानी पावा व कुशीनारा), 7. **चेती** (राजधानी सोत्थिवती), 8. **वंस** या वत्स (राजधानी कोसंबी या कौशांबी), 9. **कुरु** (राजधानी इंद्रप्रस्थ), 10. **पंचाल** या पांचाल (राजधानी कंपिल्ल या कांपिल्य), 11. **मच्छ** या मत्स्य (राजधानी ?), 12. **सूरसेन** या शूरसेन (राजधानी मथुरा), 13. **अस्सक** या अश्मक (गोदावरी तटक्षेत्र), 14. **अवंती** (राजधानी उज्जैन), 15. **गंधार** या गांधार (राजधानी तक्कसिला > तक्षशिला), 16. कंबोज (गंधार देश के पश्चिमोत्तर में, राजधानी ?)।
4. राजघाट का टीला वर्तमान काशी रेलवे स्टेशन के पूर्वोत्तर में गंगा और वरणा के बीच स्थित है। सन् 1939 में रेलवे स्टेशन के विस्तार के लिए ठेकेदार खुदाई करवा रहे थे, तो टीले में से बहुत-सी प्राचीन वस्तुएं मिलीं। इन पुरावस्तुओं से आकृष्ट होकर सन् 1940 में श्री कृष्णदेव के नेतृत्व में भारतीय पुरातत्व विभाग के एक दल ने यहां उत्खनन किया तो शुंग काल से लेकर गाहडवाल काल तक की पुरावस्तुएं (मृण्मुद्राएं, मृण्मूर्तियां, मनके, सिक्के, चकिया आदि) मिलीं। ये पुरावस्तुएं अब भारत कला भवन (काशी हिंदू विश्वविद्यालय) और लखनऊ तथा इलाहाबाद के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।
   राजघाट के टीले का पहली बार वैज्ञानिक उत्खनन काशी हिंदू विश्वविद्यालय के डा. अवधकिशोर नारायण के नेतृत्व में 1956-57 ई. में प्रारंभ हुआ और यह आगे 1960-61 ई. और 1977-78 ई. में भी जारी रहा। परिणामस्वरूप यहां से लगभग 750 ई.पू. से लेकर 1700 ई. तक के पुरावशेष मिले हैं, जिन्हें छह कालखंडों में बांटा गया है। यहां से प्राचीनतम बस्ती के समय का मिट्टी से निर्मित एक परकोटा भी मिला है, जो गंगा की बाढ़ से बस्ती की रक्षा के लिए बना था।
5. *महाभारत*, भीष्मपर्व, नवम अध्याय, 31 (गीताप्रेस प्रकाशन)।
6. डा. मोतीचंद्र के *काशी का इतिहास* में डा. वासुदेवशरण अग्रवाल की 'भूमिका', पृ. 14.
7. वही, पृ. 14.
8. राजघाट की खुदाई में गुप्तकाल की ब्राह्मी लिपि (चौथी-पांचवीं सदी ई.) में अंकित **अविमुक्त, अविमुक्तेश्वर,** और **अविमुक्तस्वामि** नाम वाली मृण्मुद्राएं मिली हैं। अविमुक्तेश्वर का ही दूसरा नाम विश्वेश्वर है।
9. लाजान्मधुनेति विषेण पर्यस्य देवी काशिराजमू।—*अथर्वशास्त्र*, 1.20.16.
10. राहुल सांकृत्यायन, *बुद्धचर्या*, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1952, पृ. 253.
11. देखिए राहुल सांकृत्यायन, *विनय पिटक* (हिंदी अनुवाद), पृ. 86.
12. बनारस के तत्कालीन अंग्रेज रेजिडेंट जोनाथन डंकन ने 1798 ई. में इन पुरावशेषों का वर्णन लिखा, तो लोगों का ध्यान सारनाथ के ध्वंशावशेषों की ओर गया। उसके बाद कर्नल मैकेंजी ने सारनाथ में खुदाई की। फिर 1836 ई. में जनरल कनिंघम ने सारनाथ में खुदाई की। उन्होंने धमेख स्तूप की जांच-पड़ताल की और धर्मराजिका स्तूप के पास एक विहार खोज निकाला। यहां से प्राप्त बहुत-सी मूर्तियां कनिंघम ने कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी को भेज दीं, जो अब कलकत्ता संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। कनिंघम द्वारा पीछे छोड़ी हुई चालीस मूर्तियां और अन्य अनेक पुरावशेष तथा पत्थर की चीजें 50-60 गाड़ियों में भरकर वरणा (वरना) नदी पर बने पुल के खंबों की नींव में डाल दी गईं!
13. इस राजवंश को कोई 'गाहडवाल' लिखता है, तो कोई 'गहडवाल' या 'गहडवार'। आधुनिक 'गहरवार' क्षत्रिय इन्हीं के वंशज माने जाते हैं।
14. ततः साकेतमाक्रम्य पंचाला माथुरास्तथा।
    यवना युद्धविक्रांताः प्राप्स्यंति कुसुमध्वजं ॥
    ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते।
    आकुला विषयाः सर्वे भविष्यंति न संशयः।—*युगपुराण*, 47-48.
15. डा. मोतीचंद्र, *काशी का इतिहास*, पृ. 54-57.
16. अनुगंगाप्रयागं च साकेतं मगधंस्तथा।
    एतान्भक्षयपटान सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः ॥—*वायुपुराण*
17. थेरवादी या स्थविरवादी शाखा के अंतर्गत बौद्ध संघ की एक उपशाखा।
18. श्वेन त्साङ ओर प्येन ची : *महा थाङ राजवंश काल में पश्चिम की तीर्थ-यात्रा का वृत्तांत*, पेइचिङ, 1991, पृ. 177-178.
19. देखिए उपर्युक्त टिप्पणी नं. 13.
20. डा. मोतीचंद्र, *काशी का इतिहास*, पृ. 114.
21. देखिए इसी अंक में मेरा अन्य लेख : *काशी की ज्योतिष साधना*।
22. अल-बरूनी : *भारत* (सखाउ के अंग्रेजी अनुवाद का संक्षिप्त हिंदी अनुवाद), नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2003, पृ. 224.
23. डा. मोतीचंद्र, *काशी का इतिहास*, पृ. 130.

◆◆◆

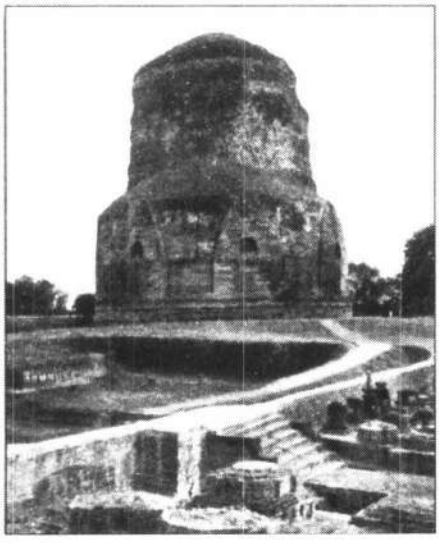

धमेख स्तूप, सारनाथ

काशी के इतिहास का कालक्रम

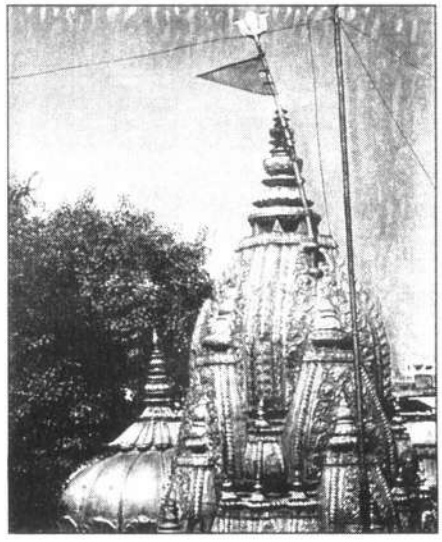

विश्वनाथ मंदिर, काशी

प्राचीन काल (लगभग 1000 ई.पू.-1000 ई.)

800 ई.पू. लगभग	राजघाट (वाराणसी) में प्राचीनतम बस्ती और मिट्टी के तटबंध के पुरावशेष।
8वीं सदी ई.पू.	तेईसवें जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का काशी में जन्म।
सातवीं सदी ई.पू.	काशी—एक स्वतंत्र महाजनपद।
छठी-दूसरी सदी ई.पू.	पहले कोसल में और बाद में मगध में काशी का समावेश।
528 ई.पू.	काशी के समीप ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ) में बुद्ध का प्रथम धर्मोपदेश।
340 ई.पू.	सम्राट अशोक की वाराणसी-यात्रा। सारनाथ में अशोक-स्तंभ और धमेख तथा धर्मराजिका स्तूपों की स्थापना।
175 ई.पू. लगभग	शुंगकाल। काशी में हिंद-यवन (दिमित्रियोस या मिनांदर यानी मिलिंद की) सेना का पड़ाव। राजघाट से यूनानी देवी-देवताओं वाली मृण्मुद्राओं की प्राप्ति।
81 ई.	काशी पर कनिष्क का अधिकार। सारनाथ में भिक्षु बल द्वारा स्थापित बोधिसत्व मूर्ति व उस पर लेख।
दूसरी-तीसरी सदी ई.	काशी पर कौशांबी के मघ राजाओं का अधिकार।
1 ई. से 300 ई.	राजघाट के पुरावशेषों के आधार पर वाराणसी के इतिहास में समृद्धि का काल।
चौथी-पांचवीं सदी ई.	काशी पर गुप्तों का शासन। राजघाट से बड़ी संख्या में 'नाम-मुद्राओं' की प्राप्ति। वाणिज्य-व्यापार में वृद्धि। वाराणसी में शैव धर्म का पुनरुत्थान और सारनाथ में सर्वास्तिवादी बौद्धों का प्रभुत्व।
5वीं सदी, पूर्वार्ध	फाहियान की वाराणसी व सारनाथ की यात्रा।
सातवीं सदी, पूर्वार्ध	हर्षवर्धन के शासनकाल (606-647 ई.) में चीनी पर्यटक युवान् च्वाङ की वाराणसी व सारनाथ यात्रा।
9वीं सदी, पूर्वार्ध	जयादित्य और वामन द्वारा *काशिकावृत्ति* की रचना। शंकराचार्य की काशी-यात्रा और *शंकरदिग्विजय* तथा *ब्रह्मसूत्र-भाष्य* की रचना।
8वीं से 11वीं सदी	पालों, प्रतिहारों और कलचुरियों का काशी पर शासन।

मध्यकाल (लगभग 1000-1750 ई.)

11वीं सदी, पूर्वार्ध	काशी पर त्रिपुरी के कलचुरि नरेश गांगेयदेव और उसके पुत्र कर्ण का शासन।
1033 ई.	गांगेयदेव के शासनकाल में अहमद नियाल-तिगिन द्वारा वाराणसी पर हमला और उसकी लूट।
12वीं सदी	काशी पर गाहडवालों का शासन। गाहडवाल नरेश गोविंदचंद्र के राजपंडित दामोदर द्वारा तत्कालीन लोकभाषा (कोसली) में *उक्तिव्यक्ति प्रकरण* की रचना। गोविंदचंद्र के संधिविग्रहिक लक्ष्मीधर भट्ट द्वारा राजतंत्र व धर्मशास्त्र के विशाल निबंध-ग्रंथ *कृत्यकल्पतरु* की रचना। गोविंदचंद्र की रानी कुमारदेवी द्वारा सारनाथ में बौद्ध विहार का निर्माण। गाहडवाल युग में काशी के प्रधान देवता अविमुक्तेश्वर शिव की विश्वेश्वर में तब्दीली।
1194 व 1197 ई.	काशी पर शहाबुद्दीन ग़ोरी और कुतुबुद्दीन ऐबक के हमले। काशिराज जयचंद की मृत्यु (1193 ई.)। काशी की भारी लूट। गाहडवालों का अंत।
12वीं सदी, उत्तरार्ध	श्रीहर्ष द्वारा *नैषधीयचरित* महाकाव्य और तर्क-ग्रंथ *खंडन-खंड-खाद्य* की रचना।
1394 ई.	काशी पर जौनपुर के शर्की सुल्तानों का अधिकार—आगे करीब 80 साल के लिए।
15वीं सदी	काशी पर सिकंदर लोदी का शासन। मंदिरों का विध्वंस।
14वीं-15वीं सदी	*प्रक्रियाकौमुदी* के रचयिता पं. रामचंद्र का काशीवास।

1478 ई.	ज्योतिषी मकरंद द्वारा *मकरंद-सारिणी* की रचना।
15वीं-16वीं सदी	काशी में रामानंद, रैदास, कबीर, वल्लभाचार्य और चैतन्य का निवास।
1531 ई.	बनारस व सारनाथ में हुमायूं का डेरा।
1538 ई.	बनारस पर शेरशाह की चढ़ाई।
सोलहवीं सदी	धर्मशास्त्रकार एवं शास्त्रार्थी नारायण भट्ट (जन्म 1513 ई.) का काशीवास।
1551 ई.	मराठी संतकवि एकनाथ का काशी आना। यहां उन्होंने *श्रीमद्भागवत* के *एकादशस्कंध की मराठी टीका* पूर्ण की (1573 ई.)।
16वीं सदी, उत्तरार्ध	वैदिक ग्रंथों के भाष्यकार महीधर और कट्टर वेदांती अप्पय दीक्षित (1520-93 ई.) का काशी-निवास।
1565 ई.	काशी पर बादशाह अकबर का कब्जा। अकबर के शासनकाल में काशी में कुमारस्वामी मठ की स्थापना।
1583-91 ई.	प्रथम अंग्रेज रॉल्फ फिच की वाराणसी-यात्रा।
1585 ई.	राजा टोडरमल और नारायण भट्ट की मदद से विश्वनाथ मंदिर का पुनर्निर्माण।
1600 ई.	राजा मानसिंह द्वारा काशी में मानमंदिर और घाट का निर्माण।
1623 ई.	काशी में प्लेग की भयंकर महामारी और *रामचरित-मानस* के रचनाकार तुलसीदास (1537-1623 ई.) का देहांत।
17वीं सदी	पंडितराज जगन्नाथ (*गंगालहरी*), भट्टोजी दीक्षित (*सिद्धांतकौमुदी*), वरदराज (*मध्यसिद्धांतकौमुदी, लघुसिद्धांतकौमुदी, गीर्वाणपदमंजरी*), ज्योतिषी मुनीश्वर (*सिद्धांतसार्वभौम*, भास्कराचार्य के *सिद्धांत-शिरोमणि* की *मरीचि* टीका) का काशीवास। सर्वविद्यानिधान कवींद्राचार्य सरस्वती का काशीवास।
17वीं सदी	मराठी कवि वामन पंडित (1636-1695 ई.) का काशीवास और जगन्नाथ पंडित की *गंगालहरी* का मराठी में अनुवाद।
1632 ई.	अंग्रेज पर्यटक पीटर मंडी की बनारस-यात्रा।
1656 ई.	दारा शिकोह की बनारस-यात्रा।
1658 ई.	ज्योतिषी कमलाकर ने काशी में *सिद्धांततत्वविवेक* की रचना की।
1666 ई.	औरंगजेब की आगरा-कैद से भागकर छत्रपति शिवाजी कुछ दिन काशी में ठहरे।
1660 व 1665 ई.	फ्रांसीसी पर्यटक बर्नियर और तावेरनिये की के बीच बनारस-यात्रा।
1669 ई.	औरंगजेब के आदेश से विश्वनाथ का मंदिर गिराकर उसके स्थान पर ज्ञानवापी की मस्ज़िद उठा दी गई। बिंदुमाधव का मंदिर भी गिराकर वहां मस्ज़िद बनाई गई।

आधुनिक काल (लगभग 1725 ई. से)

1725 ई.	काशी राज्य की स्थापना।
1734 ई.	नारायण दीक्षित पाटणकर का वाराणसी आगमन; उन्होंने यहां कई घाट बनवाए।
1737 ई.	जयसिंह द्वारा मानमंदिर-वेधशाला की स्थापना।
1752 ई.	काशीराज बलवंतसिंह द्वारा रामनगर किले का निर्माण।
1773 ई.	बनारस-संधि : अवध के नवाब शुजाउद्दौला और ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच।
1775 ई.	बनारस की संधि : राजा चेतसिंह और ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच।
1777 ई.	महारानी अहिल्याबाई ने विश्वनाथ मंदिर का नवनिर्माण कराया।
1781 ई.	हेस्टिंग्स द्वारा काशीराज चेतसिंह को अपदस्त किए जाने के बाद वाराणसी पर ईस्ट इंडिया कंपनी का अधिकार।
1787-1795 ई.	जोनाथन डंकन बनारस के रेजिडेंट।
1791 ई.	वाराणसी में संस्कृत पाठशाला की स्थापना।
1809 ई.	बनारस मे हिंदू-मुसलमान दंगा।
1814 ई.	बनारस में लॉर्ड हेस्टिंग्स का आगमन और दरबार।
1824 ई.	विशप हेब्बर की बनारस-यात्रा।
1828-29 ई.	जेम्स प्रिंसेप द्वारा बनारस की जनगणना; उस समय की कुल आबादी 1,80,000 ।
1852 ई.	बनारस में पीपा बारूद-विस्फोट और नागर-विद्रोह।
1850-1885 ई.	हिंदी के उन्नायक भारतेंदु हरिश्चंद्र।
1887 ई.	गंगा पर रेल-सड़क पुल(मालवीय पुल) का उद्घाटन।
19वीं सदी उत्तरार्ध– 20वीं सदी पूर्वार्ध	गणितज्ञ-ज्योतिषी पं. बापूदेव शास्त्री (1821-1890 ई.) व पं. सुधाकर द्विवेदी (1860-1922 ई.), उपन्यासकार प्रेमचंद (1880-1936 ई.) और कवि व नाटककार जयशंकर प्रसाद (1889-1937 ई.)।
1893 ई.	काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना।
1916 ई.	पं. मदन मोहन मालवीय के प्रयासों से काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना।
1920 ई.	काशी विद्यापीठ की स्थापना।
1928 ई.	वाराणसी का बिजलीकरण।
1937 ई.	'भारतमाता मंदिर' का महात्मा गांधी द्वारा उद्घाटन।
1940 ई.	राजघाट (वाराणसी) का पुरातत्व-उत्खनन आरंभ।
1956 ई.	बुद्ध-पूर्णिमा के दिन 'बनारस' को अधिकृत रूप से पुराना 'वाराणसी' नाम दिया गया।

–गुणाकर मुळे

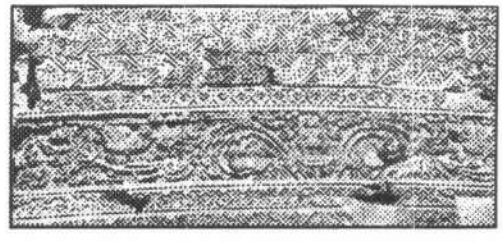

सारनाथ के धमेख स्तूप पर अलंकारिक शिलापट्टों का आवरण, गुप्तकाल

धर्म और संस्कृति का केन्द्र : काशी

कला और शिल्प के संदर्भ में बनारस भारत के प्रमुख प्राचीन केंद्रों में से एक है / यहां नए कला-रूपों एवं शैलियों की उपस्थापना हुई / वस्तुतः काशी ऐसा एकमात्र कला-केंद्र है जो पिछले लगभग तीन हज़ार वर्षों के इतिहास में कला के एक प्रमुख उद्योग की समृद्ध एवं अटूट परम्परा को संरक्षण देता रहा है / काशी के धार्मिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और ऐतिहासिक महत्व पर रोशनी डाल रहे हैं **पृथ्वीकुमार अग्रवाल**

वैदिक परम्परा के इतिहास में काशी का नामोल्लेख उसके आदिकालीन जन-संनिवेशों में अग्रणी स्थान का स्पष्ट द्योतक है। भारत के सांस्कृतिक-धार्मिक विकास की दृष्टि से समय-समय पर लोकव्यापी मान्यताओं और उत्कर्षशील प्रवृत्तियों के दिशा-निर्देशक के रूप में इस नगरी का महत्त्व निर्विवाद है। पूर्वी भारत में वैदिक संस्कृति एवं धर्म संप्रदायों के प्रचार-प्रसार में अति प्राचीन युग से ही गंगा के तट पर बसी इस महनीय पुरी का योगदान अपने ढंग का अनोखा है जिसका श्रेय यहां के उदारचेता और मनस्वी निवासियों को ही दिया जा सकता है। किसी समय इस क्षेत्र में आदिम और मूल जातियों का ही प्राधान्य रहा होगा जिनकी सभ्यता के सूत्र प्रौगितिहास के किन्हीं युगों में क्रमशः उत्तर की श्रौत प्रधान संस्कृति के प्रभाव-क्षेत्र में समेट लिया गया। काशी या बनारस अपनी भौगोलिक एवं ऐतिहासिक स्थिति के कारण स्थल एवं जल मार्गों के एक प्रमुख केंद्र के रूप में विकसित हुआ जिसने उसे न केवल व्यापारिक समृद्धि प्रदान की बल्कि धार्मिक तीर्थ के रूप में भी उसका विशेष उत्थान किया। यही काशी जनपद और उसके केंद्र नगर के उद्योग धंधों तथा कला-शिल्पों के गौरवपूर्ण विकास का कारण भी सिद्ध हुआ।

वैदिक तथा पौराणिक अनुश्रुतियों के आधार पर जिस इतिहास की धुंधली रूपरेखा प्रस्तुत होती है उसके अनुसार काशी के राजवंश में आदिपूर्वज मनु से सातवीं पीढ़ी में 'काश' नामक राजा हुआ जिसके कारण यह स्थान और यह क्षेत्र 'काशी' कहलाया। कुछ पीढ़ियों बाद 'धन्वंतरि' प्रसिद्ध हुआ जिसे आयुर्वेद का प्रवर्तक राजर्षि माना गया है। उसका प्रपौत्र दिवोदास-प्रथम *ऋग्वेद* में प्रसिद्ध योद्धा-नरेश ज्ञात होता है जिसका संबंध उस 'दासराज्ञ' संग्राम से जुड़ा हुआ है जो दस राजवंशों के संगठन से हुए राजनीतिक संघर्ष की अनुश्रुति है। संभवतः दिवोदास नाम का दूसरा राजा काशी राजधराने में आगे हुआ जिसका संघर्ष मध्यभारत के हैयय-चेदि वंश के वीतहव्य से हुआ। इसी समय का उल्लेख है कि काशी फिर से अन्यत्र बसाई गई जो स्थान गंगा के उत्तर और गोमती के दक्षिण किनारे पर था। डा. मोतीचंद्र आदि विद्वानों ने इसकी पहचान णायाधम्म-कथा के 'मृतगंगाह्रद' तथा आधुनिक रामगढ़ में बाणगंगा के तट पर फैले बैराट के प्राचीन खंडहरों के रूप में करने का सुझाव दिया है।

शतपथ-ब्राह्मण में भरत-वंश के शतानीक सत्राजित द्वारा काशीराज धृतराष्ट्र को हराने की बात है जिसके फलस्वरूप काशी निवासियों ने बहुत दिनों तक अग्निहोत्र का बहिष्कार कर दिया था। *कौषीतकी उपनिषद्* में काश्य (काशीराज) अजातशत्रु का उल्लेख है जिसकी सभा में दार्शनिक शास्त्रार्थ एवं ब्रह्मज्ञान की चर्चा होती थी। इसी काल के ग्रंथों में काशी-विदेह, कोसल-काशी-विदेह, काशी-कोसल आदि जनपदों या राज्यों का एक-दूसरे से भौगोलिक तथा सांस्कृतिक संबंधों का स्पष्ट संकेत मिलने लगता है।

यद्यपि *अथर्ववेद* में 'वरणावती' नदी के उल्लेख से कुछ विद्वान् 'वाराणसी' नाम की प्राचीनता का अनुमान करते हैं तो भी यह नगर या जनपद नाम 'काशी' की तुलना में अर्वाचीन है। परवर्ती साहित्य में वाराणसी काशी-जनपद की राजधानी बताई गई है किंतु इन दोनों शब्दों के सुनिश्चित भेद का यह निर्धारण सामान्य रूप से प्रचलन में प्रायः नहीं ही दिखाई देता। समय-समय पर कुछ नामों से भी इस पुरी का उल्लेख मिलता है, यथा सुदस्सन, ब्रह्मवद्धन, पुप्फवती, मालिनी, जित्वरी आदि।

जैन और बौद्ध धर्म के संस्थापकों के जीवन से भी काशी का महत्त्वपूर्ण संबंध होने से इन संप्रदायों के ग्रंथों में काशी एवं वाराणसी (बनारस) का वर्णन मिलता है। जैसा पालि *त्रिपिटक* ग्रंथों से ज्ञात है, बुद्ध के समय काशी धर्म और संस्कृति का प्रमुख केंद्र बन चुका था। इस महाजनपद काल (800-500 ई. पू.) में ही संभवतः इस पूर्वी क्षेत्र का सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष उत्कर्ष हुआ। इससे कुछ पूर्व उपनिषद् युग में काशी के राजा अपने प्रदेश की धार्मिक-दार्शनिक क्षेत्र में उन्नति के लिए विशेष प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। पौराणिक परम्परा के आधार पर यह मानना संभव है कि बनारस और उसके आस-पास के क्षेत्रों में जिन मूल लोक मान्यताओं और देवी-देवताओं का प्रचार था, उनका काशी के प्रधान देवता रुद्र-शिव के अंतर्गत बहुत कुछ समाधान-समावेश करते हुए शिव को महादेव के रूप में ब्राह्मण भक्ति-धर्म के त्रिदेव में प्रमुख स्थान मिला। शिव-लिंग की पूजा और उसकी उच्च ब्राह्मण धर्म में स्वीकृति स्पष्ट ही इसी धार्मिक समन्वय का उदाहरण है। धार्मिक उदारता और दूसरों के विश्वासों को आदर देने की प्रवृत्ति काशी के साथ संभवतः प्रारंभ से ही जुड़े गुण हैं। काशीराज-पुत्र पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म वैदिक परम्पराओं के विरोध में हुए श्रमण आंदोलन का ही उदाहरण है, जो काशी की देन है। नेपाल की तराई में जन्मे शाक्य-वंशीय गौतम की संबोधि भले ही गया के पास बोधगया में प्राप्त हुई, किंतु उन्होंने दो सौ मील दूर बनारस आकर ही मृगदाव में अपने नए धर्म का चक्र प्रवर्तन किया। यह अकारण न रहा होगा। काशी में ही उनके धर्म की नींव पड़ी और उनके मध्यम-मार्ग के पहले अनुयायी काशी के ही लोग थे।

ऐतिहासिक युग की कला और शिल्प के संदर्भ में भी बनारस भारत के प्रमुख प्राचीन केंद्रों में से एक है जिन्होंने नए कला रूपों एवं शैलियों की उपस्थापना की। वस्तुतः काशी ऐसा एकमात्र कला-केंद्र है, जो पिछले लगभग तीन हज़ार वर्षों के इतिहास में कला के एक प्रमुख उद्योग की समृद्ध एवं अटूट

गंगातट पर प्रातः स्नान करते हुए श्रद्धालुजन फोटो : सर्वेश

परम्परा को संरक्षण देता रहा है। अपनी गौरवपूर्ण और महार्घ वस्त्र-कला के लिए वाराणसी संभवतः विश्व में अनोखा कला-केंद्र है, जिसकी महाजनपद युग में जो महिमा थी, वह आज भी अक्षुण्ण है। सारे देश में वाराणसेय्यक, कासिय, अद्ढकासिक, कासिय, कासीकृतम आदि नामों से प्रसिद्ध महीन और कीमती बनारसी वस्त्र के पालि *त्रिपिटक* साहित्य में बार-बार उल्लेख मिलते हैं। *महापरिनिब्बाण सुत* के अनुसार महानिर्वाण के बाद बुद्ध का शरीर बनारस के सर्वोत्तम सूती कपड़े में ही लपेटा गया था। **अंगुत्तर-निकाय** के शब्दों में कासिक वस्त्र छूने में सुखद, रंग में आकर्षक और बड़ी कीमत वाला होता था। अन्यत्र वर्णन मिलता है कि सारे देश में राजा-महाराजा और शौकीन रईस कीमती और महीन बनारसी कपड़े का प्रयोग करने के आदी थे। न केवल वस्त्रों की इस कला के लिए बल्कि अपने काष्ठ-शिल्पियों, दारु-स्थापतियों, दंतकारों और यहां तक कि पाषाण-शिल्पियों की उत्कृष्ट कला के लिए भी जनपद युग में काशी विख्यात था, जैसा कि जातक-कथाओं और *त्रिपिटक* -ग्रंथों में बहुधा उल्लेख है। इस नगर और उसके निवासियों की अप्रतिम समृद्धि यहां केंद्रित इन कला-उद्योगों पर आधृत थी, और अनेक अध्यवसायी व्यापारी जल-स्थल मार्गों से बनारसी सामान सारे देश में पहुंचाया करते थे।

भारत की ऐतिहासिक कला का पहला महत्त्वपूर्ण युग काशी के महनीय सांस्कृतिक-धार्मिक केंद्र से अनिवार्णतः जुड़ा है। सारनाथ अथवा बनारस में या आस-पास कहीं वाराणसी की शिल्प-शैली एकाएक प्रमुखता प्राप्त करती है जिस समय पत्थर को विशाल स्तर पर कला-माध्यम के लिए अपनाया गया। न केवल सारनाथ, बनारस या उसके आस-पास के क्षेत्र से, बल्कि बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के अनेक प्राचीन स्थलों से मौर्य शैली की रचनाएं प्राप्त हुई हैं।

मौर्य-पूर्व साहित्य की समृद्ध साक्षी के आधार पर वस्त्र, चर्म, काष्ठ, मिट्टी, हाथीदांत, हड्डी, सीप, मणि, धातु आदि माध्यमों द्वारा कला की लंबी और समुन्नत परम्परा सिद्धप्राय है, किंतु ये क्षणिक एवं नश्वर थे। कला को चिरंजीवी रखने का श्रेय पत्थर को ही है। प्रस्तरीय माध्यम में प्रकट मौर्य उदाहरण कला के उन्नत स्वरूप एवं लोकोत्तर सौंदर्यशाली परम्परा के प्रमाण हैं। दो शताब्दी पूर्व ही हखामनी वंश के महान राजाओं ने ईरान में साम्राज्यवादी गौरव की अभिव्यक्ति के रूप में विशाल प्रासाद, सभाभवन, मन्दिर तथा समाधियों का पत्थर के स्थापत्य और शिल्प द्वार का निर्माण कराया था। मौर्य कला में कहां तक उनके आदर्शों को स्वीकार किया गया, यह कहना कठिन है।

मौर्य युग में राजकीय शिल्पशाला या कर्मशाला वाराणसी में या उसके आस-पास ही कहीं स्थापित हुई। इस नगर की पूर्ववर्ती सुदृढ़ कला-परम्परा के साथ-साथ मिर्जापुर की पहाड़ियों में उत्तम कोटि के बलुए पत्थर की विशाल खदानों का होना भी महत्त्वपूर्ण कारण था। जैसे पूर्व काल में यह नगरी बुद्ध के धर्मचक्रप्रवर्तन की साक्षी थी, उसी भांति महान सम्राट की प्रेरणा से कला की प्रथम महान कृतियों का निर्माण इसी महापुरी में हुआ।

शीशे जैसे चमक वाले सभी मौर्य कला खंड चुनार के पत्थर के निर्माण हैं और यह मौर्य कला की विशिष्टता मानी गई है। बलुए पत्थर पर या किसी पत्थर पर ऐसी पालिश देने की कला एक रहस्य ही है जो आज भी अज्ञात है। मौर्य शिल्प के टटकपन और उसके उत्कृष्ट रचना-कौशल को आज भी ज्यों का त्यों सुरक्षित रखने में इस लेप का बहुत हाथ है

अत्यंत चमकीली शीशे जैसे लेप वाले एक पत्थर के बने 30-40 फुट ऊंचे, भारी-भरकम मौर्य स्तंभ और उनके विशाल पशु-शीर्षक कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। उनमें से अधिकांश महान विद्वान धर्म-चक्रवर्ती और कला-संरक्षक

सम्राट् अशोक के लोकोत्तर धम्म-संदेश एवं कला-संदेश के आज भी व्यापक उद्‌गाता हैं। वे न केवल औद्योगिक कौशल अपितु निर्माता की मौलिक चिंतना के भी साक्षी हैं।

सारनाथ-स्तम्भ पर धर्म में संघ-भेद की प्रवृत्ति रोकने के लिए पाटलिपुत्र के सम्राट अशोक ने राजाज्ञा उत्कीर्ण करायी थी। इसी पर कुषाण-युगीन लिपि का भी एक लेख है। कनिष्क महान के समय सारनाथ में मथुरा शैली की विशालकाय बोधिसत्व प्रतिमा के स्थापन-लेख का राजनीतिक और धार्मिक इतिहास के लिए विशेष महत्व है। अनुमानत: यह विश्व की प्राचीनतम बुद्ध-मूर्तियों में से एक है जिसे स्थानीय क्षत्रप खरपल्लान और वनस्फर की देख-रेख में मथुरा के त्रिपिटकाचार्य बौद्ध महंत बल द्वारा पथराया गया था। स्थानीय पत्थर में भी शीघ्र ऐसी प्रतिमाएं बनाई जाने लगीं।

प्राक्कुषाण काल में संभवत: इस केंद्र में बहुत अधिक निर्माण नहीं हुए यद्यपि शुंग (द्वितीय-प्रथम शती ई.पूर्व) शैली की वेदिका के अवशेष उल्लेखनीय हैं। जो भी हो, गुप्त सम्राटों के साथ-साथ वाराणसी कला-शैली का महनीय युग लगभग चौथी-पांचवीं शती से प्राणवान् वेग से सक्रिय हुआ जिसने शिल्प के नए मानदंडों की स्थापना की। उसकी साक्षी सारनाथ की बौद्ध प्रतिमाओं में अद्वितीय रूप में परिलक्षित हैं पत्थर की मूर्तियों में आध्यात्मिक आदर्शों के अनुरूप अलौकिक देवत्व-भाव की उद्‌भावना सर्वप्रथम यहीं हुई जिसने न केवल भारत बल्कि सपूंर्ण एशिया की समकालीन एवं आगामी कला-संस्कृति का दिशानिर्धारण किया। उदात्त एवं गौरवपूर्ण आदर्शों की सर्वांगीण स्थापना का साक्ष्य समकालीन कला एवं काव्य, दर्शन एवं धर्म, शास्त्र एवं विद्याओं के उन्नयन में समान रूप से दिखाई देता है।

बौद्ध मंदिर, सारनाथ (फोटो : सावेंश)

आधुनिक शहर के उत्तरी-पूर्वी और गंगा के किनारे 'राजघाट' के उत्खनन से छठी शती ई. पू. के अवशेषों से लेकर मध्य युगों तक की सामग्री संग्रहीत हुई है जिसमें राजघाट की मृण्मूर्तियों और मिट्टी की मोहरों का महत्व सर्वोपरि है। अधिकांश सामग्री चौथी शती ई. से आगे की है यद्यपि कुछ मुद्राएं पूर्ववर्ती स्थानीय राजाओं एवं शासन पर भी प्रकाश डालती हैं।

राजघाट की गुप्तकालीन मृण्मय मुद्राओं से सामाजिक एवं धार्मिक सांस्कृतिक इतिहास की बहुमूल्य सूचनाएं प्राप्त हुई हैं जिनकी पुष्टि पौराणिक एवं तीर्थ-निबंधों की साक्षों से भी मेल रखती जान पड़ती है। ये मुहरें कई प्रकार की हैं। राजा तथा अमात्यों की; सरकारी अधिष्ठान और अधिकारियों की; देवस्थानों की; निगम, श्रेणि तथा शिक्षा-संस्थानों की; तीर्थ-स्थलों की तथा सामान्य लोगों की। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से श्रीसारस्वत; हस्तीश्वर; गंगेश्वर; अविमुक्तेश्वर, देवदेव, विश्वेश्वर (सभी काशी-विश्वनाथ के प्रसिद्ध शिवलिंग के द्योतक); बहवृच-चरण; श्री-चातुर्विद्य; श्री-सर्वत्रविद्य; कंदुकेश्वर; कर्दमकरुद्र इत्यादि।

सातवीं शती में युवाङ् च्वाङ् ने सारनाथ और काशी में बौद्ध स्मारकों और विहारों का तथा शैव-पूजा के देव मन्दिरों और उनके प्रभावशाली सदस्यों का आंखों-देखा वर्णन किया है। पांचवीं शती से सातवीं शती के कई लेखों में सारनाथ के मूलगंधकुटी विहार तथा सद्धर्मचक्र-विहार के महत्त्वपूर्ण केंद्रों के प्रमाण मिलते हैं जिनका प्रभुत्व बाद तक बना रहा। मध्यकालीन शैली की कुछ प्रतिमाओं और वास्तु-खंडों से भी बौद्ध महायानी देवी-देवताओं की पूजा का प्रचलन अक्षुण्ण सिद्ध होता है। गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल की जैन शिल्प-कला के नमूने भी प्राचीन वाराणसी से प्राप्त हैं किंतु उनकी संख्या कम ही है। महत्त्वपूर्ण साक्ष्य पहाड़पुर (बंगलादेश) के एक 479 ई. के ताम्रपत्र से मिलता है जिसमें जैन विहार तथा पंचस्तूपान्वय के जैन आचार्य गुहनन्दी को भूमिदान दिए जाने की बात है।

युवाङ्च्वाङ् ने सारनाथ के कतिपय स्तूपों का भी वर्णन किया है जिनकी प्राचीनता अशोक मौर्य तक कही जाती थी। 'धर्मराजिका' और 'धमेख' नामक स्तूपों के अवशेष आज भी महत्त्वपूर्ण हैं। धमेख स्तूप का जीर्णोद्धार गुप्त युग में हुआ ज्ञात होता है जबकि उसे शिलापट्टों से आवृत कर उस पर बेल-बूटों की अद्‌भुत उकेरी सजाई गई। वासुदेवशरण अग्रवाल के मत में स्तूप को बड़े वस्त्रावरण (= देवदूष्य) से ढकने का रिवाज था। ऐसे अलंकृत 'काशिक' वस्त्र को ही इस समय अपनी समूची सजावट के साथ प्रस्तर-शिलाओं पर खोदकर बनाया गया देखा जा सकता है। काशी के प्राचीन बुनकरों की बूटियां ज्यामितिक अलंकरण और कारीगरी मानो आज भी धमेख स्तूप पर उत्कीर्ण रूप में सुरक्षित हैं। यह नक्काशी अपने ढंग की विविधतापूर्ण और बेजोड़ है।

आठवीं शती से गाहडवाल युग के पूर्व तक काशी-वाराणसी का इतिहास बहुत-कुछ अनुमान का विषय है भले ही धार्मिक साहित्य परम्परा इस महातीर्थ का कुछ माहात्म्य अवश्य बताती है। आठवीं शती से ग्यारहवीं शती तक के कुछ अभिलेख भी काशी के अविमुक्तेश्वर क्षेत्र, विद्या-केंद्र एवं नगर-वैभव से संबंधित सूचनाएं देते हैं। इस काल-खंड में तांत्रिक प्रभावों का प्रचार-प्रसार व्यापक आंदोलन बन चुका था जिसके अंतर्गत वज्रयान, शैव तथा शाक्त-तंत्रों का बोलबाला दिखाई देता है। मूर्ति-शिल्प के साथ-साथ 1026 ई. के एक सारनाथ अभिलेख में काशी में ईशान-चित्रघंटा के मन्दिर तथा अन्य देवस्थानों की स्थापना एवं धर्मराजिक स्तूप, धर्मचक्रजिन विहार आदि का जीर्णोद्धार तथा अष्ट-महास्थान शैल-गंधकुटी नामक नए मन्दिर बनवाए जाने की सूचना है।

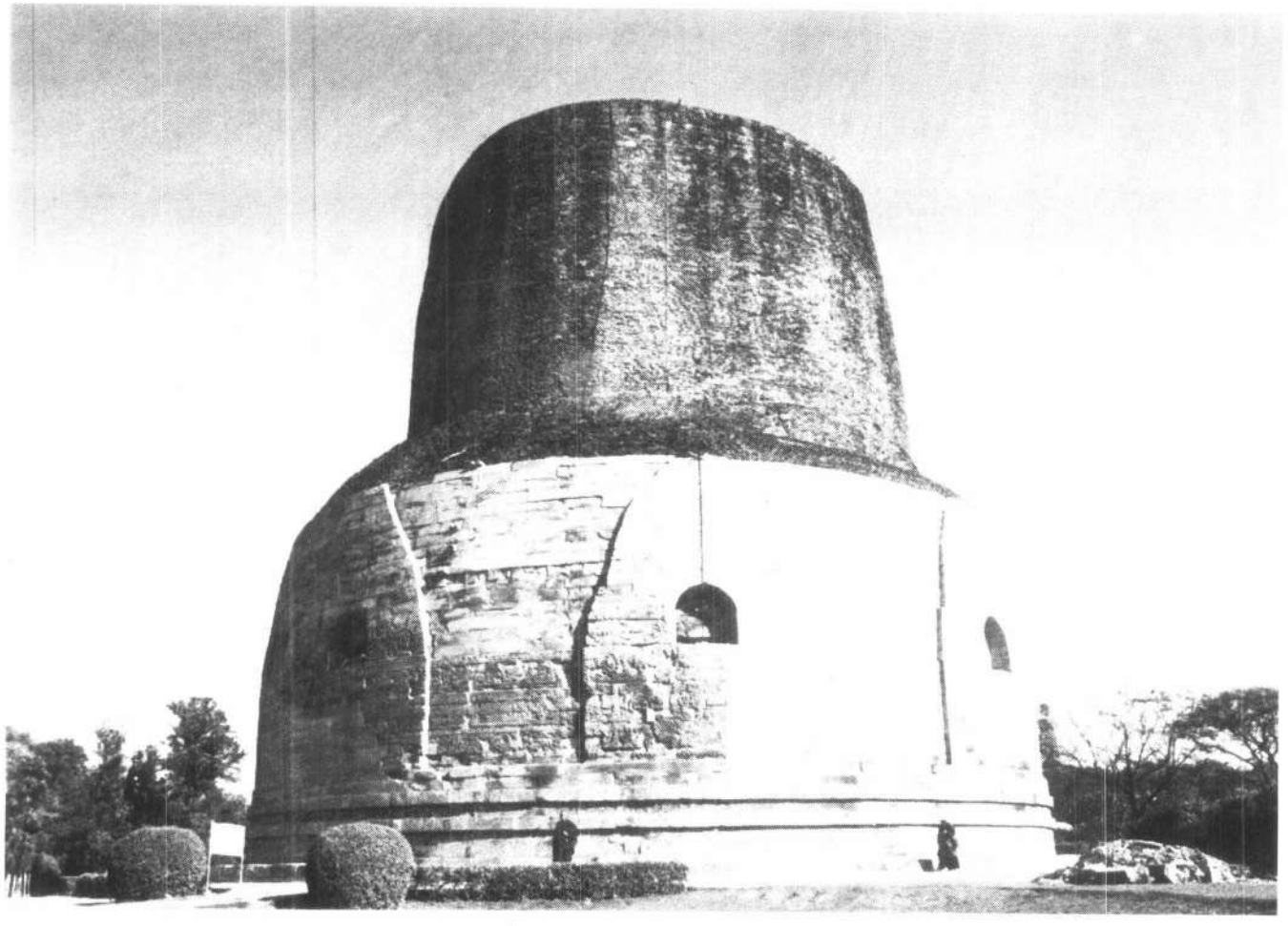

धमेख स्तूप सारनाथ — फोटो : गणेश

अनुमान है कि मध्यप्रदेश के कलचुरि-चेदि वंशीय शासक गांगेयदेव और उसके पुत्र कर्ण के समय 11वीं शती के मध्यकाल में प्रयाग और काशी उनके अधीन थे। शीघ्र ही गाहडवाल वंश गंगा-यमुना के कांठे में प्रभावी हुआ जिसका अधिकार बनारस से कन्नौज के व्यापक क्षेत्र पर स्थापित हुआ। कन्नौज के साथ-साथ काशी भी उनकी राजधानी बनी। इस समय से मुस्लिम इतिहासकार भी उनके प्रतापी प्रभुत्व और युद्धों का वर्णन करते हैं।

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस वंश के कान्यकुब्ज पर अधिकार के बाद पहला स्वतंत्र शासक 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' चन्द्रदेव (1090-1103 ई.) था जिसने क्रमशः वाराणसी को अपने साम्राज्य की राजधानी बनाया। इससे पूर्व महमूद गजनवी के नेतृत्व में उत्तरी भारत पर हुए आक्रमणों से (1008-1020 ई.) कन्नौज और वाराणसी क्षेत्र बुरी तरह प्रभावित हो चुके थे। परवर्ती मुस्लिम धावों को रोकने में सफलता के बाद ही गाहडवाल साम्राज्य अस्तित्व में आया, यह स्पष्ट है। कालांतर में प्रसिद्ध गोविन्द चन्द्र (1113-1154 ई.) इस वंश का सर्वप्रतापी सम्राट था जिसका शासन पुनः समृद्धि एवं सांस्कृतिक पराकाष्ठा का युग था। गाहडवाल वंश की कई आगामी पीढ़ियों ने तरहवीं शती के प्रारंभ तक उस गौरव का बहुत कुछ बचाए रखा जिसके संकेत न केवल राजनीतिक संघर्ष बल्कि सांस्कृतिक क्रिया-कलापों के साक्ष्य भी देते हैं।

गाहडवाल शासन के सर्वाधिक अभिलेख तथा कला सामग्री वाराणसी क्षेत्र से ही मिलती है। अल-बरूनी के अनुसार यहां संस्कृत और ज्ञान-विज्ञान का प्रसिद्ध केंद्र था। दामोदर पंडित का *उक्तिव्यक्ति-प्रकरण* तत्कालीन संस्कृति का दर्पण है। कृष्ण मिश्र का *प्रबोधचंद्रोदय* अपने ढंग का प्रतीक-परक नाटक है जिसमें समकालिक धार्मिक सम्प्रदायों की उठा-पटक और वैचारिक ऊहापोह का जीवंत चित्रण है। भट्ट लक्ष्मीधर का *कृत्यकल्पतरु* यद्यपि *काशीखंड* और अन्यान्य पौराणिक एवं स्मार्त स्रोतों से सामग्री एकत्र करता है तो भी तत्कालीन उपयोगी सूचनाओं की पुष्टि करता है।

इस काल के स्थापत्य एवं शिल्प की प्रभूत सामग्री से न केवल बनारस शहर बल्कि आस-पास का क्षेत्र पटा पड़ा है। अनेक मन्दिरों की नई स्थापना या पुनरुद्धार का श्रेय इस युग को दिया जाता है यद्यपि स्पष्ट अवशेष मुस्लिम आक्रमण के चलते नष्टप्राय हो चुके हैं। एकमात्र उल्लेखनीय मन्दिर पास के कंदवा (= कर्दमेश्वर) में आज भी सुरक्षित है जो गाहडवाल मन्दिर-वास्तु का अप्रतिम साक्ष्य है। सारनाथ में गोविन्दचंद्र की रानी कुमारदेवी द्वारा स्थापित 'धर्मचक्र-जिनविहार' के अवशेष उत्खनन में मिले हैं। बनारस शहर के अनेक तीर्थ-केंद्रों में आज भी गाहडवाल-कालीन प्राचीन मूर्तियां, वास्तु-खंड तथा 'शिवाले' (=मन्दिर के लघुकाय नमूने) बहुत बड़ी संख्या में फैले हुए यत्किंचित सुरक्षित हैं जिनका कलात्मक महत्त्व निर्विवाद है। जैन संप्रदाय की दृष्टि से 12वीं से 14वीं शती के वाराणसी तीर्थ- स्थल पर *प्रबन्धकोष* तथा *विविधतीर्थकल्प* के कुछ वर्णनों से महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। तथ्यों की पुष्टि सारनाथ एवं शहर के कई भागों से प्राप्त तत्कालीन तीर्थंकर मूर्तियों से भी होती है। □

सरकारी दस्तावेजों में

अठारहवीं शताब्दी का बनारस

दस्तावेजों से जानकारी मिलती है कि यदि अंग्रेजों ने 1781 में पेशवा माधवराव नारायण का प्रस्ताव मान लिया होता तो बनारस पेशवाओं की सम्पति होता / 2 नवम्बर 1781 का एक पत्र राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली में सुरक्षित है जिसमें पेशवा ने प्रयाग और काशी को खरीदने की पेशकश की है / अठारहवीं सदी के बनारस का चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं संजय गर्ग

बनारस का इतिहास बहुत पुराना है। पुराणों में काशी के नाम से इसका विस्तार से वर्णन है। *रामायण* और *महाभारत* में भी काशी का उल्लेख है। बौद्ध साहित्य में काशी का उल्लेख सारनाथ में दिए गए महात्मा बुद्ध के प्रथम उपदेश के संदर्भ में मिलता है। प्राचीन भारत के सोलह महाजनपदों में काशी एक प्रमुख जनपद था जो बाद में मगध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था। मुग़लकाल आते-आते बनारस (वाराणसी) इलाहाबाद सूबे का एक सरकार (जिला) बनकर रह गया।

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही मुग़लों की केन्द्रीभूत सत्ता का पतन दृष्टिगोचर हो चला था। सन् 1707 में औरंगज़ेब की मृत्यु तथा उत्तर मुग़ल शासकों के बीच सत्ता-संग्राम में मुग़ल सामन्तों ने खूब लाभ उठाया। सन् 1720 के लगभग जौनपुर, चुनार, ग़ाज़ीपुर, आज़मगढ़, बलिया तथा पूर्वी मिर्ज़ापुर के साथ बनारस मीर मुर्तज़ा ख़ान नामक एक मुग़ल सामन्त के अधिकार में आ गया, जिसने इसे सात लाख रुपये सालाना के वज़ीफ़े पर अवध के पहले नवाब सआदत ख़ान (1722-39) को सौंप दिया। सआदत ख़ान ने आठ लाख रुपये की सालाना लगान पर बनारस को मीर रुस्तम अली के हवाले कर दिया।

मीर रुस्तम अली बनारस के पूर्व जागीरदार मीर मुर्तज़ा ख़ान का ही संबंधी था, तथा उसकी जागीर का प्रबंध देखता था। उस समय मुर्तज़ा ख़ान ने इस जागीर की सालाना लगान पांच लाख रुपये तय की थी, जिसके ऊपर की आमदनी पर रुस्तम अली का अधिकार था। परंतु रुस्तम अली अपने अधीनस्थ छोटे-छोटे ज़मींदारों से लगान वसूल करने में अक्सर असफल रहता और सालाना लगान पूरे तौर पर और समय से अदा नहीं कर पाता था।

जागीर पर सआदत ख़ान का अधिकार हो जाने के बाद भी रुस्तम अली द्वारा लगान की वसूली और अदायगी में कोई खास सुधार नहीं आया। सआदत ख़ान अवध का नवाब होने के साथ-साथ दिन-ब-दिन क्षीण होते जा रहे मुग़ल साम्राज्य का वज़ीर भी था। इस नाते उसका बहुत-सा समय दिल्ली में बीतता और उसे अपनी जागीर के समुचित प्रबंधन तथा बाग़ी ज़मींदारों के दमन का समय नहीं मिल पाता था। जब बनारस के हालात काफ़ी बिगड़ गए तो सन् 1738 में उसने अपने दामाद और नायब, अबुल मंसूर ख़ान को बनारस तथा सिकन्दवर्ती जागीर की देखभाल तथा बाग़ी ज़मींदारों के दमन के लिए नियुक्त किया।

अबुल मंसूर ख़ान ने अक्षम रुस्तम अली को अपदस्थ करके पूरे क्षेत्र को दो हिस्सों में विभाजित किया। जौनपुर और चुनार के साथ बनारस गंगापुर के जमींदार मंसाराम को 13 लाख रुपये की सालाना लगान पर दे दिया गया। बाकी का हिस्सा एक दूसरे सामन्त शेख़ अब्दुल्लाह को तीन लाख रुपये सालाना की लगान पर दे दिया गया। बनारस कोतवाली और टकसाल का प्रबंध मंसाराम को न सौंप कर अबुल मंसूर ख़ान ने सीधे ही अवध की सरकार के अधीन रखा।

मनसाराम

सन् 1740 में मंसाराम की मृत्यु हो गई। उसके स्थान पर अबुल मंसूर ख़ान ने, जो 1739 में सआदत ख़ान की मृत्यु के बाद सफ़दरजंग की उपाधि धारण कर अवध का नवाब बन चुका था, मंसाराम के 26 वर्षीय बेटे बलवंत सिंह को नियुक्त कर दिया। बलवंत सिंह ने तत्कालीन मुग़ल शासक मुहम्मद शाह (1717-1748) को नज़राना भेजकर राजा की उपाधि तथा बनारस, जौनपुर और चुनार की ज़मींदारी की सनद प्राप्त कर ली। धीरे-धीरे अपनी स्थिति सुदृढ़ करते हुए राजा बलवंत सिंह ने सन् 1748 में मुग़ल शासक मुहम्मद शाह की मृत्यु तक नियमित रूप से सालाना लगान अदा किया। उसके बाद वह एक स्वतंत्र शासक के रूप में आचरण करने लगा। उसने न केवल लगान देना बंद कर दिया बल्कि अवध रियासत के कारिन्दों को बनारस से निष्कासित भी कर दिया। यही नहीं, समीपवर्ती सरकार इलाहाबाद के अंतर्गत आने वाला परगना भदोई और वहां का किला भी राजा बलवंत सिंह ने आक्रमण कर अपने अधीन कर लिया। नवाब सफ़दर जंग ने राजा बलवंत सिंह को परास्त करने की असफल कोशिश के बाद संधि कर लेने में अधिक समझदारी दिखी। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक राजा बलवंत सिंह बनारस के स्वतंत्र शासक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

सरकारी दस्तावेजों में बनारस का उल्लेख लगभग इसी समय से मिलना प्रारम्भ होता है। ये दस्तावेज ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हैं, जिनकी सन् 1748 से क्रमबद्ध शृंखला नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित है। बनारस की राजनीति में अंग्रेजों का हस्तक्षेप बक्सर की लड़ाई (24 अक्टूबर 1764) की पृष्ठभूमि में खुलकर सामने आता है। बनारस अवध और बंगाल की नवाबी रियासतों के बीच स्थित था जिसमें से अवध का नवाब शुजा-उद्-दौला अंग्रेज़ों का प्रतिद्वन्दी और बंगाल का नवाब मीर जाफ़र अंग्रेजों का मित्र था। ऐसी स्थिति में बनारस के राजा की भूमिका बहुत अहम थी। अत: जब मार्च 1764 में अंग्रेजों की सेना के कमांडर मेजर कार्नक के राजा बलवंत सिंह से मैत्री का प्रस्ताव बंगाल के गवर्नर लार्ड क्लाइव को भेजा तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया गया। मेजर कार्नक को भेजे गए दिनांक 29 मार्च 1764 के अपने पत्र में क्लाइव ने लिखा है:

बलवंत सिंह

'...the proposed alliance with Bulwant Singh will, therefore, be a very proper measure, and prove as well now as in all time to come a strong barrier and defence to the Bengal Province.' (*बंगाल सीक्रेट कन्सल्टेशंस*, 29 मार्च 1764)

इसके बदले में अंग्रेजों ने राजा बलवंत सिंह की स्वतंत्रता वर्तमान तथा भविष्य में भी सुरक्षित रखने का आश्वासन दिया।

बक्सर की लड़ाई के बाद अंग्रेज बनारस को औपचारिक रूप से मुग़ल साम्राज्य से अलग कर अपना सहायक बनाना चाहते थे। अपने 6 दिसम्बर 1764 के पत्र में बंगाल के गवर्नर ने अंग्रेजी सेना के कमांडर इन चीफ मेजर हेक्टर मुनरो को लिखा :

'With regard to Bulwant singh, we shall adhere to the terms which you have thought it necessary to make with him, but it is our view, so far as it can be done consistently with your engagements, to have the power and authority over this Rajah and his zamindaris vested in the Company by sunnuds from the King, holding them under him with the same rights and in as full a manner as enjoyed by Shuja-ud-Dowlah'.

मुग़ल शासक शाहआलम द्वितीय (1759-1806) ने अंग्रेजों की शर्त मानते हुए 29 दिसम्बर 1764 को एक फरमान जारी कर ग़ाज़ीपुर तथा राजा बलवंत सिंह की ज़मींदारी नवाब शुजा-उद्-दौला की निज़ामत से निकाल कर अंग्रेजों को सौंप दी (*एचिसन*, खंड II, 6) परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निदेशक मंडल ने इस व्यवस्था को अपनी स्वीकृति नहीं दी। अंतत: 16 अगस्त 1765 को इलाहाबाद की संधि में पूर्व में दिए जाने वाले सालाना लगान के

चेतसिंह

बदले राजा बलवंत सिंह की ज़मींदारी को बहाल कर दिया गया। (*एचिसन*, खंड II 76-9 आर्टिकल 5) इस संधि की शर्तों को मंजूरी देते हुए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निदेशक मंडल ने शुजा-उद्-दौला के साथ अपने संघर्ष में राजा बलवंत सिंह की सेवाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

इस प्रकार 1765 में बनारस एक बार फिर अवध के नवाब की निज़ामत में सम्मिलित कर लिया गया। लेकिन यह व्यवस्था लगान की अदायगी तक ही सीमित थी। शेष कार्यों में राजा बलवंत सिंह की मान्यता तथा अधिकार अंग्रेजों, मुग़ल शासक शाह आलम द्वितीय तथा शुजा-उद्-दौला सभी ने स्वीकार कर ली थी।

22 अगस्त 1770 को राजा बलवंत सिंह की मृत्यु हो गई। उसके बाद उनके पुत्र चेत सिंह को काशी नरेश घोषित किया गया, लेकिन उत्तराधिकार के प्रश्न पर विवाद खड़ा हो गया। सरकारी अभिलेखों में चेत सिंह की दावेदारी तथा उसके विपक्ष में दिए गए साक्ष्यों से संबंधित अनेक दस्तावेज मौजूद हैं। सन् 1772 में वारेन हेस्टिंग्स बंगाल का गवर्नर बनकर भारत आया। उसके हस्तक्षेप से यह विवाद चेत सिंह के पक्ष में निबटा लिया गया और 27 रजब 1184 हिजरी (16 नवम्बर 1770) को एक पट्टा जारी कर अवध के नवाब द्वारा चेत सिंह को 22, 48, 449 रुपये की सालाना लगान के एवज में बनारस के ज़मींदार के रूप में मान्यता दे दी गई (*एचिसन*, खंड II 43-44) हेस्टिंग्स ने भी उक्त व्यवस्था की गारंटी देते हुए राजा चेत सिंह को एक पत्र लिखकर उसके हितों की रक्षा करने का आश्वासन दिया (*एचिसन*, खंड II, 44-45)।

अठारहवीं शताब्दी का अंतिम चतुर्थांश बनारस के इतिहास में बहुत उथल-पुथल वाला समय था। सन् 1775 में अवध के नवाब शुजा-उद्-दौला की मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर उसका ज्येष्ठ पुत्र आसफ़-उद्-दौला नवाब बना। नवाब बनने के फौरन बाद आसफ-उद्-दौला ने राजा चेत सिंह से सालाना लगान के अतिरिक्त और धन की मांग की। चेत सिंह ने शुजा-उद्-दौला द्वारा 1773 में दिए गए कौलनामे (शपथ पत्र) (*एसिचन-II*, 42-43) का हवाला देते हुए अंग्रेज सरकार से हस्तक्षेप करने का आग्रह किया। अंग्रेजों ने बनारस और अवध के इस झगड़े में अपना फायदा देखा और 21 मई 1775 को नये नवाब से फैजाबाद की संधि कर ली। इस संधि के द्वारा आसफ़-उद्-दौला ने राजा चेत सिंह की पूरी ज़मींदारी शाश्वत काल के लिए ईस्ट इंण्डिया कम्पनी को सौंप दी (*एचिसन* खंड II, 86-90; आर्टिकल 5)

बनारस अब अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने बनारस के प्रशासन के लिए 12 जून 1775 को एक विस्तृत योजना बनाई, जिसके अनुसार राजा चेत सिंह द्वारा सालाना लगान अवध के नवाब के बदले अंग्रेजों को दिया जाना तय हुआ। बदले में अंग्रेजों ने राजा को एक

वारेन हेस्टिंग्स

सनद जारी करके उसके ज़मींदारी क्षेत्र में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की संप्रभुता के अंतर्गत उसका 'पूर्ण तथा निर्बाधित अधिकार' स्वीकार किया। बनारस के टकसाल को भी चेत सिंह को सौंप जाने का फैसला लिया गया। 15 सितंबर 1775 को एक सनद जारी करके अंग्रेजों ने राजा चेत सिंह को बनारस के ज़मींदार के रूप में एक बार फिर मान्यता दे दी, पर अब उसकी स्वतंत्रता सीमित थी (एचिसन, खंड।।, 45-46), बनारस की सालाना लगान 23, 40, 249 रुपये तय की गई, जिस पर अब अंग्रेजों का अधिकार था। बनारस में अंग्रेज रेजीडेन्ट, फ्रांसिस फौक की नियुक्ति कर दी गई। इसके बाद के समय में बनारस से संबंधित सरकारी दस्तावेज बहुतायत से मिलते हैं। राष्ट्रीय अभिलेखागार नई दिल्ली के अलावा ऐसे दस्तावेजों की एक अलग शृंखला उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार में भी उपलब्ध है जिनमें बनारस के अंग्रेज रेजीडेन्ट के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गवर्नर जनरल तथा अन्य अंग्रेज अधिकारियों का पत्राचार शामिल है " (G.N. Saletore (ed.). Press List of Pre-Mutiny Records: Banaras Correspondence, Vol. I (1776-1789), Allahabad, 1955 तथा Vol. II (1790), Allahabad, 1956. उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखगार ने बनारस से संबंधित चुने हुए दस्तावेजों को U P State Records Series के अंतर्गत Selections from English Records शृंखला में प्रकाशित किया है। देखें G.N. Saletore (ed.). Banaras Affairs, Vol. I (1788-1810), Allahabad, 1955। इस पुस्तक में मुग़ल शहज़ादे जहांदार शाह के बनारस प्रवास, अंग्रेजों द्वारा बनारस में न्याय प्रबंध, बनारस के वाणिज्य और व्यापार तथा राजस्व से संबंधित अनेक सरकारी दस्तावेज शब्दशः सम्मिलित किए गए हैं।)

दिसम्बर 1776 में फ्रांसिस फौक के स्थान पर थॉमस ग्राहम को बनारस में रेजीडेन्ट बनाकर भेजा गया। सन् 1778 में फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के बीच युद्ध छिड़ गया जिसका असर भारत में भी देखने को मिला। भारत में ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिए गवर्नर जनरल ने बनारस में फौज की तीन नई बटालियन स्थापित करने का फैसला लिया और इसके खर्चे के लिए राजा चेत सिंह से 4,46,000 रुपये मांगे। यह घटना अंग्रेजों और राजा चेत सिंह के संबंधों में बहुत निर्णायक सिद्ध हुई। अपने 28 सितम्बर 1778 के पत्र में राजा चेत सिंह ने इस नई मांग को पूरी करने के लिए छह-सात माह का समय मांगा जिसे अस्वीकार कर दिया गया। फलतः राजा ने अपना बहुमूल्य सामान बेचकर तथा गिरवी रखकर अक्टूबर 1778 में यह धनराशि अदा की। लेकिन यह अंग्रेजों द्वारा रुपयों की मांग का अंत नहीं था बल्कि शुरुआत थी। 1779 तथा 1780 में पुनः पांच-पांच लाख रुपयों की मांग राजा चेत सिंह के सामने रखी गई। राजा चेत सिंह ने बार-बार गवर्नर जनरल को पत्र लिखकर यह राशि देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। 20 सितम्बर 1779 में अपने पत्र में चेत सिंह ने लिखा:

'In obedience to your order, I' last year (1778), by every means, and borrowing from all quarters, raised the sum, and at that time you promised that it should not happen again. I hve it not in my power at present. You have before honoured me with the title of son, and regarding me as your son, you have protected me. I am therefore hopeful that I may be excused from this requisition.

इस बीच बनारस में अंग्रेज रेजीडेन्ट थॉमस ग्राहम की नियुक्ति को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निदेशक मंडल ने अस्वीकार कर दिया और 17 फरवरी 1780 को फ्रांसिस फौक की एक बार फिर बनारस के रेजीडेन्ट के रूप में नियुक्ति कर दी गई। वारेन हेस्टिंग्स अब तक राजा चेत सिंह को सबक सिखाने का मन बना चुका था। इसके लिए उसे बनारस में रेजीडेन्ट के रूप में अपने विश्वासपात्र व्यक्ति की आवश्यकता थी। अतः अपने 14 जनवरी 1781 के मिनिट में उसने फ्रांसिस फौक के स्थान पर विलियम मार्खम की नियुक्ति कर दी। अब उसने पुनः चेत सिंह पर रुपयों की अदायगी के लिए दबाव डाला और अंततः 7 जुलाई 1781 को स्वयं कलकत्ता से बनारस के लिए रवाना हुआ। गवर्नर जनरल और अंग्रेजी फौजों के बनारस पहुंचने पर राजा चेत सिंह के सिपाहियों ने उनका कड़ा मुकाबला किया। 16 अगस्त 1781 को राजा चेत सिंह को कैद कर लिया गया परंतु वह अंग्रेजों की गिरफ्त से निकल भागने में सफल हो गए।

वारेन हेस्टिंग्स द्वारा राजा चेत सिंह के साथ किए गए व्यवहार की सर्वत्र निंदा हुई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निदेशक मंडल ने 18 जुलाई 1782 को एक प्रस्ताव पारित करते हुए राजा चेत सिंह की गिरफ्तारी की निंदा और बनारस की प्रशंसा करते हुए लिखा:

'The imprisonment of his person in the midst of his subjects and his country, which from time immemorial has been the residence of the most respectable persons of Hindostan was unwarrantable and highly impolitic... (PwIHC. IX, FC. 28 August 1782, para 49 HOB, Page 39-40

बाद में हेस्टिंग्स की इंग्लैण्ड वापसी पर जब उस पर महाभियोग लगाया गया, उसमें भी चेत सिंह प्रकरण ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। इस घटना से संबंधित अधिकतर सरकारी दस्तावेज वारेन हेस्टिंग्स द्वारा सन 1782 में प्रकाशित पुस्तक में शब्दशः सम्मिलित हैं। (देखें Warren Hastings, *A Narrative of Insurrection which happened in the Zemeedary of Banaris in the Month of August, 1781, and the Transactions of the Governor-General in that District; with an Appendix of Authentic Papers and Affidavits*, Calcutta, 1782).

अब हेस्टिंग्स ने बनारस की गद्दी के लिए राजा बलवंत सिंह के 19 वर्षीय प्रपौत्र महीप नारायण को चुना और 14 सितम्बर 1781 को उससे 40 लाख रुपये सालाना लगान का क़बूलियत नामा (स्वीकृति-पत्र) लिखवा कर 20 सितम्बर को बनारस का राजा घोषित किया। प्रशासन के कार्य में नये राजा की सहायता के लिए उसके पिता (राजा बलवंत सिंह के दामाद) दुर्गविजय सिंह को नायब के पद पर नियुक्त किया गया। बनारस की टकसाल और फौज़दारी प्रशासन कम्पनी के अधीन कर लिए गए।

1782 में वारेन हेस्टिंग्स भारत से विदा हो गया और अगले ही साल 1783 में उसके द्वारा बनारस के रेजीडेन्ट के रूप में नियुक्त किए गए विलियम मार्खम को भी हटा दिया गया। उसके स्थान पर एक बार फिर फ्रांसिस फौक

की नियुक्ति कर दी गई। 1787 में फौक के त्यागपत्र देने के बाद जेम्स ग्रान्ट को बनारस का रेजीडेन्ट बनाया गया। ग्रान्ट शीघ्र ही अपने भ्रष्ट और निरंकुश आचरण के लिए कुख्यात हो गया। राजा महीप नारायण ने गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस को पत्र लिख कर ग्रान्ट की शिकायत दर्ज की जिस पर कार्रवाई करते हुए ग्रान्ट को बनारस से वापस बुलाकर उसकी जगह जोनाथन डंकन को बनारस का रेजीडेन्ट बनाकर भेजा गया।

डंकन 1787 से 1795 तक बनारस का रेजीडेन्ट रहा और इन आठ वर्षों में भूमि सुधार, राजस्व प्रबंधन, न्याय तथा कानून व्यवस्था आदि क्षेत्रों में उसके योगदान से संबंधित अनेक दस्तावेज नई दिल्ली और उत्तर प्रदेश के अभिलेखागारों में उपलब्ध हैं। आधुनिक भारत के एक इतिहासकार वी.ए. नारायण के अनुसार 'यदि उसने (डंकन ने) कुछ और न किया होता और वह 1795 में भारतीय परिदृश्य से लुप्त भी हो गया होता, तो भी उसका स्थान भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के संस्थापकों में होता। (नारायण 1)

1794 में अंग्रेजों ने बनारस का प्रशासन अपने अधीन कर लिया। सन् 1795 में राजा महीप नारायण सिंह की मृत्यु के बाद उनके पुत्र उदित नारायण सिंह को नाममात्र के लिए बनारस का राजा घोषित किया गया। इसके बाद अठारहवीं शताब्दी के अंत तक बनारस में आमतौर पर शांति बनी रही। परंतु सदी के अंतिम वर्ष में बनारस एक बार फिर सुर्खियों में आ गया। 1799 की एक घटना ने बनारस के शांत माहौल में खलबली मचा दी। यह घटना थी अवध के अपदस्थ नवाब वज़ीर अली द्वारा बनारस के अंग्रेज अधिकारियों का कत्लेआम। अंग्रेजों द्वारा 19 वर्षीय वज़ीर अली को 1798 में पदच्युत करके डेढ़-लाख रुपये सालाना की पेन्शन देकर बनारस भेज दिया गया था। बनारस में वज़ीर अली के बढ़ते प्रभाव से सशंकित होकर अंग्रेजों ने शीघ्र ही उसे कलकत्ता स्थानांतरित करने का फैसला लिया। इस पर कुपित होकर वज़ीर अली ने बनारस में गवर्नर-जनरल के राजनैतिक दूत चैरी, उसके सचिव ईवान्स, तथा कप्तान कॉन्वे की हत्या कर दी। रॉबर्ट ग्राहम नामक एक अंग्रेज़ नागरिक तथा हिल नामक एक योरोपीय दुकानदार को भी मार डाला गया। बनारस के न्यायाधीश तथा मजिस्ट्रेट, डेविस के घर पर भी वज़ीर अली ने अपने साथियों सहित हमला किया, परन्तु वह किसी तरह बच गया। इस घटना से संबंधित अनेक दस्तावेज भी दिल्ली स्थित अभिलेखागार में उपलब्ध हैं।

अठारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत की अधिकतर देसी रियासतों में सरकारी कामकाज की भाषा फ़ारसी थी। इसके फलस्वरूप ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दस्तावेजों में बनारस से संबंधित फ़ारसी दस्तावेज भी काफ़ी संख्या में उपलब्ध हैं। इनमें औपचारिक शिष्टाचार संबंधी पत्रावली जैसे राजा बनारस द्वारा गवर्नर-जनरल को उनके पद संभालने पर भेजा गया बधाई पत्र, क्रिसमस तथा नये साल पर भेजे गए शुभकामना संदेश आदि के अतिरिक्त अंग्रेजों के गुप्तचरों द्वारा भेजी गई महत्वपूर्ण रिपोर्ट भी शामिल हैं। राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली में उपलब्ध ऐसे सभी फ़ारसी दस्तावेजों की एक विस्तृत सूची शोधकर्ताओंकी सुविधा के लिए 11 खण्डों में प्रकाशित की जा चुकी है। (देखें Calendar of Persian Correspondence, Vol-I-11 (1759-1795), Calcutta Delhi, 1911-1969).

ऊपर दिए गए वर्णन से यह नहीं समझना चाहिए कि बनारस से संबंधित सरकारी दस्तावेज मात्र तत्कालीन राजनैतिक गतिविधियों का ही स्त्रोत हैं। इन दस्तावेजों में समकालीन सामाजिक व आर्थिक जीवन की भी भरपूर जानकारी मिलती है। उदाहरण के लिए आपको यह जानकर हैरानी होगी कि 1774 में बनारस तथा मुम्बई के बीच नियमित डाक व्यवस्था थी, जिस पर बनारस निवासी शिवनाथ का जैसे एकाधिकार था। 1781 में तैयार की गई एक रिपोर्ट में यह बताया गया है कि बनारस शहर में पुलिस किस प्रकार रात्रि गश्त लगाती थी।

मुहर : कुंवर उदित नारायण सिंह, 1201 हिजरी

मुहर : अहेलिया राय राजा बलवंत सिंह, 1184 हिजरी

इन्हीं दस्तावेजों से एक जानकारी यह भी मिलती है कि यदि अंग्रेजों ने 1781 में पेशवा माधवराव नारायण का प्रस्ताव मान लिया होता तो बनारस पेशवाओं की सम्पति होता। 2 नवम्बर 1781 का एक पत्र राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली में सुरक्षित है जिसमें पेशवा ने प्रयाग और काशी को खरीदने की पेशकश की है।

बनारस के रेजीडेन्ट मार्खम द्वारा 7 फरवरी 1783 को लिखे एक पत्र से ज्ञात होता है कि उस काल में घोड़ों तथा बैलों की बनारस में बिक्री पर नख़ास नामक कर लिया जाता था। बनारस से होकर गुज़रने वाली नौकाओं पर 'तलाशी' नामक कर लिया जाता था, जबकि बनारस के जुआघरों से 'ख़मर-ख़ाना' नामक कर लिया जाता था। इसी प्रकार बनारस के घाट पर लोगों द्वारा पहने जाने वाली लोहे तथा मुलम्मा चढ़ी अंगूठियों पर भी 'दस्तूर अंगुश्तरी' नाम का कर लिया जाता था।

सन् 1787 में गवर्नर जनरल ने सर ग्रेस हिलारो बार्लो को बनारस के बाजार, वाणिज्य तथा व्यापार की समीक्षा करने के लिए नियुक्त किया। बार्लो द्वारा अंग्रेज प्रशासन को इस संबंध में जो रिपोर्ट भेजी गई उससे बनारस की तत्कालीन आर्थिक अवस्था का प्रथम द्रष्टव: वृतांत मिलता है।

एक अन्य दस्तावेज से पता चलता है कि 1 मार्च 1788 के बाद किसी भी योरपवासी को बनारस में रहने के लिए अंग्रेज सरकार से अनुमति लेना अनिवार्य था। इस दस्तावेज के साथ बनारस में निवास करने वाले ऐसे सभी अंग्रेजों की एक सूची भी उपलब्ध है जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी नहीं थे। इसी प्रकार एक अन्य दस्तावेज से पता चलता है कि बनारस से व्यापार करने के लिए काबुल और ईराक तक से व्यापारी आते थे।

1788 का ही एक अन्य दस्तावेज बनारस के प्रबुद्ध नागरिकों द्वारा हेस्टिंग्स के सम्मान में लिखा गया प्रशस्ति पत्र है, जिसमें भारत में उसकी प्रशासनिक कुशलता की सराहना की गई है। इंग्लैण्ड में चलाए जा रहे महाभियोग में हेस्टिंग्स द्वारा भारत की जनता के साथ किए गए दुर्व्यवहार तथा पैसे ऐंठने के आरोपों का भी इस पत्र में कड़ा प्रतिकार किया गया है। बाद में जब हेस्टिंग्स को महाभियोग से बरी कर दिया गया तो राजा उदित नारायण सिंह तथा बनारस के अन्य सम्माननीय नागरिकों ने उसे एक बधाई पत्र इंग्लैण्ड भेजा।

1791 में बनारस के रेज़ीडेंट जोनाथन डंकन के प्रयासों से हिंदू संस्कृत कॉलेज की स्थापना हुई। सारनाथ की ऐतिहासिक महत्ता का प्रथम साक्षात्कार कराने का श्रेय भी डंकन को ही जाता है, जिसने 1794 में एक बाज़ार के निर्माण के दौरान ज़मीन से निकले दो बक्सों की सामग्री का अध्ययन करके एक लेख प्रकाशित किया।

शेष पृष्ठ 40 पर जारी

काशी की विद्वत् परम्परा

काशी के सांस्कृतिक इतिहास में 16वीं और 17वीं शती का काल विद्वता की दृष्टि से स्वर्णयुग रहा है। उस समय यहां मिथिला, बंगदेश, गुर्जर, हिमालय का पर्वतीय प्रदेश, नेपाल, सुदूर दक्षिण देश–तैलंग, द्रविड़ देश आदि विविध प्रदेशों के पण्डित विद्वान उपस्थित थे। इस निबंध में बारहवीं शती से अद्यतन के संस्कृत–साहित्य के क्रम–विकास में काशी निवासी विद्वानों एवं उनकी कृतियों की संक्षिप्त चर्चा कर रहे हैं **शीतला प्रसाद उपाध्याय**

प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति, साधना एवं साहित्य की केंद्रस्थली के रूप में काशी का स्थान मूर्धन्य रहा है। इस नगरी को ज्ञानतीर्थ भी कहा जाता है। तीर्थों के माहात्म्य प्रसंग में कर्मतीर्थ और ज्ञानतीर्थ भेद से द्विविध तीर्थों का वर्णन शास्त्रों में उपलब्ध होता है। कर्मतीर्थ मानव के अंदर निवास करने वाली दुर्वृत्तियों को तिरोहित कर, सत्कर्मों के प्रभाव से स्वर्ग कल्प सुखमय जीवन की प्राप्ति कराते हैं। परंतु, शास्त्रोक्त विधियों से किया गया ज्ञानतीर्थों का सेवन ज्ञान के संचार में क्रमशः वृद्धि कराता हुआ पूर्ण एवं अखंड ज्ञान का लाभ कराता है जो मोक्ष का एकमात्र हेतु है। यही कारण है कि संपूर्ण भारत वर्ष के विद्वान, साधक, संन्यासी, योगी, महात्मा काशी में रहकर अपनी-अपनी साधना पूरी करने को आतुर रहते थे और आज भी हैं। यहां की विद्वत्परम्परा में देश-विदेश के विभिन्न भागों का व्यापक प्रतिनिधित्व दिखलाई पड़ता है जिसकी एक झलक यहां प्रस्तुत की जा रही है। इस निबंध में बारहवीं शती से अद्यतन के संस्कृत-साहित्य के क्रम-विकास में काशी निवासी विद्वानों एवं उनकी कृतियों की संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

बारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में भट्ट हृदयधर के पुत्र लक्ष्मीधर भट्ट ने धर्मशास्त्र के क्षेत्र में विविध विषयों का समावेश करते हुए धर्मशास्त्रीय *निबंध* ग्रंथ की रचना का सूत्रपात किया। सत्रह खंडों में विभक्त *कृत्यकल्पतरू* नामक इनका ग्रंथ इसी पद्धति की रचना है। इसी शती के अंतिम चरण में गाहड़वाल वंशीय विजयचंद्र और उनके पौत्र जयचंद्र से राजाश्रय प्राप्त, हीरमिश्र-मामल्ल देवी के पुत्र, कान्यकुब्ज ब्राह्मण वंश के श्रीहर्ष मिश्र ने *नैषधचरित* महाकाव्य, *खंडन-खण्ड-खाद्य, स्थैर्यविचारण-प्रकरण, विजय प्रशस्ति, गौडोर्वीश कुल प्रशस्ति, हिन्दू प्रशस्ति, नवसाहसांकचरित* आदि ग्रंथों की रचना की। तेरहवीं शती के कविकान्त सरस्वती ने *विश्वादर्श* नामक चार खण्डों वाले श्लोकबद्ध धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण किया। इनके पिता आदित्य थे और इनका नागार्जुन तनय धन्यराज का राजाश्रय प्राप्त था। बंगवंशीय नन्दन ग्रामवासी नारन्द नामक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न, दिवाकर भट्ट के पुत्र कुल्लूकभट्ट ने मनुस्मृति पर *मन्वर्थ-मुक्तावली* टीका लिखी। इसी शती में आन्ध्रदेशीय रामेश्वर भट्ट के प्रपौत्र, नरसिंह के पुत्र एवं मल्लिनाथनागम्मा के पुत्र सरस्वती तीर्थ ने शंकराचार्य प्रणीत *प्रपञ्चसार* की *बालचितानुरञ्जनी* टीका, *स्मृतिदर्पण, तर्करत्न* और उसकी टीका *दीपिका, काव्य प्रकाश* की *बाल चितानुरञ्जनी* टीका, कालिदास के *रघुवंश, कुमारसम्भव* और *मेघदूत* की टीकाओं का प्रणयन किया। *मेघदूत* की टीका का नाम *विद्वन्मनोरंजनी* है। *मीमांसारत्न* नामक इनके एक ग्रन्थ की खण्डित प्रति बड़ौदा ग्रन्थागार में मिलती है। इनके पूर्वाश्रम का नाम 'नरहरि' था। इनके एक ज्येष्ठ भ्राता नारायण भी लब्धप्रतिष्ठ विद्वान थे।

चौदहवीं शती विद्वानों में पाणिनीय व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थ *प्रक्रिया कौमुदी* के रचयिता रामचन्द्राचार्य की काशी में बहुत अधिक ख्याति थी। इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के सूत्रों का क्रमोल्लंघन है। ये आन्ध्र प्रदेशीय ऋग्वेदी कौण्डिन्य गोत्रज तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता कृष्ण पितामह नृसिंह तथा प्रपितामह अनन्त थे। इनके ग्रन्थ धर्मशास्त्र विषयक *कालनिर्णयदीपिका*, वैष्णव सिद्धान्त विषयक *वैष्णव सिद्धान्त-सद्दीपिका* आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त वेदान्त और ज्योतिष में भी ये पारंगत थे। इनके पितामह अनन्त आगम-निगम, न्याय वैशेषिक, ज्योतिष और मीमांसा में निष्णात थे और *श्रुतिसार* नामक एक ग्रन्थ का निर्माण भी किया था। इनके पिता कृष्ण भी अष्टादश विद्याओं में निष्णात थे। इसी शती में महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के अतिशय श्रद्धेय श्रीधर स्वामी ने *गीता* की *सुबोधिनी टीका, श्रीमद्भागवत* की *भावार्थदीपिका टीका, विष्णुपुराण* की *आत्मप्रकाश* अथवा *स्वप्रकाश टीका* आदि ग्रन्थों की रचना की। ये चित्सुखाचार्य के परवर्ती थे। उसी समय में काशी में वेदान्तज्ञ संन्यासियों में अग्रणी स्वामी ज्ञानानंद के प्रधान शिष्य प्रकाशानन्द ने *वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली* नामक अपूर्व ग्रन्थ का निर्माण किया। ज्ञानानन्द के द्वितीय शिष्य *अनुभवानन्द* महानैयायिक प्रगल्भाचार्य के वेदान्त विषय के उपदेष्टा थे। इसी शती में अखण्डानुभूति के शिष्य, वेदान्तवेत्ता अखण्डानन्द नाम के संन्यासी ने प्रकाशानन्दयति के *पञ्चपादिकाविवरण* पर *तत्त्वदीपन* नामक टीका लिखी। प्रसिद्ध जैनाचार्य *जिन प्रभसूरि* की काशी यात्रा का विवरण भी इन्हीं कालखण्डों में प्राप्त होता है।

पन्द्रहवीं शती के विद्वानों में रामचन्द्राचार्य के पुत्र नृसिंहाचार्य ने अपने पिता की प्रसिद्ध कृति *कालनिर्णयदीपिका* पर *विवरण* नाम की एक टीका लिखी। ये धर्मशास्त्र में सुप्रसिद्ध विद्वान थे। *प्रयोग पारिजात* इन्हीं की रचना है। नृसिंहाचार्य के पुत्र विट्ठलाचार्य ने *प्रक्रिया कौमुदी* पर *प्रसाद* नामक सुप्रसिद्ध टीका लिखी। इनके पुत्र लक्ष्मीधर ने *न्यायभास्कर* नामक विशिष्ट ग्रन्थ की

---

* इस निबंध की पृष्ठभूमि में अन्यान्य ग्रंथों के अतिरिक्त म.म.प. गोपीनाथ कविराज कृत *काशी की सारस्वत साधना* तथा आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय कृत *काशी की पाण्डित्य परम्परा* का सहयोग विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

रचना की। लक्ष्मीधर के पुत्र अनन्ताचार्य ने *वेदार्थचन्द्र* नामक *मीमांसा* ग्रंथ का प्रणयन किया। काशी के ज्यौतिषिक मण्डली के प्रसिद्ध सारिणी रचयिता प. मकरंद भी इसी शती में थे। इस सारणी का उपयोग ज्योतिषीय गणना में किया जाता है।

इसी शती में एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण विद्वान् पृथ्वीधर भट्ट नासिक से आकर काशी में बस गए। ये वेदान्त और व्याकरण महाभाष्य का अध्यापन करते थे। इनके पुत्र राघव भट्ट ने प्रसिद्ध तान्त्रिक ग्रंथ *शारदातिलक* की *पदार्थादर्श* नामक टीका लिखी। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा *अभिज्ञानशाकुन्तल* की प्रसिद्ध *अर्थद्योतनिका* टीका और *उत्तररामचरित* तथा *मालतीमाधव* की भी टीकाएं रची गईं।

सुप्रसिद्ध मैथिल नैयायिक, अद्वैत विरोधी विचारधारा के नायक शंकर मिश्र अपने जीवन के अन्तिम समय में काशीवास करने के निमित्त यहां आए थे। अपने काशी प्रवास में इन्होंने कणादकृत *वैशेषिक-सूत्र* पर *उपस्कार* नामक वृत्ति की रचना की थी। *भेद प्रकाश* या *भेदरत्न प्रकाश* नामक न्यायशास्त्र के भेदवादी दृष्टिकोण को प्रकाशित करने वाले मौलिक ग्रन्थ के भी ये प्रणेता थे। इनके समकालीन और इनके निकट संबंधी अभिनव वाचस्पति मिश्र का खण्डनोद्धार तार्किकों की ओर से श्रीहर्ष के *खण्डन ग्रन्थ* का प्रत्युत्तर है। वेदान्तशास्त्र की पद्धति से इसका उत्तर इसी काल के प्रौढ़ बंगाली नैयायिक *प्रगल्भ* अथवा *शुभंकर* ने *खण्डन-दर्पण* की रचना करके श्रीहर्ष के *खण्डन-खण्ड-खाद्य* का मण्डन किया। इस शताब्दी में काशी के दार्शनिक पण्डित समाज में उनको अति उच्च स्थान प्राप्त था। ये वारेन्द्र श्रेणी के शाण्डिल्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। उनका वंश लाढ़ी (वर्तमान में लाहिड़ी) के नाम से विख्यात था। उन्होंने *तत्त्वचिन्तामणि* के चारों खण्डों पर, *किरणावली प्रकाश* के द्रव्य और गुण भाग के ऊपर तथा *न्यायलीलावती-दीधिति* पर अपनी टीका लिखी थी।

प्रसिद्ध बंगदेशीय पं. नरहरि विशारद भट्टाचार्य यवनों के अत्याचार से तंग होकर काशी आए थे। वेदान्त नव्यन्याय, स्मृति प्रभृति शास्त्रों में उनकी असाधारण विद्वत्ता थी। न्यायशास्त्र में उन्होंने *तत्त्वचिन्तामणि* पर एक टीका रची थी। इनका एक स्मृति निबंध भी था जो अब लुप्त हो गया है। ये महाप्रभु चैतन्यदेव के मातामाह के सहपाठी भी थे। इसी शती में निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य हरिव्यास देव ने काशीवास करते हुए स्वहस्तलेख में परमवैष्णव प्रतिष्ठापनाचार्य रामार्य के पुत्र कृष्णदेव द्वारा विरचित *नृसिंहपरिचर्या* नामक वैष्णव ग्रन्थ की प्रतिलिपि की थी। *दशश्लोकी* की *वेदान्तसिद्धान्तरत्नावली* और *सिद्धान्त कुसुमाञ्जलि* नामक दो टीकाएं इनके द्वारा लिखी गईं।

काशी के सांस्कृतिक इतिहास में 16वीं और 17वीं शती का काल विद्वता की दृष्टि से स्वर्णयुग रहा है। उस समय यहां मिथिला, बंगदेश, गुर्जर, हिमालय का पर्वतीय प्रदेश, नेपाल, सुदूर दक्षिण देश-तैलङ्ग, द्रविड़ देश आदि विविध प्रदेशों के पण्डित विद्वान उपस्थित थे। सोलहवीं शती में काशी के दक्षिणात्य विद्वानों में शेषवंश के शेषकृष्ण को नेतृत्व प्राप्त था। शेषवंश भट्टभट्ट नाम से परिचित था। शेषकृष्ण के गुरु उनके पिता शेषनृसिंह स्वयं थे जिन्होंने *गोविन्दार्णव* नामक एक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ रचा था। शेषकृष्ण ने धर्मशास्त्र, व्याकरण, नाटक, चम्पू काव्य तथा प्राकृत व्याकरण पर ग्रन्थ रचना की थी।

उनके ग्रन्थों में धर्मशास्त्र में *शूद्राचार शिरोमणि* तथा *धर्मानुबन्धश्लोकचतुर्दशी* अथवा *शेषकृष्णकारिका*, व्याकरण में *प्रक्रियाकौमुदी* की टीका *प्रक्रियाकौमुदी प्रकाश*, *स्फोटतत्त्व निरूपण* तथा *पदचन्द्रिका*, नाटकों में *कंसवध*, *सत्यभामाविलास*, *मुरारिविजय*, *सत्यभामा परिणय*, चम्पूकाव्यों में *पारिजातहरण* एवं *उषाहरण प्राकृत* में *प्राकृत चन्द्रिका* आदि हैं। *क्रियागोपन* नामक काव्य भी शेषकृष्ण के नाम से प्रसिद्ध है। इनके अनुज शेष चिन्तामणि ने *भानुदेव* के *रसमञ्जरी* नामक ग्रन्थ पर *परिमल* टीका, *रुक्मिणीहरण* नामक नाटक, *वृत्तरत्नाकर* पर *सुधा* नामक टीका और *मेघदूत* की टीका लिखी। शेषकृष्ण के पुत्र शेषवीरेश्वर थे। इस वंश के शेषनारायण ने भी ग्रन्थ रचना की थी।

काशी में प्रसिद्ध भट्ट वंश के रामेश्वर भट्ट ऋग्वेदीय आश्वलायन शाखा के विश्वमित्र-गोत्रीय ब्राह्मण थे। ये अपने मूल निवास गोदावरी के तट पर स्थित प्रतिष्ठानपुर को छोड़कर सन् 1521 ई. में काशी आए थे। इन्होंने *राम-कुतूहल* नामक काव्य रचना की थी। इनकी ख्याति पूरे देश में थी और नाना प्रदेशों के विद्यार्थी उनके पास अध्ययन के लिए आते थे। इनके तीन पुत्र थे- नारायण भट्ट, श्रीधर भट्ट और माधव भट्ट। नारायण भट्ट नाना प्रकार की अलौकिक शक्ति सम्पन्न, अत्यन्त धर्मनिष्ठ तथा तपस्वी पुरुष थे। मुगल सम्राट अकबर ने उनकी ज्ञान-गरिमा, सदाचार, धर्मनिष्ठा और प्रतिष्ठा से प्रभावित होकर उन्हें 'जगद्गुरु' की उपाधि दी थी। नारायण भट्ट शास्त्रार्थी पण्डित थे। इन्होंने धर्मशास्त्र में *प्रयोगरत्न*, *धर्मप्रवृत्ति* तथा माधव-निर्मित *काल निर्णय की व्याख्या* की रचना की। इनके द्वारा निर्मित *जीवच्छ्राद्ध प्रयोग*, *अन्त्येष्टि पद्धति*, *उत्सर्ग पद्धति* और *रुद्रानुष्ठान पद्धति* प्रसिद्ध है। पुराण-विषयक ग्रन्थों में इन्होंने *त्रिस्थलीसेतु* और *काशी प्रकरण*, छन्दशास्त्र में *वृत्तरत्नाकर* की टीका तथा मीमांसा की *शास्त्रदीपिका* पर एक टीका लिखी।

नारायण के सहोदर श्रीधर भट्ट ने *रुद्रपद्धति*, *देव्यानुष्ठानपद्धति* तथा *सापिण्डयदीपिका* अथवा *सापिण्यद्वय निर्णय* की रचना की। नारायण के ज्येष्ठ पुत्र रामकृष्ण भट्ट ने धर्मशास्त्र पर *जीवत्पितृकर्म निर्णय*, *मिताहरा सम्मत विभागतत्त्व विचार*, *श्राद्धगणपति* और *रुद्रस्नान* पद्धति ये चार ग्रन्थ रचे थे। इनके द्वितीय पुत्र शंकर भट्ट ने धर्मशास्त्र में *धर्मद्वैत निर्णय* या *द्वैत निर्णय*, *धर्म प्रकाश* या *सर्वधर्म प्रकाश*, *निर्णयचंद्रिका*, *श्राद्धकल्पसार*, मीमांसा में- *मीमांसाबाल प्रकाश*, *मीमांसासारसंग्रह*, *शास्त्र दीपिका* की टीका *प्रकाश विधिरसायनदूषण या खण्डन*, काव्य में स्वोपज्ञ टीका सहित *ईश्वर स्तुति* और *गाधिवंशानुचरित* आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया। मल्लारिभट्ट और भट्टोजी दीक्षित दोनों ही शंकर भट्ट के शिष्य थे।

नारायण के कनिष्ठतम अनुज माधव के तीन पुत्र थे विश्वनाथ, रघुनाथ और प्रभाकर। रघुनाथ विरचित धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में *दशश्लोकी टीका*, *त्रिशच्छ्लोकी विवरण* (अशौच निर्णय) *आह्निक पद्धति*, *कालतत्त्व विवेचन*, *षण्णवतिश्राद्धपद्धति*, *रविसंक्रान्तिनिर्णय*, *गोत्रप्रवर निर्णय*, *अष्टमहाद्वादशी निर्णय*, *प्रायश्चित विवेचन*, *दर्शश्राद्ध प्रद्धति*, *पर्वनिर्णय*, *जीवत्पितृकस्य पितृयज्ञाधिकार निर्णय* और *गया पद्धति* प्रमुख है। अल्पायु प्राप्त प्रभाकर ने *रस प्रदीप* नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

काशी में तीर भुक्ति पण्डितों में शीर्षस्थ रघुपति उपाध्याय भी सोलहवीं शती के विशिष्ट ग्रन्थकार थे। रामभक्त मुद्गल गोत्रीय लक्ष्मीधर पण्डित ने दिल्ली के सम्राट से 'धर्माधिकारी' उपाधि प्राप्त की थी। आगे चलकर इनका कुल धर्माधिकारी वंश नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस वंश में सर्वश्रेष्ठ पण्डित थे नन्द पण्डित, जो लक्ष्मीधर की पांचवी पीढ़ी के वंशधर थे। इनके अधिकांश ग्रन्थ धर्मशास्त्र विषयक ही हैं। धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में *विष्णुस्मृति* की टीका *केशव वैजयन्ती*, *पराशरस्मृति* की टीका *विद्वन्मनोहरा*, *शुद्धिचन्द्रिका*, *नवरात्रप्रदीप*, *दत्तकचन्द्रिका*, *दत्तकमीमांसा*, *श्राद्धमीमांसा*, *शूद्राधिकारमीमांसा*, *मांसमीमांसा*, *सापिण्डय निर्णय*, *श्राद्धकल्पलता*, *स्मृतिसिन्धु*, *परिवंशविलास*, *तत्त्वमुक्तावली* आदि प्रसिद्ध हैं। पुराण विषयक ग्रन्थों में इनके द्वारा *काशी प्रकाश* तथा *तीर्थकल्पलता* नामक दो ग्रन्थ लिखे गए। इनके ज्येष्ठ भ्राता

गोविन्द ने *श्राद्धदीपिका* की रचना की थी। नन्द पण्डित के आगे के वंशजों का भी काशी की विद्वन्मण्डली में यथेष्ट सम्मान रहा है।

सांख्ययोग शास्त्र में प्रसिद्ध विज्ञान भिक्षु और उनके शिष्य भी इसी शताब्दी में काशी में रहते थे। उनके ग्रन्थ *सांख्ययोग* और वेदान्त विषयक हैं। सांख्ययोग में सांख्यप्रवचन भाष्य, सांख्यसार, व्यासकृत *पातञ्जलयोग भाष्य* पर व्याख्यान *योगवार्तिक* तथा *योगसारसंग्रह* इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। वेदान्त विषय में इन्होंने *ब्रह्मसूत्रभाष्य, विज्ञानामृत, ब्रह्मादर्श, पाषण्डमतखण्डन, श्वेताश्वतरोपनिषद् भाष्य* तथा *ईश्वरगीता* टीका लिखी। इनके तीन प्रधान शिष्य थे प्रसादमाधवयोगी, भावागणेश दीक्षित और दिव्यसिंह मिश्र। प्रसाद माधव ने *कारिका भाष्य* अथवा *कारिकार्थ विनिश्चय* नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। भावागणेश ने *तत्त्वयाथार्थ्यदीपन* नाम की तत्त्व समास टीका लिखी थी। इसके अतिरिक्त इन्होंने एक *योगसूत्रवृत्ति* तथा *प्रबोधचन्द्रोदय* की टीका *चिच्चन्द्र* की रचना की थी। दिव्य सिंह मिश्र ने *प्रसादमाधव* कृत *शारीरकारिका भाष्य* के ऊपर वार्तिक रचना की थी।

इसी सोलहवीं शती में काशीवासी संस्कृत विद्वानों में महीधर का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध था। ये वत्सगोत्रीय अहिच्छत्रीय ब्राह्मण फनू या नट्टभट्ट के पुत्र थे। ये संसार की असारता का अनुभव करते हुए स्वदेश का त्याग कर काशी वास के लिए आए थे। वैदिक तथा तान्त्रिक शास्त्रों में इनका समान अधिकार था। इनके द्वारा प्रणीत वैदिक ग्रन्थों में *शुक्ल यजुःसंहिता* पर भाष्य *वेददीप चरणव्यूह टीका, कात्यानशुल्वसूत्र टीका, पुरुषसूक्त टीका, मन्त्रनिघण्टु, सौत्रामणिविनियोगसूत्रार्थ, षडङ्गरुद्रजपटीका* तथा तान्त्रिक ग्रन्थों में *मन्त्रमहोदधि* और उसकी *टीका नौका, मातृकार्णव निघण्टु, नृसिंह पटल* आदि हैं। वेदान्त और पुराण में *योगवासिष्ठसार विवृति* (नामान्तर योगवासिष्ठ प्रकाश) एवं *रामगीता* टीका, वैष्णव साहित्य में पुरुषोत्तम कृत *विष्णुभक्ति कल्पलता* का विवरण या *प्रकाश*, ज्योतिष में *बृहज्जातक टिप्पण, लीलावती* टीका विवरण, *वर्षफल पद्धति, ताजिकमणि, मणित्थ* एवं अन्य विषयों में अनादिदीप विवरण इनकी प्रशस्त रचनाएं हैं।

पूर्वोक्त नरहरि विशारद के पौत्र एवं विद्यावाचस्पति के पुत्र विद्यानिवास भट्टाचार्य की भी काशी की विद्वत्मण्डली में अतुलनीय प्रतिष्ठा थी। ये श्रेष्ठ नैयायिक थे। इनके ग्रन्थों में *दोलारोहण पद्धति, सच्चरितमानस काव्य, मुक्तबोध* की टीका एवं *द्वादशयात्राप्रयोगप्रकरण* आदि सुप्रसिद्ध हैं। इनके पुत्र विश्वनाथ सिद्धांत पञ्चानन और रुद्र न्यायवाचस्पति प्रसिद्ध पण्डित थे। विश्वनाथ द्वारा रचित ग्रन्थों में *न्यायसूत्रवृत्ति, न्यायलोक, पदार्थतत्त्वावलोक, आख्यातवादटीका, नञ्वाद-टीका, सुबर्थतत्त्वालोक, न्यायतन्त्रबोधिनी, प्राकृतपिङ्गलटीका, सूक्तिमुक्तावली, भेद सिद्धि* तथा *मांसतत्त्व विवेक* प्रमुख हैं। रुद्र न्यायवाचस्पति ने तीन काव्य ग्रन्थों की रचना की थी। *भावविलास, भ्रमरदूत* और *वृन्दावन विनोद*। न्यायवैशेषिक में उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में *कुसुमाञ्जलिकारिका टीका, गंगेश कृत तत्त्वचिन्तामणि* की टीका, *रघुनाथ शिरोमणिकृत चिन्तामणिदीधिति* पर टीका, *रघुनाथकृत लीलावतीदीधिति* पर टीका, *रघुनाथकृत बौद्धाधिकार दीधिति* पर टीका, *रघुनाथकृत किरणावलीप्रकाश विवृति* पर *भावप्रकाशिका* टीका, *पदार्थतत्त्वनिरूपण* की टीका, *चित्ररूपवादार्थ, वादपदार्थ, आख्यातवाद* टीका और *नञवाद* टीका प्रमुख हैं। इनके एक मात्र पुत्र और छात्र थे गोविन्द भट्टाचार्य। इन्होंने *न्याय रहस्य* या *न्याय संक्षेप* और *पद्यमुक्तावली* लिखी।

इसी शती में काशी की विद्वत्मण्डली में भवानन्द सिद्धान्तवागीश भी विद्यमान थे। इन्होंने *चिन्तामणिदीधिति* की टीका, *किरणावली* गुणप्रकाश *दीधिति* की टीका, *लीलावती* शिरोमणि की टीका, *चिन्तामण्यालोकसारमञ्जरी* तथा *शब्दार्थमञ्जरी* का प्रणयन किया। इनके दो प्रमुख शिष्य थे देवीदास विद्याभूषण और राघवेन्द्र भट्टाचार्य शतावधान। राघवेन्द्र भट्टाचार्य के पुत्र चिरंजीव भट्टाचार्य नव्यन्याय में रघुदेव न्यायालंकार के छात्र थे। चिरंजीव के ग्रन्थ हैं *काव्यविलास, विद्वन्मोदतरङ्गिणी, वृत्तरत्नावली और माधवचम्पू*।

काशीवासी बंगीय पण्डितों में जगद्गुरु म.म. भट्टाचार्य रामकृष्ण चक्रवर्ती का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके द्वारा निर्मित ग्रन्थ *चिन्तामणिदीधिति* टीका, *गुणदीधितिप्रकाश, लीलावतीदीधिति* टीका, *पदार्थ खण्डन* टीका तथा *आत्मतत्त्वविवेकदीधिति* टीका हैं।

प्रसिद्धि है कि दरभंगा राजवंश के मूल पुरुष महेश ठक्कुर ने काशी में आकर वेदान्त आदि शास्त्रों का अध्ययन किया था। इसी समय रघुपति उपाध्याय नामक एक दूसरे नैयायिक पण्डित काशी निवास करते थे। इसी शती के मध्य में पराशरगोत्रीय मालवब्राह्मण रामकृष्ण की ख्याति प्रसिद्ध मीमांसक के रूप में थी। उन्होंने पार्थसारथिमिश्र कृत *शास्त्रदीपिका* पर *युक्तिस्नेह प्रपूरणी* नाम की टीका लिखी थी। इसी समय काशी में प्रसिद्ध महाराष्ट्र सन्त कवि एकनाथ जी भी निवास करते थे। काशी में उन्होंने हिंदी तथा फारसी भाषा का ज्ञानार्जन किया था।

काशी में विद्यमान रहे तत्कालीन संन्यासी विद्वानों में नृसिंहाश्रम, मधुसूदनसरस्वती, रामतीर्थ, नृसिंहसरस्वती, प्रकाशानन्द आदि के नाम उल्लेखनीय रहे हैं। नृसिंहाश्रम द्वारा रचित ग्रन्थों के नाम हैं प्रकाशात्मदेव कृत *पञ्चपादिका विवरण* की टीका, *वेदान्ततत्त्व विवेक* और उसकी टीका *दीपन* (नामान्तर अद्वैतरत्नकोष), मल्लनाराध्य कृत *अभेदरत्न* की टीका *तत्त्वदीपन, अद्वैतदीपिका, भेदधिक्कार, संक्षेपशारीरक* की टीका *तत्त्वबोधिनी, वैदिक सिद्धान्तसंग्रह, पञ्चपादिका* की टीका *वेदान्तरत्नकोष, अद्वैतब्रह्मानुसन्धान* एवं *नृसिंह विज्ञापन* आदि। नृसिंहाश्रम के शिष्य नारायणश्रम ने *भेदधिक्कार* टीका सत्क्रिया, अद्वैतदीपिका टीका-विवरण, *अद्वैतसिद्धान्तसार संग्रह* आदि ग्रन्थों की रचना की। नारायणश्रम के शिष्य माधवाश्रम ने *स्वानुभवादर्श* नामक ग्रन्थ लिखा।

प्रसिद्ध वैदान्तिक आचार्य प्रकाशानन्द ने महाप्रभु चैतन्यदेव से प्रभावित होकर प्रबोधानंदसरस्वती नाम ग्रहण किया था। एक सौ चार ग्रन्थों के रचयिता, असाधारण पाण्डित्ययुक्त सुदूर दाक्षिणात्य पण्डित अप्पय दीक्षित ने भी कुछ काल तक काशी में निवास किया था। सुविख्यात वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती काशी में चौसट्टीघाट पर एक मठ में निवास करते थे। इन्होंने वेदांत विषय में अद्वैत सिद्धि, शंकराचार्य कृत *दशश्लोकी* की टीका *सिद्धान्त बिन्दु, वेदान्त कल्पलतिका* शंकर मिश्र के भेदरत्न के खण्डन में अद्वैतरत्नरक्षण, संक्षेप शारीरक की टीका संक्षेप शारीरकसार संग्रह एवं शंकराचार्य कृत *गीताभाष्य* पर *गूढार्थदीपिका* टीका आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया। भक्ति शास्त्र के क्षेत्र में उनके द्वारा *भगवद्भक्तिरसायन*, श्रीमद्भागवत के प्रथम अथवा प्रथम से तृतीय श्लोक तक तीन श्लोकों की टीका, पुष्पदन्त कृत *शिवमहिम्नस्त्रोत* की टीका रचे गए। काव्य में *आनन्दमन्दाकिनी* और नाटकों में *कृष्णकुतूहल* भी इन्हीं की रचना है। मधुसूदन सरस्वती के ग्रन्थ *सिद्धान्तबिन्दु* पर इनके ही एक शिष्य पुरुषोतम सरस्वती ने *बिन्दुसन्दीपन* नामक टीका लिखी, तो दूसरे शिष्य शेषगोविन्द ने *सिद्धान्तरहस्य* नामक टीका लिखी। कृष्णतीर्थ के शिष्य रामतीर्थ ने शंकराचार्यकृत *उपदेशसाहस्त्री* की टीका *पदयोजनिका*, संक्षेप शारीरक की टीका *अन्वयार्थ प्रकाशिका*, सुरेश्वर कृत *दक्षिणामूर्तिवार्तिक* (मानसोल्लास) की टीका, सदानन्द के *वेदान्तसार* पर *विद्वन्मनोरञ्जनी* टीका, *शारीरकरहस्यार्थ तत्त्व प्रकाशिका* एवं *शारीरकशास्त्रार्थ संग्रह रूप ग्रन्थ वाक्यार्थदर्पण* की रचना की। कृष्णानन्द स्वामी के शिष्य नृसिंहसरस्वती ने भी वेदान्तसार पर *सुबोधिनी* टीका लिखी।

इसी शती में ज्योतिर्विज्ञान के भी कई प्रसिद्ध ग्रन्थकार काशी में थे। उनमें नीलकण्ठ दैवज्ञ, रामदैवज्ञ, दिवाकर भट्ट और नृसिंहदैवज्ञ प्रमुख थे।

नीलकण्ठ दैवज्ञ विदर्भदेशीय गर्ग गोत्र के अनन्त दैवज्ञ के पुत्र थे और बादशाह अकबर के प्रधान ज्योतिषी थे। इन्होंने *ताजिकग्रन्थ* की रचना की थी। इनके अनुज थे रामदैवज्ञ, जिन्होंने *मुहूर्त चिन्तामणि, सारणी या करण ग्रन्थ, टोडरानन्द संहिता* आदि ग्रंथ लिखा। दिवाकर भट्ट के पिता रामभट्ट गोदावरी के उत्तरतटवर्तीय गोलग्राम के भारद्वाज गोत्रीय तैत्तिरीयशाखा के महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। ज्योतिर्विद, होने के साथ-साथ दिवाकर भट्ट अच्छे मीमांसक भी थे। ये ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ के शिष्य थे। दिवाकर के पौत्र नृसिंहदैवज्ञ विष्णुदैवज्ञ के गुरु और गणेशदैवज्ञ के भ्रातुष्पुत्र थे।

पुण्यस्तम्भ के लौगाक्षिकुलसंभूत काशीवासी केशवभट्ट की कृतियों में *तर्कदीपिका* और *नृसिंहचम्पू* प्रमुख हैं। प्रगल्भाचार्य के शिष्यों में प्रमुख बंगदेशीय बलभद्र मिश्र काशी में रहकर *तर्कशास्त्र, साहित्य, वैशेषिक, वेदान्त, महाभाष्य, मीमांसा* और धर्मशास्त्र का अध्यापन करते थे। इन्होंने *सप्तपदार्थी* का *टीका सन्दर्भ, तर्कभाषा* की टीका, *प्रकाशिका, तार्किक रक्षा* टीका, सर्वदेवसूरि कृत *प्रमाणमञ्जरी* की टीका, *वर्द्धमानकृत दव्यकिरणावली प्रकाश* की *विमल* टीका *बलभद्री* आदि ग्रन्थों का निर्माण किया था। प्रसिद्ध बंगीय विद्वान गौरीकान्त भट्टाचार्य सार्वभौम ने भी काशी में रहकर *तर्कभाषा* टीका *भावार्थदीपिका, वैशेषिकभाष्य विवरण, तत्त्वचिन्तामणिदीधिति विवेचन, सद्युक्तिमुक्तावली*, शंकराचार्य कृत *आनन्दलहरी* की टीका एवं *विदग्धमुखमण्डन* की टीका आदि ग्रन्थों की रचना की।

सत्रहवीं शताब्दी में काशी के विद्वानों में भट्ट वंश की ख्याति उनके पूर्वजों की भांति रही। भट्ट वंशीय रामकृष्ण के तीन पुत्र दिनकर, कमलाकर तथा लक्ष्मण और एक कन्या गंगा नाम की थी। दिनकर भट्ट का नाम दिवाकर भी था। इनके द्वारा रचित मुख्य ग्रन्थों में मीमांसा विषयक *शास्त्रदीपिका* टीका, धर्मशास्त्र विषयक *दिनकरोद्योत, शान्तिसार, प्रायश्चितसार* एवं *कर्मविपाकसार* था। इनके पुत्र विश्वेश्वर भट्ट अथवा गागाभट्ट अति प्रसिद्ध धर्मशास्त्री थे। इनके रचित ग्रन्थों के नाम हैं *धर्मशास्त्र में आपस्तम्ब पद्धति, अशौचदीपिका, कायस्थ धर्मदीप , तुलादान प्रयोग, दिनकरोद्योत* (पिता की अपूर्ण कृति जिसकी पूर्ति उन्होंने की), *सापिण्डयविचार, प्रयोगसार, समयनय*, मीमांसा में *मीमांसा कुसुमाञ्जलि, भाट्ट चिन्तामणि*; अलंकार में *चन्द्रलोक* की टीका *राकागम* आदि। इसके अतिरिक्त *शिवार्कोदय* भी इनका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

कमलाकर भट्ट दिनकर भट्ट के अनुज थे। इनका प्रधान ग्रन्थ *धर्मशास्त्र* का सर्वमान्य ग्रन्थ *निर्णयसिन्धु* है। इनके द्वारा प्रणीत अन्य ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं- धर्मशास्त्र में *धर्म कमलाकर* (*शान्ति कमलाकर* अथवा *शान्तिरत्न, शूद्र कमलाकर* अथवा *शूद्रधर्मतत्त्व, व्रत कमलाकर, पूर्व कमलाकर, दान कमलाकर, तीर्थ कमलाकर, नीति कमलाकर, तत्त्व कमलाकर* अथवा *शास्त्रतत्त्वकौतुक, संस्कार कमलाकर, सर्वशास्त्रार्थ निर्णय, कलिधर्म निर्णय, कर्मविपाकरत्न, कार्त्तवीर्य पद्धति, आह्निकलोप प्रायश्चित, त्रिपिण्डीविधि, गोत्र प्रवरदर्पण, प्रायश्चितरत्न* एवं *व्यवहाररत्न* आदि; वैदिकग्रन्थों में *सोमप्रयोग, बहुवृचाह्निक, रुद्रपद्धति* आदि; वेदान्त में *वेदान्त कौतुक* या *वेदान्तकुतूहल* तथा *वेदान्तरत्न*; मीमांसा में *शास्त्रदीपिका* टीका *आलोक, तन्त्रवार्तिक* टीका या *तात्पर्य, मीमांसा कुतूहल* आदि; भक्ति में *भक्तिरत्न*, अलंकार में *काव्य प्रकाश* टीका, *काव्य में रामकौतुक, सभादर्श कुतूहल* आदि। इनके पुत्र अनन्त भट्ट ने धर्मशास्त्र के दो ग्रन्थों *रामकल्पद्रुम* तथा *सुबोधिनी* की रचना की थी। *प्रयोगरत्न* नाम की एक अन्य पुस्तक भी अनन्त के नाम से प्रसिद्ध है।

कमलाकर भट्ट के अनुज एवं छात्र लक्ष्मण भट्ट ने धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ *आचाररत्न, आचारसार* एवं *गोत्रप्रवररत्न* की रचना की थी। साहित्य के क्षेत्र में इनकी कृति *नैषधचरित* की टीका *गूढार्थ प्रकाशिका* एवं *पद्य रचना* है। इनकी बहन गंगा का विवाह काले वंशज महादेव भट्ट काले के पुत्र दिवाकर भट्ट के साथ हुआ था जिन्होंने धर्मशास्त्रीय विषयों पर *आह्निकचन्द्रिका, कालचन्द्रिका* या *कालनिर्णय चन्द्रिका, दानचन्द्रिका स्मार्त प्रायश्चितसार, श्राद्धचन्द्रिका, पुनरूपनयन प्रयोग* एवं *पतितत्यागविधि* नामक ग्रन्थ लिखा था।

रामकृष्ण भट्ट के अनुज शंकर (प्रथम) के ज्येष्ठ पुत्र दामोदर भट्ट थे। इन्होंने अपने पिता की कृति द्वैतनिर्णय पर एक परिशिष्ट लिखा था। इसके अतिरिक्त *कलिवर्ज्यनिर्णय* तथा *प्रायश्चित* निर्णय भी इनकी प्रसिद्ध रचना है। इनके पुत्र सिद्धेश्वर भट्ट ने *संस्कारमयूख* अथवा *संस्कारभास्कर* तथा *संस्कारामृत* की रचना की थी।

शंकर (प्रथम) के द्वितीय पुत्र का नाम नीलकण्ठ भट्ट था। उन्होंने *भगवन्त भास्कर* नामक द्वादश मयूखों वाले, प्रसिद्ध धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण किया था। इनके अन्य ग्रन्थों के नाम हैं- *कुंडोद्योत, दत्तक निर्णय, व्यवहारतत्त्व* एवं *श्राद्धप्रकाश* आदि। नीलकण्ठ के शंकर भट्ट (द्वितीय) और भानुभट्ट नामक दो पुत्र थे। उनकी कन्या का विवाह भारद्वाजवंशीय बालकृष्णभट्ट के पुत्र एवं न्याय सिद्धान्त मुक्तावली प्रकाश के रचयिता महादेव भट्ट के साथ हुआ था। शंकर भट्ट (द्वितीय) विरचित ग्रन्थों के नाम हैं- *कुण्डोद्योत* की टीका *कुण्डभास्कर* अथवा *कुण्डोद्योतदर्शन, व्रतार्क, कुण्डार्क, कर्मविपाकार्क, सदाचारसंग्रह, एकादशीनिर्णय* एवं *व्रत कौमुदी*। शंकर भट्ट के अनुज भानु भट्ट ने पितामह शंकर भट्ट (प्रथम) के धर्मद्वैतनिर्णय का सार संग्रह रूप द्वैतनिर्णय- *सिद्धान्तसंग्रह, एकव्रतस्नानविधि* एवं *होमनिर्णय* आदि ग्रन्थ लिखे। नीलकण्ठ भट्ट की कन्या का विवाह भारद्वाजवंशीय नैयायिक महादेवभट्ट के साथ हुआ था। महादेव के दो पुत्र थे दिवाकर और दिनकर। दिवाकर भारद्वाज का मुख्य ग्रन्थ *धर्मशास्त्रसुधानिधि* धर्मशास्त्र का एक व्यापक महाग्रन्थ है। इनकी अन्य पुस्तकों में *भट्टमतानुसारी* मीमांसा ग्रन्थ *वृत्तिरत्नाकरादर्श* है। इनके प्रधान शिष्य प्रेमनिधि पन्त थे।

सत्रहवीं शती में ही काशी में खण्डदेव नामक मीमांसा शास्त्र के अद्वितीय आचार्य हुए थे। इनसे ही नव्यमीमांसा का सूत्रपात हुआ। इनके प्रणीत ग्रन्थों में *भाट्टदीपिका, मीमांसाकौस्तुभ* या *भाट्टकौस्तुभ, भाट्टरहस्य, मत्वर्थलक्षण* खण्डन आदि हैं। इनके शिष्य शम्भुभट्ट ने *भाट्टदीपिका* पर *प्रभावली* नामक टीका लिखी। इनके अन्य शिष्यों में पण्डितराज जगन्नाथ के पिता पेरुभट्ट अथवा स्वयं जगन्नाथ थे।

प्रसिद्ध वेदान्तिक संन्यासी नृसिंहाश्रम के शिष्य रङ्गोजि भट्ट थे। ये तैलंग ब्राह्मण लक्ष्मीधर के पुत्र और प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित के अग्रज थे। इन्होंने अप्पय दीक्षित से वेदान्त तथा मीमांसा का अध्ययन किया था। इनके ग्रन्थों में *अद्वैत चिन्तामणि* और *अद्वैतशास्त्रसारोद्धार* प्रमुख हैं। भट्टोजि दीक्षित ने भी नृसिंहाश्रम का शिष्यत्व ग्रहण किया था। उनके व्याकरण और धर्मशास्त्र के गुरु शेषकृष्ण थे। नारायण भट्ट के पुत्र शंकर भट्ट (प्रथम) से भी इन्होंने अध्ययन किया था। इन्होंने व्याकरण में *सिद्धान्तकौमुदी, प्रौढ़मनोरमा, शब्दकौस्तुभ, धातुपाठ निर्णय, लिङ्गानुशासनवृत्ति* जैसे ग्रौढ़ग्रन्थों की रचना की थी। धर्मशास्त्र में *लघुत्रिस्थलीसेतु, अशौचदशक, त्रिंशच्छलोकी* टीका, *अशौचनिर्णय, मासनिर्णय, सर्व सारसंग्रह, कालनिर्णय* संग्रह या *कालनिर्णय* संक्षेप, *प्रायश्चितविनिर्णय, धर्मशास्त्रसर्वस्व, तिथिप्रदीपक, तिथिनिर्णय* या *तिथिनिर्णयसंक्षेप, सापिण्डयनिर्णय, सूतकनिर्णय, गोत्रप्रवर निर्णय, निर्णयचन्द्रिका, आचार प्रदीप, तीर्थयात्राविधि, श्राद्धकाण्ड, चन्दनधारण विधि, प्रयोगरत्न* आदि तथा वेदान्त में *वेदान्ततत्त्वकौस्तुभ*, नृसिंहाश्रम रचित *वेदान्त तत्त्व* विवेक का टीका विवरण, *अद्वैत कौस्तुभ* एवं तत्त्व सिद्धान्त *चन्द्रिका* आदि हैं। इनके अन्य विविध ग्रन्थों में *तन्त्राधिकार निर्णय, वेदभाष्यसार, तन्त्र सिद्धान्त दीपिका* तथा *तैत्तिरीय सन्ध्याभाष्य* आदि प्रमुख हैं।

कौण्ड भट्ट ने व्याकरण विषय में *वैयाकरणसिद्धान्तदीपिका*,

वैयाकरणसिद्धान्तभूषण, वैयाकरण सिद्धान्तभूषणसार और स्फोटवाद तथा *न्यायवैशेषिक* में *तर्कप्रदीप, तर्करत्न, न्यायपदार्थ दीपिका* आदि ग्रन्थों की रचना की। इनके शिष्य थे वीरतारमणिराव पण्डितेन्द्र जिन्होंने स्वगुरुरचित *भूषणसार* पर *वैयाकरणमतोन्मज्जन* नामक एक संक्षिप्त टीका लिखी। भट्टोजि के पुत्र भानुजी दीक्षित थे। इन्हें वीरेश्वर दीक्षित और रामाश्रम (रामभद्राश्रम) नाम से भी जाना जाता था। इनके रचे गए ग्रन्थों में *दानविवेक, अमरकोष* की टीका *व्याख्यासुधा* या *प्रबोधिनी, मनोरमामण्डन* आदि प्रमुख हैं। इनके प्रमुख शिष्य वरदराज दीक्षित का यश इस काल के वैयाकरणों में व्याप्त था। इनकी रचनाओं में *मध्यसिद्धान्त कौमुदी, लघुसिद्धान्त कौमुदी* तथा *सार सिद्धान्त कौमुदी* व्याकरण के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने *गीर्वाणपदमञ्जरी* अथवा *संस्कृतमञ्जरी* की रचना की थी। वरदराज कृत *मध्यसिद्धान्त कौमुदी* पर रामचन्द्र शर्मा ने *मध्यमनोरमा* नामक टीका लिखी थी।

भट्टोजि के ही एक अन्य शिष्य नीलकण्ठ शुक्ल ने व्याकरण में *शब्द शोभा* नामक ग्रन्थ लिखा, यद्यपि इन्होंने *अलंकार शास्त्र* का अध्ययन भट्टमण्डन से किया था। काव्य के क्षेत्र में इन्होंने *शृङ्गारशतक, ओष्ठशतक* या *अधरशतक, जारजातशतक* तथा *चिमनीचरित* आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया। शेषचक्रपाणि ने व्याकरण में *परमतखण्डन* नामक ग्रन्थ लिखा था। इनके पौत्र रामचन्द्र ने *धर्मानुबन्धित श्लोक चतुर्दशी* की व्याख्या की थी।

सत्रहवीं शताब्दी के काशी के पण्डितों में उज्जवल नक्षत्र के रूप में प्रकाशयमान पण्डितराज जगन्नाथ पेरु या पेरमभट्ट के पुत्र थे। इनके गुरुजनों में व्याकरण महाभाष्य के गुरु शेषवीरेश्वर एवं इनके पिता, अद्वैत वेदान्त के ज्ञानेन्द्र भिक्षु, न्यायशास्त्र के महेन्द्र और पूर्वमीमांसा के खण्डदेव थे। अलङ्कारशास्त्र में इनके रचित ग्रन्थों में, *सर्वप्रसिद्ध रसगङ्गाधर* और *चित्रमीमांसाखण्डन* प्रमुख हैं। काव्य शास्त्र में *भामिनीविलास, प्राणाभरण, आसफविलास, गङ्गालहरी या पीयूष लहरी, अमृतलहरी, करुणालहरी, जगदाभरण, लक्ष्मीलहरी, यमुना वर्णन* आदि, इनकी गद्य-पद्यमय रचनाएं प्रसिद्ध हैं।

विट्ठल के पुत्र रामचन्द्र ने वैदिक विषय में *शाङ्खायनगृहसूत्र पद्धति* (आधान पद्धति) तथा धर्मशास्त्र में *कृत्यरत्नावली, काल निर्णय प्रकाश* और *कुण्डश्लोकदीपिका* आदि ग्रन्थों की रचना की थी। इनके एक शिष्य ईश्वरजित् थे।

इसी काल में काशी में ब्रह्मज्ञानी वंश के कौण्डिन्यगोत्रीय महाराष्ट्र ब्राह्मण विश्वनाथ के पौत्र एवं दत्त के पुत्र लक्ष्मण पंडित निवास करते थे। नागेश और नारायण लक्ष्मणभट्ट के मामा थे। उनके अध्यापक गुरु शुक्ल दीक्षित थे और तर्क शास्त्र के अध्यापक माधव थे। लघुवार्तिकटीकाकार उत्तमश्लोकतीर्थ इनके वेदान्त के गुरु थे। इन्होंने काव्यसाहित्य में *राघवपाण्डवीय* टीका- *सारचन्द्रिका सारस्वत अद्वैतसुधा* तथा वैद्यक में *योगचन्द्रिका* की रचना की थी। वेदान्त में इनकी रचना अद्वैत सुधा है जो वेदान्तमतानुसार *रघुवंश* की व्याख्या है।

उत्तम श्लोकतीर्थ के द्वितीय शिष्य नीलकण्ठचतुर्धर का काशी में आविर्भाव इस शती के अन्त में हुआ। नीलकण्ठ चतुर्धर महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार के रूप में जाने जाते हैं। इनके द्वारा प्रणीत वेदान्त विषयक ग्रन्थों में *वेदान्तकतक, मन्त्रशारीरक, आनंदमयाधिकरणविचार* तथा *शिवाद्वैतनिर्णय* पुराण विषय में *महाभारत* की टीका *भावदीप* या भावदीपिका, *हरिवंश* की टीका, *मन्त्रभागवत* की टीका- *मन्त्र रहस्य प्रकाशिका, मन्त्ररामायण की टीका, मन्त्रकाशीखण्डटीका, गणेशगीता*- टीका एवं स्वरचित टीका सहित सौरपौराणिकमत समर्थन; तन्त्र विषय में *शिवताण्डव* टीका अनूपाराम; विविध विषयों में *गणेश उपासना* विषयक ग्रन्थ, *ज्ञानाङ्कुश, रुद्रमीमांसा, रुद्रसारसंग्रह* की टीका तथा विधुराधान विचार या अपत्नीकाधान विचार आदि हैं। इनके अनुज शिवचतुर्धर नीलकण्ठ ने *षण्णवतिश्राद्ध* प्रयोग की रचना की थी।

इसी शती में मौनिवंश के कृष्ण भट्ट या तात भट्ट मौनी के पुत्र रंगनाथ भट्ट प्रसिद्ध लेखक थे। इन्होंने *उत्तररामचरित* की टीका लिखी थी। बालकृष्ण के द्वितीय पुत्र ने *विक्रमोर्वशी* की टीका रची थी। श्रेष्ठ स्मार्त म.म. दामोदार भट्ट के पुत्र गौरीपति भट्ट ने *आचारादर्श* की टीका- *बोधिनी* लिखी। इसी काल में आपाजी भट्ट के पुत्र भास्कर अग्निहोत्री (हरि) ने *पद्यामृततरङ्गिणी* की रचना काशी में की थी।

काशीवासी देवबंशीय पण्डितों का सन्दर्भ सन्त एकनाथ से आरम्भ होता है। उनके वंश के आपदेव (प्रथम) और अनन्तदेव (प्रथम) की चर्चा पूर्व में हो चुकी है। अनन्तदेव (प्रथम) के पुत्र आपदेव (द्वितीय) थे। आपदेव (द्वितीय) के दो पुत्र थे- अनन्तदेव (द्वितीय) एवं जीवदेव। आपदेव (द्वितीय) की रचनाओं में धर्मशास्त्र में *स्मृतिचन्द्रिका*, मीमांसा में *मीमांसान्याय प्रकाश* तथा *अधिकरणचन्द्रिका*, वेदान्त में *वेदान्तसार* की टीका- *बालबोधिनी*, भक्तिशास्त्र में *भक्तिकल्पलता*, वैदिक विषयों में *रुद्रपद्धति* तथा विविध विषयों में *वादकुतूहल* आदि प्रमुख ग्रंथ हैं। इनके ज्येष्ठ पुत्र अनन्तदेव (द्वितीय) ने धर्मशास्त्र में *स्मृतिकौस्तुभ* नामक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी। इनके अन्यान्य ग्रन्थों में धर्मशास्त्र में *प्रायश्चित दीपिका* तथा *कालनिर्णय बिन्दु; वैदिक में अग्निहोत्र प्रयोग, आग्रयण प्रयोग, चतुर्मास्य प्रयोग, अन्त्येष्टि पद्धति* एवं *नक्षत्र सत्र प्रयोग;* भक्तिशास्त्र में *भगवन्नाम कौमुदी* की टीका *प्रकाश भगवद्भक्तिनिर्णय* एवं *मथुरासेतु*, मीमांसा में स्वपितृकृत मीमांसान्याय प्रकाश की टीका- *भाट्टालङ्कावर* एवं विविधग्रन्थों में *व्याक्यभेदवाद* तथा *देवतातत्त्व* विचार आदि प्रमुख हैं। आपदेव (द्वितीय) के कनिष्ठ पुत्र जीवदेव ने धर्मशास्त्र में *अशौचदीधिति, गोत्रप्रवरनिर्णय* और *अशौच निर्णय* तथा मीमांसा में *भट्ट भास्कर* लिखा।

इसी समय काशी में पुणताम्बर वंश भी सम्मान्य था। इस वंश के अनन्त पन्त ने पण्डित समाज में विशेष प्रसिद्धि पायी थी। इनकी रचनाएं प्रायः अलंकार शास्त्र तथा नाटक-काव्य की टीका के रूप में हैं। इनके रचित ग्रन्थों में *रसमञ्जरी* की टीका *व्यङ्ग्यार्थ कौमुदी, गोवर्द्धन आर्यासप्तशती* की टीका- *व्यङ्ग्यार्थ चन्द्रिका* तथा *मुद्राराक्षस पूर्वकथानक* आदि हैं। इनके पुत्र मुकुन्द ने *सत्पद्यमुक्तवाली* नामक सुभाषित ग्रन्थ का संग्रह किया था। इस वंश के सर्वप्रसिद्ध पण्डित, नैयायिक तथा ग्रन्थकार का नाम महादेव पन्त था। इन्होंने *तत्त्वचिन्तामणिदीधिति* की *भवान्दी टीका* पर एक विशाल टीका, *भवान्दीप्रकाश* रची थी। सर्वोपकरिणी नाम से अपनी इस टीका का एक लघुसंस्करण भी इनके द्वारा तैयार किया गया था। इनके अन्य ग्रन्थों में *न्यायकौस्तुभ, गदाधरकृत शक्तिवाद* की टीका, *ईश्वरवाद, सादृश्यवाद, अनुमिति तथा परामर्श का कार्यकारणभाव विचार, ब्राह्मत्वजाति विचार, सन्निकर्ष हेतुताविचार तथा भवानन्द के दशलकार पर सारमञ्जरी टीका* आदि प्रमुख हैं। गोदावरी तीस्थ धारापुर ग्राम के पूर्व निवासी काशीवासी माधवदेव ने *न्यायसार तर्कभाषाव्याख्या मञ्जरी शब्द प्रामाण्यवाद* एवं *रामभद्र सार्वभौमकृत गुण रहस्य* की टिप्पणी लिखी।

सत्रहवीं शताब्दी के ज्योतिर्विदों में नीलकण्ठ दैवज्ञ के पुत्र गोविन्द का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने *पितृव्य रामदैवज्ञकृत मुहूर्तचिन्तामणि* की टीका *पीयूषधारा* रची। इसके अतिरिक्त *प्रबोधचन्द्रोदय* नाटक पर इनकी लिखी एक विवृति भी मिलती है। पूर्व की शती में प्रसिद्ध ज्योतिर्विद दिवाकर भट्ट के पांच पुत्र थे- श्रीकृष्ण, विष्णु, मल्लारि, केशव और विश्वनाथ। इनमें श्रीकृष्ण के दो पुत्र हुए- नृसिंह और शिव। नृसिंह के चार पुत्र थे- दिवाकर, कमलाकर, गोपीनाथ तथा रंगनाथ। ग्रहलाघवकार

गणेशदैवज्ञ के भतीजे नृसिंह दैवज्ञ से दिवाकर भट्ट के द्वितीय पुत्र विष्णुदैवज्ञ ने ज्योतिष का अध्ययन किया था। ये विष्णुदैवज्ञ बल्लालदैवज्ञ के पुत्र श्रीकृष्ण दैवज्ञ के गुरु भी थे। विष्णुदैवज्ञ ने *सौर पक्षगणित* की रचना की थी। इनके भतीजे नृसिंह दैवज्ञ ने अल्पवय में ही *सूर्य सिद्धान्त* की टीका *सौरभाष्य* तथा *भास्करकृत सिद्धान्त शिरोमणि* की व्याख्या *वासनावार्तिक* की रचना की। नृसिंह के अनुज शिवदैवज्ञ ने गणित में *अनन्त सुधारस* की विवृति और फलित में *मुहूर्त चिन्तामणि* नामक ग्रन्थ लिखा। नृसिंह के ज्येष्ठ पुत्र दिवाकर भट्ट ने *पद्धति प्रकाश* अथवा *पद्यजातक, मकरन्दजातक, केशवरचित पद्धति* की टीका *गूढ़मनोरमा* तथा *गणित तत्त्व चिन्तामणि* की रचना की थी। नृसिंह के द्वितीय पुत्र कमलाकर भट्ट ने *सिद्धान्त तत्त्व विवेक* का प्रणयन किया था।

बल्लाल दैवज्ञ का आदि निवास विदर्भदेशस्थ पयोष्णी नदी के तटवर्ती दधिग्राम था। ये यजुर्वेदीय देवरातगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पांच पुत्र थे- राम, कृष्ण, गोविन्द, रंगनाथ और महादेव। कृष्ण दैवज्ञ जहांगीर की सभा में प्रधान ज्योतिर्विद् थे। इनके विरचित ग्रन्थों में भास्कराचार्यकृत *लीलावती* की टीका *कल्पलतावतार, भास्कराचार्यकृत बीजगणित* की टीका *नवाङ्कुर* तथा *श्रीपतिकृत जातक पद्धति* की टीका। रंगनाथ दैवज्ञ ने सूर्य सिद्धान्त की गूढार्थ प्रकाशिका टीका लिखी। इनके पुत्र मुनीश्वर अथवा विश्वरूप ने ज्योतिष में *सिद्धान्त सार्वभौम* नामक अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की थी। इनके अन्य ग्रन्थ हैं भास्कार कृत *लीलावती* की टीका *निसृष्टार्थदूती, सिद्धान्त शिरोमणि* की टीका *मरीचि*, पाटीसार तथा नृसिंह दैवज्ञ के पुत्र रंगनाथकृत भङ्गी-विभङ्गी का खण्डन। सम्राट अकबर द्वारा ज्योतिर्विद उपाधि से सम्मानित नृसिंह के पुत्र रघुनाथ जोशी कृत मुहूर्त माला का प्रणयन भी इसी काल में हुआ था।

सत्रहवीं शती के संन्यासी विद्वानों में नारायणतीर्थ विशेषरूप से लब्ध प्रतिष्ठ थे। इनका नामान्तर नारायण भिक्षु था। इनके गुरु शास्त्रीय थे- वासुदेवतीर्थ और आध्यात्मिक गुरु थे रामगोविन्दतीर्थ। इनके ग्रंथों में वेदांत के सिद्धांतबिंदु की टीका *सिद्धांतचंद्र* अथवा *लघुव्याख्या, वेदान्तविभावना* टीका, *न्यायवैशेषिक* में *न्यायकुसुमाञ्जलि-कारिकाओं की व्याख्या, भाषापरिच्छेद* की टीका और *दीधितिटीका*, मीमांसा में भाट्टभाषाप्रकाशिका, सांख्ययोग में *सांख्यतत्वकौमुदी* पर टीका *तत्त्वचन्द्र, सांख्यकारिका* की टीका *सांख्यचंद्र, योगचन्द्रिका* तथा *योगसूत्रवृत्ति गूढार्थद्योतनिका*, भक्तिशास्त्र में शाण्डिल्यकृत *भक्तिसूत्र* की टीका *भक्तिचन्द्रिका* तथा *सटीक भक्त्यधिकरण माला*। बंगदेशीय, गौड़ ब्रह्मानंद नाम विख्यात ब्रह्मानंद सरस्वती नारायणतीर्थ के शिष्य थे। इन्होंने *मधुसूदनसरस्वती* कृत *अद्वैतसिद्धि* की टीका *अद्वैतचन्द्रिका लघुचन्द्रिका* और *गुरुचन्द्रिका, अद्वैत सिद्धान्त विद्योतन* और *सिद्धांत बिन्दु* की टीका न्यायरत्नावली। स्वयं प्रकाशानंद अद्वैतानन्द के शिष्य थे। इन्होंने रत्नगिरिदीक्षित पुत्र वैद्यनाथशास्त्री-*विरचित परिभाषार्थ* संग्रह की टीका *परिभाषार्थसंग्रहचन्द्रिका* तथा *ब्रह्मसूत्रभाष्यरूप वेदान्तनयनभूषण* (वेदान्तभूषण) इन दो ग्रंथों की रचना की। इनके एक शिष्य थे, वेदान्ती महादेव जिन्होंने *विष्णुसहस्रनाम* की टीका, *सांख्यसूत्र* तथा *योगसूत्र* पर वृत्ति, *तत्वचन्द्रिका* एवं *अमरकोश* की *बुधमनोहरा* टीका का प्रणयन किया। स्वयं प्रकाशानंद के द्वितीय शिष्य अच्युत कृष्णतीर्थ के अप्पय दीक्षित कृत *सिद्धांतलेश* की टीका *कृष्णालङ्कार* की रचना की थी। गोपाल सरस्वती के वेदांती शिष्य रामानंद सरस्वती ने *ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य* की टीका- *रत्नप्रभा, ब्रह्मसूत्रवृत्ति ब्रह्मामृत-वर्षिणी* और *पञ्चपादिका* विवरण की टीका- *विवरणोपन्यास* की रचना की थी।

इस शती के काशी निवासी बंगीय विद्वानों में त्रिलोचनदेव न्याय पञ्चानन ने *न्यायकुसुमाञ्जलि* की एक टीका लिखी थी। नैयायिक म.म. रामचंद्र सिद्धांतवागीश ने *तत्वचिंतामणि दीधिति* पर *विवेचन* नामक टीका रची। *न्यायसूत्रवृत्ति मितभाषिणी* के रचयिता महादेव भट्टाचार्य भी इसी शती में काशी में विद्यमान थे। हरिराम तर्कवागीश के शिष्य तथा गदाधर भट्टाचार्य के सतीर्थ्य बंगदेशीय नैयायिक पंडित रघुदेव न्यायालंकार ने काशी में रहकर *तत्वचिंतामणि* की टीका, *तत्वदीपिका, निरुक्तिप्रकाश, न्यायकुसुमाञ्जलिकारिकाव्याख्या, द्रव्यसार संग्रह, सिद्धांततत्व, शिरोमणिकृत पदार्थ खंडन की व्याख्या, आख्यातवाद टीका, मुक्तिवाद, सामग्रीवाद, अनुमितिपरामर्शवाद, निश्चयत्वनिरुक्ति* इत्यादि ग्रंथों का निर्माण किया। प्रसिद्धि है कि प्रसिद्ध जैन पंडित यशोविजयमणि ने काशी में रहकर इनसे नव्य-न्याय का अध्ययन किया था।

इसी शती में रामरामभट्टाचार्य, राघवेन्द्र भट्टाचार्य शतावधान और उनके पुत्र चिरंजीव, रामभद्रभट्टाचार्य के शिष्य जयराम न्यायपञ्चानन का अविस्मरणीय साहित्यिक योगदान रहा है। जयराम की रचनाओं में *तत्वचिंतामणि दीधिति* की *गूढार्थविद्योतन* टीका, *गुणकिरणावली, प्रकाशदीधित पर विवृति, न्यायसिद्धांतमाला, पदार्थमाला* अथवा *पदार्थमणिमाला* अथवा *शब्दमाला, कारकवाद* तथा *समासवाद*, आलोक के *शब्दखण्ड* पर *रहस्य* नामक टीका, *न्याय कुसुमाञ्जलिकारिकाव्याख्या, आख्यातवाद व्याख्या, अन्यथाख्यातिवाद, नञ्वादव्याख्या एवं काव्यप्रकाश* की टीका आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इनके दो प्रमुख शिष्य-लौगाक्षिभास्कर और जनार्दन व्यास ने क्रमशः *जयरामकृत पदार्थमाला* की व्याख्या- *प्रकाश* तथा *न्यायसिद्धांतमंजरी* की टीका लिखी थी। लौगाक्षिभास्कर ने मीमांसाशास्त्र में *अर्थसंग्रह* की रचना कर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। सदाशिवेन्द्र सरस्वती और गोपालेन्द्र सरस्वती के शिष्य शिवयोगी भिक्षु उपाधि से विभूषित रामेश्वर ने *अर्थसंग्रह* पर कौमुदी नाम की व्याख्या लिखी।

मुगल सम्राट शाहजहां से सर्वविद्यानिधान उपाधि प्राप्त यशस्वी विद्वान् कवीन्द्राचार्य सरस्वती भी इसी काल में विद्यमान थे। इनके प्रणीत ग्रंथों में *कवीन्द्र कल्पद्रुम, दशकुमारचरित* की टीका, *योगभास्करयोग*, शतपथ ब्राह्मण का भाष्य, *हंसदूत* काव्य तथा *कवीन्द्रकाव्यलता* आदि प्रमुख हैं।

काञ्ची के दक्षिण एनानदी के तटवर्ती अनन्तग्राम के मूल निवासी आत्रेयगोत्रीय द्राविड़ समरपुंगवदीक्षित के पुत्र का नाम तिमुम्मल दीक्षित था जो व्याकरण, मीमांसा तथा वेद में निष्णात थे। श्रौतकर्म में निपुण श्रीनिकेतन इन्हीं के पुत्र थे। श्रीनिकेतन के पुत्र श्री निवासभट्ट उस समय काशी में निवास करते थे। ये जालंधर पीठ के ललितार्चनचन्द्रिका तथा लघुचन्द्रिकाकार सुन्दराचार्य अथवा सच्चिदानंदनाथ से तांत्रिक दीक्षा ग्रहण कर विद्यानंद नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके द्वारा रचित तांत्रिक ग्रंथों में *भैरवाचार्यपारिजात, सौभाग्य रत्नाकर, सपर्याक्रमकल्पवल्ली, शिवार्चनचन्द्रिका* एवं *सौभाग्यसुभगोदय* अत्यंत उपादेय हैं। इनके पुत्र जगन्निवास गोस्वामी थे। वे भी तांत्रिक थे और देश भर के अनेक राजाओं से पूजित थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र शिवानंद गोस्वामी श्रीविद्या के अनन्य उपासक थे। इन्होंने *सिंहसिद्धांत सिंधु* नामक ग्रंथ की रचना की थी। *लक्ष्मीनारायणार्चकौमुदी, कुलप्रदीप प्रभृत* ग्रंथों की भी रचना का श्रेय इन्हीं को दिया जाता है। शिवानंद के अनुज जनार्दन ने अपने पितामह की कृति *शिवार्चन चन्द्रिका* के आधार पर मंत्रचंद्रिका का निर्माण किया था।

अठारहवीं शताब्दी के विद्वानों में महीधर के वंशज वेणीदत्त की प्रसिद्धि तर्कवागीश भट्टाचार्य के नाम से हुई। महीधर के पुत्र कल्याण थे। कल्याण के पुत्र थे राम और लक्ष्मण। वेणीदत्त लक्ष्मण के पौत्र तथा वीरेश्वर के पुत्र थे। इनके विरचित ग्रंथों में *अलंकारचन्द्रोदय, पदार्थमण्डन, मुक्तिविमर्श, तर्कधुन्धध्वंसन, परामर्शविमर्श, भेदजयश्री* आदि प्रसिद्ध हैं।

इसी शती के विद्वानों में अत्यंत प्रसिद्ध प्रेमनिधिपन्त कूर्मांचलीय भारद्वाजगोत्रीय उमापति पंत के पुत्र तथा दिवाकर भारद्वाज के शिष्य थे। उनके विरचित धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में *प्रायश्चित्त प्रदीप, घृतदानपद्धति* या *घृतदानरत्न,*

प्रयोगरत्न और *समयाराम*, तंत्रशास्त्रीय ग्रंथों में *शारदातिलक* की टीका *शब्दार्थ चिंतामणि*, *शिवताण्डवटीका मल्लादर्श*, *कार्तवीर्य सपर्या*, *नित्याप्रयोगरत्नाकर*, *पृथ्वीप्रमोदय* तथा *तन्त्रराज* की टीका *सुदर्शना*, भक्तिशास्त्र में भक्तिरङ्गिणी आदि हैं।

भारद्वाजवंशीय दिनकर भट्ट की कन्या का विवाह नारायणजड़े के साथ हुआ था। इनके पुत्र का नाम था– गंगारामजड़े जो नैयायिक और रसशास्त्र के विद्वान् थे। इनका सर्वप्रसिद्ध ग्रंथ *न्यायवैशेषिक* में तर्कामृत पर *तर्कामृतचषक* नाम की व्याख्या और उसके ऊपर तात्पर्य नाम की टीका है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अलंकारशास्त्रीय ग्रंथ *भानुदत्तकृत रसतरङ्गिणी* की व्याख्या *नौका*, *गौरिकसूत्र*, *मणिमाला* तथा *मुक्तावली प्रकाश* (दिनकरी) का खण्डन ग्रंथ दिनकरी खण्डन आदि ग्रंथों की भी रचना की थी।

इसी शती में काशी में पौराणिक भक्त मण्डली में सदानन्द व्यास का नाम प्रसिद्ध था। ये पंजाब के रावलपिंडी जिले के कुन्त्रीलाग्राम के सारस्वत ब्राह्मण थे और बाबा रामदयालु नामक एक उदासीन साधु के साथ काशी आए थे। उनके रचित ग्रंथों में *सटीक अद्वैतसिद्धि सिद्धांतसार*, *सटीक प्रत्यक्तत्व चिंतामणि*, *स्वरूप निर्णय*, *सटीक दशोपनिषत्सार*, *तत्त्वविवेकटीका* आदि वेदान्त विषयक तथा *गीताभावप्रकाश*, *महाभारततात्पर्यप्रकाश*, *रामायणतात्पर्यप्रकाश*, *महाभारत सारोद्धार*, *शंकरदिग्विजयसार* आदि पुराणेतिहास विषयक ग्रंथ हैं। कूर्मांचल की राजधानी अल्मोड़ा के पाटिया ग्राम के काशी निवासी पुत्र विश्वेश्वर ने काव्य में सटीक *आर्यासप्तशती*, *रुक्मिणी परिचय*, *नैषधीय महाकाव्य* की टीका *भावप्रदीप*, *मन्दारमञ्जरी*, अलंकार में *अलंकार कौस्तुभ*, *अलंकार कुलप्रदीप*, *अलंकारमञ्जरी* तथा *रसमञ्जरी* टीका *रसचन्द्रिका*; व्याकरण में *सिद्धांतसुधानिधि* तथा न्याय में *तर्क कौतूहल* नाम के ग्रंथों का प्रणयन किया।

इस शताब्दी के प्रथम पाद में नागोजि भट्ट अथवा नागेश भट्ट काले का नाम वैयाकरण तथा दार्शनिक समाज में विशेष प्रसिद्ध था। भट्टोजी दीक्षित के पौत्र और वीरेश्वर के पुत्र हरिदीक्षित ने इन्हें महाभाष्य पढ़ाया था। इनके न्यायशास्त्र के गुरु पं. रामराम भट्टाचार्य थे। इनकी रचनाएं हैं व्याकरण में *कैयटकृत महाभाष्यप्रदीप* की टीका *उद्योग*, *परिभाषिन्दुशेखर*, *वैयाकरण सिद्धांतमञ्जूषा* (बृहत् तथा लघु), *शब्देन्दु शेखर* (बृहत् तथा लघु), *शब्दकौस्तुभ* की टीका-*विषमी* तथा *सिद्धांतकौमुदी* की टीका। धर्मशास्त्र में *तीर्थेन्दुशेखर*, *आचारेन्दुशेखर*, *तिथिन्दुशेखर*, *श्राद्धेन्दुशेखर*, *प्रायश्चितेन्दुशेखर* या *प्रायश्चितसारसंग्रह*, *अशौचनिर्णय*, *तिथिनिर्णय*, *सापिण्डीमञ्जरी*, *सापिण्डयदीपिका* या *सापिण्डयनिर्णय* या *सापिण्डय प्रदीप*, गागाभट्ट कृत *कायस्थ धर्म प्रदीप* की टीका, *गोत्रप्रवर निर्णय* तथा *व्रात्यप्रायश्चितनर्णय*।

अलंकार शास्त्र में गोविन्दठक्कुर कृत *काव्य प्रदीप* की टीका *उद्योत*, *कुवलयानन्द* की टीका *अलंकार सुधा*, *रसगंगाधर* की टीका *गुरुमर्मप्रकाश*, *रसतरङ्गिणीटीका*, *रसमञ्जरीप्रकाश*। इतिहासपुराण में *वाल्मीकि रामायण* की टीका *तिलक*, *अध्यात्मरामायण* टीका, *दुर्गासप्तशती* की टीका। काव्य में *गीतगोविन्द* टीका तथा *सुधालहरी* टीका, सांख्ययोग में *सांख्यसूत्र* टीका तथा *योगसूत्र* टीका।

मुद्गलगोत्रीय महादेव भट्ट के पुत्र वैद्यनाथ पायगुण्डे नागेश भट्ट के प्रमुख शिष्य थे। व्याकरण विषय में इनसे विरचित ग्रंथों में *शब्दकौस्तुभ* की टीका *प्रभा*, *शब्दरत्न* की टीका *भावप्रकाशिका*, *उद्योत* की टीका छाया, *लघुशब्देन्दुशेखर* की टीका *विदस्थिमाला*, *परिभाषेन्दु* की टीका *गदा* और *काशिका*, *मञ्जूषा* की टीका कला, *लघुशब्दरत्न* की टीका तथा 'र' प्रत्यय का खण्डन आदि हैं। इनके पुत्र बालम्भट्ट या बालकृष्ण भट्ट का नाम धर्मशास्त्र के इतिहास में अत्यंत प्रसिद्ध है। इनके ग्रंथों में मिताक्षरा की *लक्ष्मी* नामक टीका, *धर्मशास्त्रसंग्रह*, *जीवत्पितृक कर्तव्य निर्णय* तथा *उपाकृतितत्व* आदि अति प्रसिद्ध हैं। बालम्भट्टके शिष्य मनुदेव अथवा गोपाल ने *वैयाकरणभूषणसार* की *लघुभूषणकान्ति* नामक टीका रची थी।

अठारहवीं शताब्दी में सकल विद्याओं में निष्णात और महान् तांत्रिकमूर्धन्य गुर्जर विद्वान आचार्य भास्कराय दीक्षित का काशी में आगमन हुआ था। ये भासुरानन्दनाथ अथवा भास्करानन्द नामों से भी जाने जाते हैं। इन्होंने सेतुबन्ध से हिमालय तक तथा कामरूप से कश्मीर तक के भ्रमण में तत्तत् प्रदेशों की पण्डित-मण्डली को अपने असाधारण वैदुष्य एवं अपूर्व शास्त्रार्थ-विचार कौशल से संतुष्ट किया था और उनसे सम्मानित हुए थे। इन्होंने उपनिषद्, वेदांत, तंत्रशास्त्र व्याकरण, छंदशास्त्र धर्मशास्त्र, मीमांसा आदि विषयों में अनेक प्रौढ़ग्रंथों की रचना की थी। इनके समस्त-ग्रंथों का प्रकाशन *भास्कराय-ग्रंथावली* के अंतर्गत सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी द्वारा किया जा रहा है।

इसी शती में भड, भट्ट और भट्टाभट्ट उपाधि से विभूषित काशीनाथ भट्ट काशी में निवास करते थे। उनके पिता का नाम जयराम भट्ट तथा पितामह का शिवराम भट्ट था। अपने ग्रंथों में गुरु के रूप में इन्होंने अनन्त एवं वैद्यनाथ का स्मरण किया है। इनका दीक्षानाम शिवानन्द था। इन्होंने शताधिक लघु ग्रंथों का प्रणयन किया है जिसकी सूची सारस्वतीसुषमा के पण्डितराज श्रीराजेश्वरशास्त्रिद्रविण विशेषांक में प्रकाशित है। काशी के विद्वानों में इनकी प्रसिद्धि दक्षिणाचारमत के प्रवर्तक के रूप में थी।

महाराष्ट्र ब्राह्मण केशव दीक्षित काले के पुत्र हरि दीक्षित ने कोण्ड भट्ट के *वैयाकरण भूषणसार* पर *काशिका* नामक व्याख्या लिखी थी। महाराजा बलवन्त सिंह के सभा पण्डित परमानन्द पाठक ने फलित ज्योतिष में *प्रश्नमाणिक्य माला* का प्रणयन किया। महाराजा चेत सिंह के सभा पण्डित बलभद्र चेतसिंह *विलास* नामक महाकाव्य लिखा। कश्यपगोत्रीय प्रसिद्ध ज्योतिर्विद पण्डित शिवलाल पाठक ने *बाल्मीकि रामायण* की टीका रची। इनके गुरु पण्डित लक्ष्मीपति को काशी में सिद्धांतज्योतिष विशेष प्रचारक होने का गौरव प्राप्त है।

काशी की विद्युत् परम्परा के इतिहास में 28 अक्टूबर 1791 का दिन विशेष महत्त्व का रहा है। इसी दिन काशी राजकीय संस्कृत पाठशाला की स्थापना हुई थी। इसकी स्थापना में ईस्ट इंडिया कम्पनी के तत्कालीन अधिकारी जोनाथन डंकन का प्रमुख योगदान रहा है। यह संस्कृत विद्यालय कालान्तर में गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहां पर प्रायः सभी शास्त्रीय विषयों की पढ़ाई होती थी। इस विद्यालय में प्रथम और द्वितीय प्रिंसिपल क्रमशः जे. म्योर और जे.आर. बेलेन्टाइन नियुक्त हुए थे। इनके कार्यकाल में इंग्लैण्ड के इतिहास, पश्चिमी दर्शन, नीतिशास्त्र, पश्चिमीविज्ञान आदि विषयों पर संस्कृत में नवीन ग्रंथों की रचना हुई। साथ ही संस्कृत सीखने के लिए एक *लघुग्रन्थ*, *लघु सिद्धान्त कौमुदी*, *सांख्यसूत्र*, *वेदान्तसार* आदि का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ।

इसके अनन्तर आर.टी.एच. ग्रिफिथ और डॉ. जी.ठीबो प्रिंसिपल बने। इनके कार्यकाल में संस्कृत के प्राचीन- ग्रंथों का अनुवाद-कार्य और *काशी विद्या सुधानिधि* अथवा *दि पण्डित* नामक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इसके पश्चात डॉ. आर्थर बेनिस नियुक्त हुए। उस समय के प्रख्यात चिकित्सक काशीवासी डॉ. इ.जे.लाजरस इनके पिता थे। इन्होंने वेदान्त परिभाषा और वेदान्त मुक्तावली का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया था। इनके अनन्तर डॉ. गंगानाथ झा, म.म. गोपीनाथ कविराज, डॉ. मंगलदेव शास्त्री आदि ने इस पद को सुशोभित किया। दि. 21 सन् 1958 को यह विद्यालय विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया। □

काशी में वैदिक परम्परा

कालक्रम से वैदिक–परम्परा का ह्रास तो अवश्य होता आ रहा है, पर उत्तर भारत में काशी मात्र ऐसा क्षेत्र है जहां वैदिक–परम्परा जीवित है / इसका मूल कारण कतिपय वैदिक–विद्वानों का वाराणसी में स्थाई निवास है / दूसरा कारण गंगा के पवित्र जल का निर्बाध साधन है / तीसरा कारण है इस धर्म प्रदेश में सनातन धर्मावलंबी पीठाधीश आचार्यों का काशी में संचार और संपूर्ण विश्व से यहां तीर्थयात्रियों द्वारा की जाने वाली यात्राएं एवं धार्मिक अनुष्ठान और चौथा काशी में वेद विद्यालयों की स्थापना / उपरोक्त चारों सुयोगों के कारण काशी में वेद–परम्परा जीवित है / काशी की वैदिक परम्परा पर **आचार्य विश्वेश्वर शास्त्री द्राविड एवं डी.पी. अग्रवाल**

काशी का धार्मिक महत्व जनसाधारण अनादि काल से मानता है। परंतु जहां तक वैदिक परम्परा की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, मनुस्मृति के आधार पर उस संस्कृति का विस्तार पश्चिम में ब्रह्मावर्त (आधुनिक पंजाब एवं हरियाणा) जो तत्कालीन सरस्वती और दृषद्वती नदियों के मध्य (मनुस्मृति 2/17) से लेकर पूर्व में प्रयाग तक था। कुबेरनाथ सुकुल के अनुसार (*वाराणसी वैभव*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1977) सीमा विस्तार करते हुए जब आर्य विदेघ माथव के नेतृत्व में ब्रह्मावर्त से निकलकर पूर्व में सदानीरा (वर्तमान गंडक) नदी तक चले, उसी समय आर्यों का एक दल काशी के भूभाग में बस गया। विदेघ माथव के उपरोक्त अभियान का उल्लेख *शतपथ ब्राह्मण* में मिलता है (कांड1 अध्याय 4 ब्राह्मण 1)। 'मुख में अग्नि धारण किए हुए वह पूर्व दिशा की यात्रा के लिए उद्यत हैं। वह मौन हैं और अपने पुरोहित राहूगण की बात का उत्तर नहीं देते हैं। ' पुरोहित जब 'तंत्वाग्नेतस्त्वी महे' इत्यादि मंत्र का उच्चारण करते

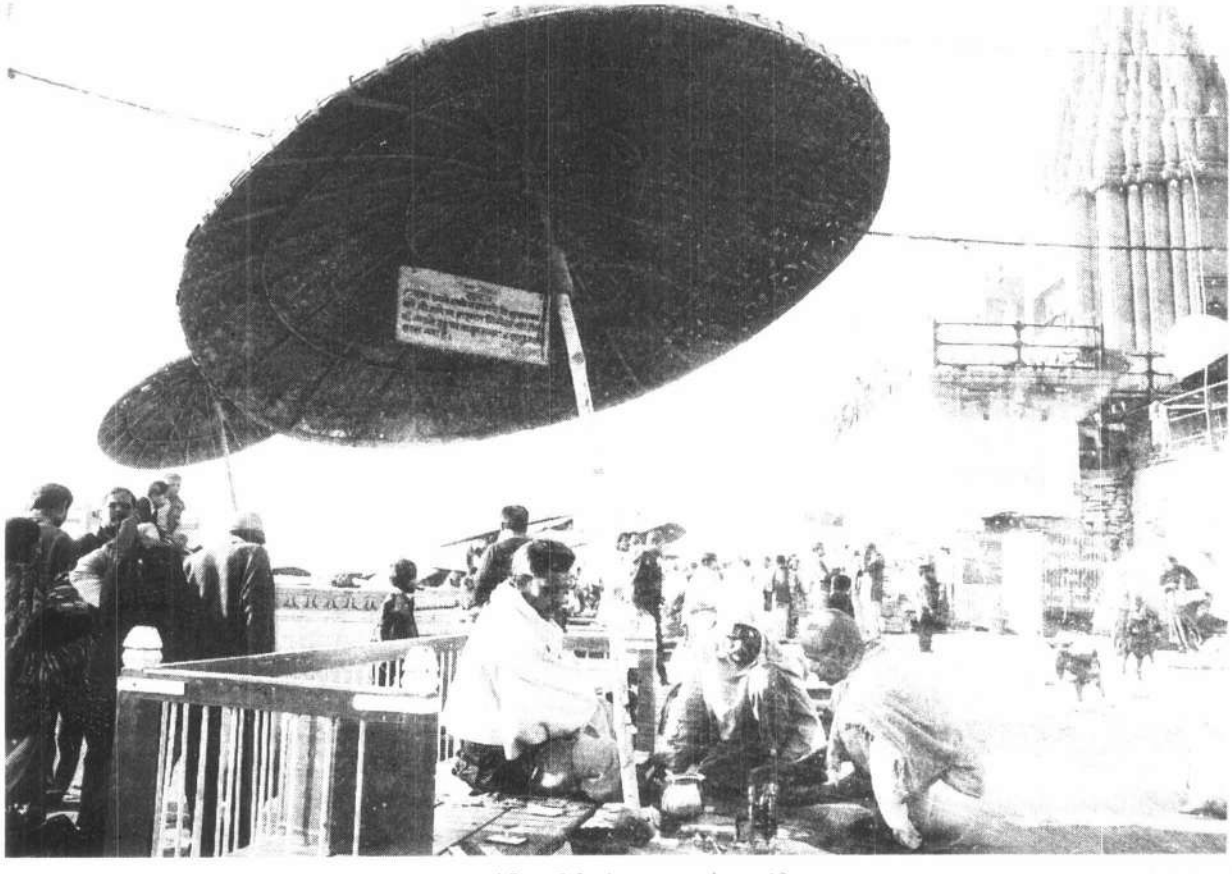

प्रयाग घाट पर वैदिक शैली से पूजा कराते हुए पंडित फोटो : राकेश

हैं। यह रूपक *शतपथ ब्राह्मण* में पूर्व दिशा की ओर आर्यों के अभियान के विश्वसनीय इतिहास का संकेत देता है। अग्निहोत्र की पवित्र अग्नि को अपने साथ अभियान के समय ले चलना वैदिक परम्परा है। सम्भवत: *शतपथ ब्राह्मण* का उपरोक्त रुपक आर्यों के एक दल का काशी की धरती पर आने का साक्ष्य हो।

वैदिक परम्परा का मूल वेदाध्ययन एवं वेदगान है। वैदिक मान्यता है कि चराचर जगत के धर्म का स्त्रोत वेद है : *वेदोखिलो धर्ममूलम्-मनुस्मृति*। सम्पूर्ण जगत परमात्मा के अन्तर्गत है, उससे परे कुछ भी नहीं है। जगत का सब कुछ, कण-कण, स्वधर्म धारण करते हुए परमात्मा में सन्निहित है। धर्म की इसी महती परिकल्पना के संदर्भ से 'वेदोखिलो धर्ममूलम्' का अर्थ लिया गया है। अत: जैसे यह कहना समीचीन है कि परमात्मा से परे कुछ भी नहीं है उसी प्रकार यह कहना कि वेद से परे स्वतंत्र मौलिक वाङ्मय कुछ भी नहीं है, उचित लगता है। 'वेद' जैसी उदात्त परिकल्पना या धारणा संसार के किसी वाङ्मय के बारे में नहीं है। ऐसा विचार स्वाभाविक है क्योंकि 'वेद' के बारे में यह मान्यता है कि यह मानवीय रचना नहीं है। वैदिक परम्परा में वेद को अपौरुषेय कहा जाता है। यह मान्यता है कि 'वेद' महाभूत (परब्रह्म) के नि:श्वास से उद्भूत स्वर एवं अन्य ध्वनियां व व्यजंन हैं, जिन्हें वशिष्ठादि ऋषियों ने ब्रह्मा से ग्रहण किया और मनुष्य के कल्याण के लिए प्रसारित किया।

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो।

(वृहदारण्यकोपनिषद्)

अत: वेद के रचनाकाल का निर्धारण निरर्थक है। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानजनों ने वेदों के रचनाकाल के निर्धारण की चेष्टा की है, परंतु ऐसी चेष्टा वेद के उद्भव के बारे में करने की परम्परा वैदिक नहीं है।

विश्व में आदिवाङ्मय वेद हैं। वैदिक परम्परा में यह मान्यता है कि परमात्मा ने विश्व की रक्षा के लिए मानवों को वेद मंत्र प्रदान किए। उत्तर मीमांसा के अनुसार सर्वज्ञ परमात्मा इनका रचयिता है, अतएव अन्य वाङ्मय से वेद की तुलना नहीं की जा सकती। सृष्टि के प्रारम्भ में नारायण इन वेदों को ब्रह्मा जी को प्रदान करते हैं। ब्रह्मा जी वशिष्ठादि ऋषियों को पढ़ाते हैं और उन ऋषियों के द्वारा आगे के ऋषि पढ़ते हैं। तदनन्तर सामान्य लोगों को वेद एवं उनमें वर्णित बातों का परिज्ञान होता है। यह जानना व्यावहारिक है कि काशी में वेदाभ्यास की परम्परा, जो कि विगत अनेक सहस्राब्दियों से लेकर आज तक वर्तमान है, 'क्या' और 'कैसे' रही है। वेदस्वरूप परमात्मा के अदृश्य अनुशासन की ज्ञानात्मक परम्परा के दृश्य निर्वहन का काशी में भूतकाल से वर्तमान पर्यन्त का इतिहास क्या रहा है।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तत्साद्वेदस्य वेदता।।

जो विषय इन्द्रिय एवं तर्क से बोधगम्य नहीं होते उन्हें वेदों से जाना जाता है। यह वेद की विशेषता है। वेदवचन अन्तिम निर्णायक माने जाते हैं। वेदों में सर्वत्र मनुष्य मात्र के कल्याण की बात कही गई है। आर्यों का समाज एक समतामूलक समाज था। भेद-दृष्टि नहीं थी। ब्रह्मज्ञानी अर्थात् ब्राह्मण वैदिक युग में श्रेष्ठ माना जाता था, परंतु अन्य मनुष्य तिरस्कृत नहीं थे। सभी मनुष्य अपना कार्य निष्ठापूर्वक करते थे अर्थात् अपना धर्म पालन करते थे। 'धर्म' का अर्थ बड़ा व्यापक था। ऐसी परम्परा के फलस्वरूप समाज में शांति एवं अनुशासन था। वैदिक परम्परा सहज अनुशासित परम्परा है, जिसका ध्येय मनुष्य मात्र का कल्याण है। एक वाणी से उक्त कथन की पुष्टि होगी।

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यप:।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुत:।।

बनारस में गंगा तट पर सूर्य नमस्कार फोटो : सर्वेश

सहस्राब्दियों से वैदिक परम्परा काशी में फल-फूल रही थी, परंतु जब से भारतवर्ष पर विदेशी आक्रमण होने लगे, उनका प्रभाव काशी पर अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक पड़ा। काशी विद्या एवं कला का सुसंस्कृत केंद्र था और सम्पूर्ण भारतवर्ष से यात्री यहां आते थे, जो अब भी आते हैं। ऐसा इसलिए रहा है क्योंकि काशी का धार्मिक महत्व भारतवर्ष में सर्वाधिक रहा है। ऐसी मान्यता है कि परमात्मास्वरूप शिव ने काशी को कभी नहीं छोड़ा है। इसीलिए काशी को अविमुक्त क्षेत्र कहने की परम्परा है। वैदिक मान्यता है कि भगवान शिव स्वयं वेद की रक्षा करते हैं और उनका कथन है कि:

वेदो नारायण: साक्षात्, वेदाभ्यासी सदा ह्यहम्।

धर्म के संबंध में एक उक्ति है : 'त्रयो धर्मस्कन्धा: यज्ञोध्ययनं दानं' *(छान्दोग्योपनिषद)* अर्थात् अध्ययन धर्म का स्कन्ध है। अध्ययन का तात्पर्य मुख्यत: वेद-वेदांगाध्ययन से है। अत: धर्म-क्षेत्र काशी में वेदाध्ययन की सुदीर्घकालीन परम्परा है। इस दृष्टि से काशी में ब्राह्मण का धर्म वेदाध्ययन था। ब्राह्मण बालकों को आठ वर्ष की उम्र में ही गायत्री मन्त्र से दीक्षित कर दिया जाता था और उनका यज्ञोपवीत संस्कार करने के साथ ही वेद मन्त्रों की शिक्षा शुरू कर दी जाती थी। आज भी सुसंस्कृत ब्राह्मण परिवारों में वही परम्परा है। गुरु बालक के कान में मन्त्र का उच्चारण कर देता है और उसके बाद ही उसकी वेद-शिक्षा का क्रम प्रारंभ हो जाता है। गुरु के मुख से सुनकर ही विद्यार्थी वेद मंत्र सीखता है। चूंकि बालक वेदाध्ययन मंत्र सुनकर ही करता है, इसलिए वेद को 'श्रुति' भी कहते हैं। काशी में वेदाध्ययन की गुरु-शिष्य परम्परा अति प्राचीन है। वेद का गुरुमुख से अध्ययन करने की बात मीमांसा के ग्रंथों में स्पष्ट निर्देशित है : वेदस्याध्ययनं सर्वं, गुर्वध्ययन पूर्वकम्। भगवान राम ने भी वेद, गुरु के आश्रम में रहकर ही पढ़ा था।

गुरु गृह गए पढ़न रघुराई, अल्पकाल विद्या सब आई।
जाकी सहज स्वांस श्रुति चारी, सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी'

(रामचरितमानस)

वेद की शिक्षा देने वाले गुरु के बारे में भी अनुशासन का उल्लेख है। वह अनुशासन विद्यार्थी की अर्हता के बारे में है जो एक मंत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है :

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाल मा शेवधिष्टेहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्।।
(निरुक्त)

"वेद विद्या ब्राह्मण के पास आई। उसने ब्राह्मण से कहा कि मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारे लिए निधि हूं। डाह करने वाले, कुटिल और असंयत व्यक्ति को मेरा उपदेश न करना। इस नियम का पालन करोगे तभी मैं शक्ति सम्पन्न रहूंगी।" -तात्पर्य यह कि संस्कारवान्, एवं निष्कपट, अधिकारी व्यक्ति को ही वेद का प्रशिक्षण देना चाहिए। सम्भवत: वर्तमान काल में वेदाभ्यास के उपरोक्त नियमों का पालन वेद विद्यालयों में पूर्णरूपेण नहीं हो रहा है, परंतु गुरु भी विवश हैं क्यों कि अनेक व्यावहारिक कारण नियमों में शिथिलता की स्थिति उत्पन्न हो गई है। यह दशा वैदिक परम्परा का ह्रास है। उदयनाचार्य जी की निम्नलिखित बातें परम्परा के ह्रास के कारणों को स्पष्ट करती हैं:

जन्म-संस्कार-विद्यादे: शक्ते: 'स्वाध्याय-कर्मणो:।
ह्रास दर्शनतो ह्रास: सम्प्रदायस्य मीयताम्।

श्रेष्ठ जन्म, संस्कार, विद्या, तप, शक्ति स्वाध्याय एवं कर्म का ह्रास होने से सम्प्रदाय का ह्रास परिलक्षित है।

वैदिक परम्परा के अनुसार- वेदों की रक्षा तीन प्रकार से की जाती है- (1) शब्दरक्षा, (2) अर्थरक्षा, (3) प्रयोगरक्षा। वेदों के स्वर, वर्ण, मात्रा आदि में कहीं भी अन्तर न पड़े अपितु वे यथावत् रहें। इस प्रकार वेदों की रक्षा करना- यह वेदों की शब्दरक्षा है। वेदों के अर्थ करने में कहीं भी अन्तर न पड़े और उनमें कोई जोड़-तोड़ न की जाए, इस प्रकार वेदों की रक्षा करना- यह वेदों की अर्थरक्षा है। वेदों के कार्यान्वयन (अनुष्ठान) में कहीं भी अन्तर न पड़े, इस प्रकार वेदों की रक्षा करना- यह वेदों की प्रयोगरक्षा है।

तीनों प्रकार से वेदों की रक्षा करने के लिए छह वेदांग हैं। उनमें से शिक्षा एवं छन्द के द्वारा विशेष रूप से वेद की शब्द रक्षा होती है। व्याकरण एवं निरुक्त के द्वारा वेद की अर्थरक्षा होती है। ज्योतिष एवं कल्पसूत्र के द्वारा वेद की प्रयोगरक्षा होती है। वेदों की रक्षा वेद, वेदार्थ एवं वैदिक प्रयोग के अध्ययनाध्यापन के बिना सम्भव नहीं है। अतएव पुरातन काल से सांग एवं सार्थ वेदों के अध्ययन- अध्यापन की परम्परा रही है।

ब्राह्मणेन निष्कारणेन षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च

अर्थात् ब्राह्मण को कर्तव्य रूप से छह अंगों के साथ वेद का अध्ययन करना चाहिए तथा वेदार्थ को जानना चाहिए।

अस्तु, वर्तमान काल में वेदाध्ययन- परम्परा का क्या स्वरूप है, इस पर विचार करना समीचीन होगा। कालक्रम से वैदिक-परम्परा का ह्रास तो अवश्य होता आ रहा है, पर उत्तर भारत में काशी मात्र ऐसा क्षेत्र है जहां वैदिक-परम्परा जीवित है। इसका मूल कारण कतिपय वैदिक-विद्वानों का वाराणसी में स्थाई निवास है। दूसरा कारण गंगा के पवित्र जल का निर्बाध साधन है। तीसरा कारण है इस धर्म प्रदेश में सनातन धर्मावलंबी पीठाधीश आचार्यों का काशी में संचार और संपूर्ण विश्व से यहां तीर्थ यात्रियों द्वारा की जाने वाली यात्राएं एवं धार्मिक अनुष्ठान और चौथा काशी में वेद विद्यालयों की स्थापना। उपरोक्त चारों सुयोगों के कारण काशी में वेद-परम्परा जीवित है। इस परम्परा में सर्वाधिक योगदान यहां के वेद प्राचार्यों एवं विभिन्न वेद विद्यालयों का है।

आचार्य परम्परा में वेदमूर्ति श्री विनायक भट्ट डोंगरे, भिकंभट्ट बलवंत पटवर्धन, जगन्नाथ पाठक सप्तर्षि, गौरीनाथ दीक्षित, केशवभट्टजी काले, गणेशशास्त्री गोडशे, गणेश दीक्षित, जनार्दनजी मिश्र, कृपाकृष्ण जानी, रामचन्द्रशास्त्री (रामसुब्रह्मण्य) घनपाठी, भिकूदीक्षित लेले, बालभट्ट गोडबोले, म.म.सुब्रह्मण्यशास्त्री द्राविड, शिवराम शास्त्री द्राविड, चन्द्रशेखर शास्त्री 'वज्रटंक,' गणेशभट्ट बापट, रामाचार्य पुराणिक, गणेशराम सामवेदी, जयदेव पेंचोली, रामचन्द्र शास्त्री रटाटे, प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं, जिनकी शिष्य परम्परा के अनेक वैदिक विद्वान आज तक अपनी वेद-परम्परा का काशी में निर्वहन कर रहे हैं। वैदिक मान्यता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में राजा दिवोदास के समय ब्रह्माजी स्वयं ब्राह्मण वेश में काशी आए थे और उन्होंने वेद पाठशाला चलायी थी जो काशी नगर के ब्रह्माघाट मुहल्ले में ब्रह्मशाला नाम से विख्यात थी। वहां ब्रह्मेश्वर मंदिर आज भी वर्तमान है।

ब्रह्मेश्वर समीपे तु ब्रह्मशाला मनोहरा।
ब्रह्मा तत्रावसद्व्योम ब्रह्मघोषैर्निनायन्।।

(*काशी खण्ड* अ. 52 श्लो. 99)

काशी में प्राय: एक दर्जन छोटी बड़ी वेदशालाएं सम्प्रति वेद परम्परा को प्रकाशित रखे हुए हैं। इनमें प्राचीनतम स्वरूप को यथावत् जवित रखने के लिए श्री व.शा. सांगवेद विद्यालय अग्रणी है। यह विद्यालय लगभग एक शताब्दी से कार्यरत है। इस विद्यालय के सर्वप्रथम प्राचार्य महामहोपाध्याय धर्म-प्राण लक्ष्मण शास्त्री द्राविड थे। तत्पश्चात् इस विद्यालय के आचार्य पद्मभूषण पंडितराजराजेश्वर शास्त्री द्राविड थे। उसके बाद राष्ट्रपंडित न्यायाचार्य रामचन्द्र शास्त्री होसमने थे। वर्तमान में विद्यालय के अध्यक्ष पंडित विश्वेश्वर शास्त्री द्राविड हैं। काशी में वेद के षडंग प्रशिक्षण की व्यवस्था मात्र सांगवेद विद्यालय में है। कालान्तर में स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा स्थापित धर्मसंघ वेद विद्यालय है। थोड़े समय के अन्तर से काशी के मूर्धन्य विद्वान श्री पट्टाभिरामशास्त्री द्वारा संस्थापित वेद विद्यालय वाराणसी के हनुमान घाट क्षेत्र में कार्यरत है। काशी में वैदिकों की जो विशुद्ध परम्परा है, उसकी विशेषता निम्नलिखित है:

"माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः।।"

इस पाणिनीय शिक्षा में वर्णित नियमों का पालन यहां किया जाता है। उच्चारण में मधुरता, वर्णों की स्पष्टता, यथास्थान पदच्छेद, स्वर की स्पष्टता, धीरकंठ एवं लयबद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। नि:स्वार्थ भाव से वेदों की रक्षा करना एक तपस्या है। वैदिकों द्वारा ज्ञानराशि के धरोहर वेदों की रक्षा आनादिकाल से चली आ रही है। इसे प्रोत्साहित कर इसके ज्ञान से समाज को लाभान्वित करना आवश्यक है। काशी में वर्तमान समय में *ऋग्वेद* की शाकल शाखा, कृष्ण *यजुर्वेद* की तैत्तिरीय शाखा, शुक्ल *यजुर्वेद* की माध्यन्दिन शाखा एवं काण्व शाखा, *सामवेद* की कौथुम शाखा तथा *अथर्ववेद* की शौनक शाखा पूर्ण रूप से विद्यामान है। *सामवेद* की राणायनीय शाखा के आंशिक गान करने वाले भी कुछ विद्वान उपलब्ध हैं। काशी में वैदिक परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए पुण्यश्लोक काशी नरेश स्व. विभूति नारायण सिंह जी का योगदान सराहनीय था। स्व. पण्डितराज श्री राजेश्वरशास्त्री द्राविड जी से परामर्श कर उन्होंने वेद रक्षा हेतु रामनगर दुर्ग में कण्ठस्थ वेदपारायण की व्यवस्था की थी।

वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजानिभिः।
तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः।। □

काशी से प्रारम्भ कबीरी परम्परा

कबीर ने वर्ग-भेद रहित समाज-व्यवस्था का पावन संदेश, काशी के कबीरचौरा से दिया था / इसलिए कबीरचौरा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक स्थान है / उन्होंने समता की प्रतिष्ठा की और श्रम द्वारा समाज के विकास की राह दिखाई / इससे निर्बल वर्ग को बल मिला और गिरा-पड़ा वर्ग पुनः उठ खड़ा होने लगा / धार्मिक पाखंडवाद से दूर समता की साधना और श्रम का मार्ग सद्गुरु कबीर की देन है, जिस राह पर कबीर पंथ चल पड़ा / काशी से प्रारम्भ हुई कबीरी परम्परा पर **संत विवेकदास आचार्य**

वृक्ष न कबहूं फल भखैं, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने साधुन धरा शरीर।।

संत कबीर की वैचारिक परम्परा पंद्रहवीं शताब्दी से काशी में कबीर द्वारा संचालित एक सहज लोकहितकारी आचरण है जो समाज के उपेक्षित एवं विपन्न वर्ग को संबल प्रदान करता है। भारतवर्ष की आधी से अधिक आबादी ऐसे ही जनसमाज की है, जिसे पिछड़ा एवं दलित वर्ग कहा जाता है, परंतु वस्तुत: वही राष्ट्र का बल है। हथियार का बल अल्पकालिक बल होता है। मनुष्य का शाश्वत बल 'विश्वास' का बल होता है। कबीर को अपने विश्वास का बल था, जो उन्हें असाधारण साहस प्रदान करता था। कमजोर तबके वाले लोगों और कबीर के बीच परस्पर विश्वास की डोर बड़ी मजबूत थी। ऐसी अद्भुत सामाजिक एकजुटता मनुष्य को सामाजिक बदलाव के हित में कुछ कर गुजरने के लिए ताकत देती है। यही कबीर की क्रांतिकारी सोच का अंगार था जो काशी में उद्भूत होकर देश-विदेश में प्रसारित हुई।

कबीर का उद्भव वाराणसी में आज से प्राय: छह सौ वर्ष पूर्व हुआ था। उस कालखंड में वाराणसी ब्राह्मणवाद का शक्तिशाली केंद्र था। तब यहां मुल्लावाद भी जड़ें जमा चुका था। दोनों धर्म अपने-अपने ढंग से पाखंड को प्रश्रय देते थे और निर्बल वर्ग पर राज करते थे। समाज टूट चुका था। कोई केंद्रीय मजबूत शासन नहीं था। अनुशासन समाप्त हो गया था और यत्र-तत्र छोटे-छोटे राज्य अपने आतंक से समाज को उत्पीड़ित करते रहते थे। राजी-रोजगार का बुरा हाल था, आर्थिक दशा बहुत दयनीय हो गई थी। निर्बल वर्ग सर्वाधिक त्रस्त था। जातिवाद और धार्मिक पाखंड चरम पर था। ऐसे त्रासद युग में कबीर का वाराणसी में प्राकट्य एक वरदान साबित हुआ।

कबीर ने वर्ग-भेद रहित समाज-व्यवस्था का पावन संदेश, काशी के कबीरचौरा से दिया था। इसलिए कबीरचौरा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक स्थान है। उन्होंने समता की प्रतिष्ठा की और श्रम द्वारा समाज के विकास की राह दिखाई। इससे निर्बल वर्ग को बल मिला और गिरा-पड़ा वर्ग पुन: उठ खड़ा होने लगा। धार्मिक पाखंडवाद से दूर समता की साधना और श्रम का मार्ग सद्गुरु कबीर की देन है, जिस राह पर कबीर पंथ चल पड़ा। पिछली छह शताब्दियों के अंतराल में न केवल वाराणसी में वरन देश के अनेक भागों एवं विदेशों में भी कबीर-केंद्र स्थापित हो गए हैं। कबीर का मार्ग कोई रहस्यमय दर्शन या कर्मकांड नहीं है, वरन एक सरल, लोकहितकारी जीवन पद्धति है जो सर्वोदय का सार्वजनिक मार्ग है।

संत कबीर पर स्वामी रामानंद के प्रभाव की बात कही जाती है। रामानंद का कार्यकाल चौदहवीं सदी का उत्तरार्द्ध था। मान्यता है कि स्वामी रामानंद ने 110 वर्ष की अवस्था में, ईसवी 15वीं सदी के प्रारंभ में, देह-त्याग किया था। कबीर का प्रादुर्भाव 15वीं सदी का प्रारंभ माना जाता है। दोनों तिथियां काफ़ी नजदीक हैं। अत: कबीर एवं रामानंद का परस्पर साक्षात्कार हुआ हो, ऐसा संभव नहीं लगता। बहरहाल कबीर पर स्वामी रामानंद का प्रभाव निश्चित रूप से था। रामानंद मूलत: रामानुज संप्रदाय के थे जिनका मठ काशी में पंचगंगा घाट पर था और जो अब भी है। रामानंद ने रामानुज संप्रदाय में रहते हुए ही भारत-यात्रा की थी। उन्होंने पैदल भारत भ्रमण किया था और अपने रास्ते में पड़ने वाले तमाम पड़ावों पर जनसाधारण का आतिथ्य ग्रहण किया था। यद्यपि रामानंद कट्टर जातिवादी संप्रदाय (रामानुज) के विद्यार्थी थे, परंतु अपनी दो वर्ष पर्यंत पद-यात्रा के दौरान उन्हें भारतीय जन-जीवन का निकटता से निरीक्षण करने का अवसर मिला था। अपने निरीक्षण में उन्होंने जाति-व्यवस्था की निरर्थकता का अनुभव किया था और उनका जात-पांत में विश्वास समाप्त हो गया था। वह अपनी यात्रा के बाद जाति-निरपेक्ष मानव हो गए थे, जिसके कारण उन्हें रामानुज मठ से बहिष्कृत कर दिया गया था। उन्हें ब्राह्मणों का घोर विरोध झेलना पड़ा था, परंतु उन्होंने जातिवाद से सदा के लिए नाता तोड़ लिया था और अपना स्वतंत्र संप्रदाय बनाया था जो आज भी 'रामानंदी' नाम से विख्यात है। रामानंदी साधु जाति-निरपेक्ष होते हैं और छुआछूत में विश्वास नहीं रखते। कबीर की सोच भी यही थी। अत: कबीर को स्वामी रामानंद का शिष्य कहने का प्रचलन है। सारांश यह कि स्वामी रामानंद की शुद्ध मानववादी परम्परा को कबीर ने आगे बढ़ाया जो आज सिर्फ भारत ही नहीं, अन्य देशों के कबीर-केंद्रों के माध्यम से भी जीवंत है।

कबीर का जन्म काशी जनपद के लहरतारा ग्राम में हुआ था। उसी ग्राम के बड़े ताल पर कबीर एक परित्यक्त शिशु के रूप में पाए गए थे। देवयोग से नीरू एवं नीमा नामक एक जुलाहे दम्पत्ति ने उन्हें पाया था और शिशु कबीर को अपने घर काशी के नरहरपुरा (कबीरचौरा) मुहल्ले में लाकर उनका

पालन-पोषण किया था। लहरतारा ताल उस समय अत्यंत विशाल था जिसका अब मात्र 4 एकड़ शेष है। कबीरचौरा जो काशी नगर का एक केंद्रीय भाग है, कबीर मठ का आदि केंद्र है, जहां कबीर की खड़ाऊं, करधा आदि नित्य उपयोग की वस्तुएं भी एक भव्य कबीर मंदिर में सुरक्षित हैं और नित्य पूजित हैं। उसी मठ परिसर के पूर्वी भाग में नीरू-टीला में कबीर के संरक्षक माता-पिता की समाधियां हैं, जो सुरक्षित हैं। कबीरचौरा का यह कबीर मठ कबीरपंथ का आदिपीठ है, जहां कबीरपंथी साधु और विद्यार्थी आश्रय पाते हैं, अध्ययन-अध्यापन करते हैं और नित्य संध्या कबीर बीजक का पाठ करते हैं। कबीरचौरा मठ कबीर साहब की कर्मभूमि और साधना-स्थली है, इसलिए कबीरचौरा मठ को कबीर पंथ की 'मूलगादी' कहते हैं। कबीरचौरा मठ मुख्य केंद्र इसलिए है- क्योंकि यहां कबीर रहते थे और यहीं से उन्होंने अपना संदेश मानव-समाज को दिया था। उनका लालन-पालन इसी स्थल पर हुआ था और उनका संदेश भी दुनिया में यहीं से फैला था। इसलिए आज दुनियाभर में कबीरचौरा मठ पूजित और सम्मानित है।

लहरतारा मन्दिर

कबीर प्राकट्य-स्थल, लहरतारा मंदिर

कबीर प्राकट्य-स्थल, लहरतारा

लहरतारा उद्भव-स्थल कबीरचौरा मठ से 5 कि.मी. पश्चिम की ओर स्थित है। विक्रम संवत् 1456 की ज्येष्ठ पूर्णिमा सोमवार के दिन नीरू अपनी पत्नी नीमा का द्विरागमन कराकर लहरतारा ताल के पूर्वी तट से होकर मांडुर गांव (वर्तमान मंडुवाडीह) से नरहरपुरा (वर्तमान कबीरचौरा) आ रहे थे। अपराह्न की बेला थी। गर्मी से सब लोग परेशान थे। मंडुवाडीह वाराणसी शहर के पश्चिम संभाग में पड़ता है। मंडुवाडीह में नीरू की ससुराल थी। नीरू मुस्लिम जुलाहे थे। कबीरचौरा तक आने के लिए नीरू और नीमा दम्पत्ति पालकी पर सवार होकर जा रहा था। रास्ते में लहरतारा-ताल के एक भाग में टापू सा स्थान था। उस टीले पर उपवन की सुंदरता मनोहर थी। टीले के पास नीरू-नीमा की पालकी रुकी और टीले पर वृक्ष की छाया में वे विश्राम करने लगे। कमल-वन से छनकर आ रही हवा शीतलता प्रदान कर रही थी, क्योंकि टीले के नीचे ताल दूर तक कमल वन से आच्छादित था। नीमा को प्यास लगी थी। पानी पीने के लिए अंजलि में जल उठाकर नीमा मुंह में लगाने ही जा रही थी कि अचानक उस बियाबान में एक सद्य:जात शिशु के क्रंदन की आवाज़ सुनाई पड़ी। वह डर गई और पानी नहीं पी सकी। भय की स्थिति में सिर उठाकर पीछे की ओर ताल के ऊपर नीमा ने अपनी नजर डाली, तो टीले के ऊपर झाड़ीनुमा पेड़ की छाया में एक सद्य:जात शिशु हाथ-पांव फेंक रहा था।

नीमा शिशु को देखने लगी और वहां से भागने की कोशिश करने लगी, लेकिन पल-भर में ही नीमा के अंतर्मन में आवाज़ उठी- 'यह शिशु परवरदिगार की ओर से तुम्हें भेंट हैं।' शिशु की सुंदरता और अलौकिकता को देखकर नीमा का मन स्थिर नहीं रहा और उसने शिशु को अपनी गोद में उठा लिया और पति नीरू को आवाज़ दी। नीरू दौड़कर आए और नीमा की गोद में शिशु देखकर चौंक गए। शिशु को लेकर दोनों में काफ़ी देर तक नोंक-झोंक और वाद-विवाद होता रहा। सहज-नारी हृदय नीमा करुणा से द्रवित हो गई और उसके हृदय में मातृत्व का भाव जाग उठा। नीरू और नीमा शिशु को अल्लाह की मेहर समझकर अपने घर नरहरपुरा (वर्तमान कबीरचौरा) लेकर आ गए।

कबीर ने अपने-उद्भव-स्थल यानी लहरतारा और अपने जन्म की घटना से ही मृत्यु की निर्भयता प्राप्त की थी। कबीर ने जब होश संभाला और अपने माता-पिता से अपने जन्म की घटना का विवरण सुना, तो वे कतई विचलित नहीं हुए। अपने जन्म की घटना से उनको अपार शक्ति और महत्त्वपूर्ण प्रेरणा मिली। कोई भी आदमी पैदा होकर वीरान में इस प्रकार सुरक्षित रह सकता है...मारने और जिलाने वाली वही एक परमशक्ति है...फिर, मृत्यु से भय किस बात का? कबीर इसकी प्रेरणा पाकर हमेशा के लिए मृत्यु से मुक्त हो गए। प्रकृति सबको जन्म देती है और वही सबका संरक्षण भी करती है। फिर मृत्यु की क्या चिंता करनी? मृत्यु के भय से मुक्त होना ईश्वरत्व की प्राप्ति है।

लहरतारा एक समय में नहरों वाला विशाल ताल था। गंगा जब उफनती थी, तब उसकी लहरें यहां तक आती थीं। धीरे-धीरे गंगा दूर चली गई और उसकी लहरों का यहां तक आना बंद हो गया। लहर-ताल गंगा के अवशेष के रूप में बच गया। इसलिए इस तालाब का नाम 'लहर-ताल' पड़ा और अब इस पूरे गांव का नाम ही 'लहरतारा' हो गया। तालाब के बचे-खुचे संभाग को उत्तर प्रदेश शासन ने अधिग्रहीत करके पुरातत्व-विभाग के अंतर्गत सुरक्षित कर रखा है। कबीर उद्भव स्थल के विकास के लिए तालाब के साथ-साथ उसके आस-पास की ज़मीन भी पुरातत्व के अधीन है। वहां एक छोटा-सा कबीर-स्मारक है जो प्राय: तीन सौ वर्ष प्राचीन है और जिसका स्थापत्य मंदिर और मस्जिद का मिश्रित स्वरूप है।

कबीरचौरा मठ

कबीरचौरा कबीर साहब का निवास एवं उपदेश स्थल है। यह कबीर मत का मूल स्थान है। इस कारण संसार भर के कबीर मतावलंबियों द्वारा पूजित है।

कबीर भंडारा

जेठ मास की पूर्णिमा (संत कबीर की जन्मतिथि) के आसपास यहां यात्रियों की भीड़ रहती है। मठ के परिसर का विस्तार कई एकड़ में है और समूचा स्थान भक्त यात्रियों से खचाखच भरा रहता है। यात्रियों की संख्या के लिए, जो हजारों में होती है, भंडारे का आयोजन होता है और सभी यात्री पंक्तियों में बैठकर भोजन करते हैं। सभी एक पंक्ति में बैठते हैं, कोई भेद नहीं होता। वैसे तो यहां साधुओं और आगंतुकों के लिए सदा प्रतिदिन भंडारा होता है और जो भी चाहे पंक्ति में बैठकर भोजन कर सकता है। अंतिम पंक्ति जब भोजन कर लेती है तब उस दिन का भंडारा समाप्त कर दिया जाता है। यह क्रम साल के प्रत्येक दिन चलता है, इसमें पिछले छह सौ वर्षों से आज तक कभी कोई रुकावट नहीं हुई और न कभी भोजन घटा। यह कबीर-मठ का अक्षय भंडारा है। इस भंडारे का विचित्र इतिहास है।

संवत् 1588 के हस्तलेख अनन्तदास की *कबीर परचयी* का प्रमाण है कि जब संत कबीर अनेक प्रकार के विरोधों और तमाम तरह की यातनाओं

से उबरते चले गए तब कुछ ब्राह्मणों ने एक गुप्त सभा की और चार ब्राह्मणों का मुंडन कराकर उन्हें कबीर-अनुयायी का बाना पहना दिया। इन्हें बनारस के आसपास दूर तक के गांवों में भेजा गया। ये छली ब्राह्मण, संत कबीर का दल (निमंत्रण) लेकर माघ महीने के पहले पक्ष में चले और उन्होंने संत कबीर की ओर से सबको झूठा निमंत्रण दिया और बसंत पंचमी के दिन एक महोत्सव में आमंत्रित किया। सभी संतों ने श्रद्धापूर्वक संत कबीर का निमंत्रण स्वीकार किया और पाखंडी ब्राह्मणों को पहचान नहीं पाए। निमंत्रण पर भगतों की भीड़ आने लगी। संत कबीर को जब यह पता चला कि उनके नाम से झूठा निमंत्रण देकर अनंत लोगों को आमंत्रित किया गया है तो वे घबरा गए और अपना झोंपड़ा छोड़कर किसी गुप्त स्थान में छिप गए। ईश्वर ने उनकी लज्ज़ा रखी और स्वयं कबीर का वेष धारण कर सभी आमंत्रितों का आतिथ्य करते रहे। किसी को पता भी नहीं चला। अतिथि आए और गए। यह 'भंडारा कांड' बीजक मंदिर के ठीक बगल में वर्तमान भंडारा-स्थान में घटित हुआ था। इसीलिए यह भंडारस्थल एक पवित्र स्थान माना जाता है। इसी प्रसंग से जुड़ी एक प्रसद्धि साखी है:

ना कछु किया न कर सका, ना करने जोग सरीर।
जो कछु किया सो हरि किया, भया कबीर-कबीर।।

कबीर-चबूतरा

कबीरचौरा मठ परिसर के दो भाग हैं- (1) कबीर चबूतरा (2) नीरू-टीला।

कबीर चबूतरा भाग में बीजक मंदिर है और उसी भवन में मठ के अध्यक्ष महंत का पीठासन है। उसी के सामने एक अन्य सुन्दर मन्दिर है जिसे फिजी देश के भक्तों ने अत्यंत सुरुचिपूर्ण ढंग से बनवाया है। इस मंदिर को सत्संग या समाधि मंदिर कहते हैं। इस मंदिर के चारों ओर प्रशस्त दालान है जिसमें 500 से अधिक की भीड़ बैठ सकती है। बीजक मंदिर और सत्संग मंदिर दोनों के चारों ओर प्रशस्त आंगन है जहां हज़ारों की भीड़ बैठ सकती है। जेठी पूर्णिमा (कबीर-प्राकट्य दिवस) के दिन से सारे स्थान भक्तों की भीड़ से दिन-रात खचाखच भरे रहते हैं। कबीर का इसी स्थान पर नित्य सत्संग होता था और उनका संदेश यहीं से मुखरित होता था। सत्संग मंदिर में नित्य संध्या समय *बीजक* ग्रंथ का पाठ होता है। *बीजक* कबीरपंथ का मुख्य एवं पूजनीय ग्रंथ है, जिसमें संत कबीर का पावन संदेश अंकित है। भंडारा इसी आंगन के एक भाग में है। ये सभी भाग शुरू में मिट्टी और झोपड़ियों के बने थे।

कबीर-चबूतरा, बीजक मंदिर

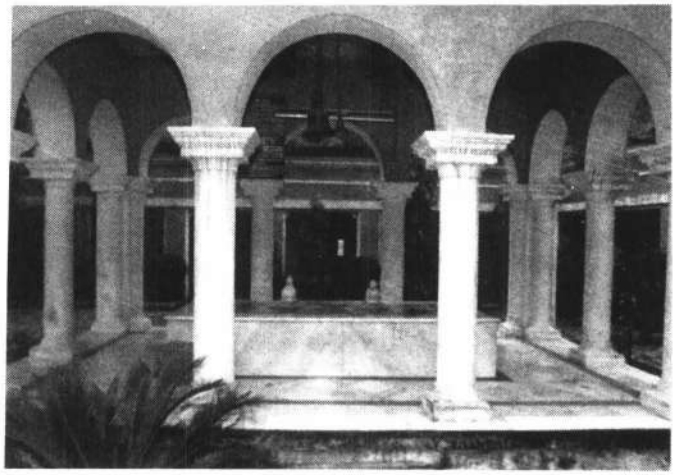

नीरू-नीमा समाधि, नीरू-टीला

परंतु धीरे-धीरे इन सभी भागों के लिए सुंदर पक्के भवनों का निर्माण भगतों ने करा दिया।

नीरू-टीला

मठ से लगा हुआ मठ का ही एक परिसर है जिसे नीरू-टीला कहते हैं। यह स्थान कबीर साहब और उनके तथाकथित माता-पिता नीरू-नीमा का निवास स्थान था। यहीं कबीर साहब का बचपन बीता और उस समय कसाइयों से घिरे इस मुहल्ले में उन्होंने अहिंसा और वैराग्य की क्षमता विकसित की थी।

बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल,
जो जन बकरी खात हैं तिनको कौन हवाल।

कबीर साहब की प्रसिद्धि के साथ यह स्थान संतों और भक्तों का आकर्षण केंद्र बनता गया और कबीर साहब के दोनों पूर्वज इसी स्थान पर दफ़न किए गए। जनता श्रद्धापूर्वक कच्ची मिट्टी से बनी हुई इन समाधियों पर अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए आती थी और मिट्टी के ऊपर अंजुली भर मिट्टी चढ़ा दिया करती थी। धीरे-धीरे श्रद्धापूर्वक चढ़ाई हुई मिट्टी से एक टीला-सा बन गया और लोग इसे नीरू टीला कहने गले। बाद में टीला का अर्थ भी धर्म स्थान हो गया। मध्य प्रदेश में अनेक मठों को आज भी टीला कहा जाता है।

संत कबीर और अन्य संत महात्माओं के प्रभाव से नीरू-टीला से अनेक अनुश्रुतियां, धार्मिक विश्वास और अंधविश्वास जुड़ गए। हिंदू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए इस टीले पर आने लगे। एक मुट्ठी मिट्टी, हरी चादर, अगरबत्ती और मिष्ठान से इस समाधि स्थान की पूजा प्रारम्भ हो गई। प्रेत-व्याधि से मुक्त होने के लिए भी पुरुषों और विशेष रूप से स्त्रियों का यहां जमघट लगा रहता था। ये सारे कार्य शुक्रवार को घटित होते थे। अंधविश्वासों का सिलसिला इतना बढ़ा कि इस पवित्र स्थान से संबंधित अनेक दोष भी प्रकट होने लगे। ठग और प्रपंची इस समाधि के नाम पर कमाई करने लगे। इसलिए सबसे पहले आचार्य महंत रंगी साहब ने इस परम्परा का विरोध किया। उनके विरोध के बावजूद आर्तजन यहां लुक-छिपकर आते ही थे और यहां चादर, बतासा चढ़ाते थे।

क्रांतिकारी संत रामविलास साहब (संत गंगाशरण दास के गुरु) ने टीले को अन्यथा विश्वासियों के लिए सदैव के लिए बंद कर दिया। गली से जो इसका प्रवेश द्वार था उसे भी बंद कर दिया गया और मठ और टीले के भवनों को गली से काफी ऊपर ऊंचे और छोटे से पुल से जोड़ दिया गया। अब

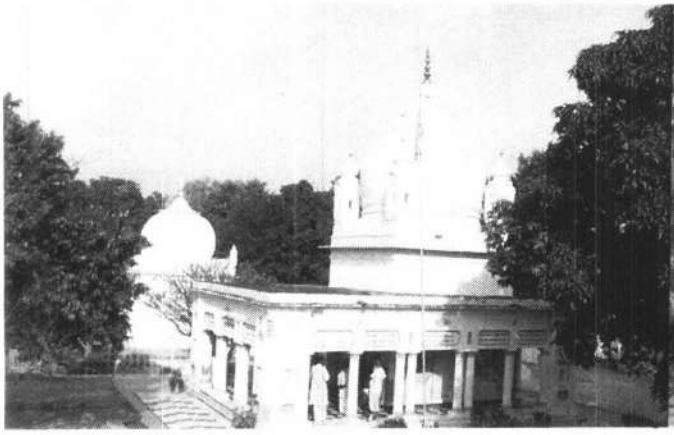

निर्वाण स्थली, मगहर (उत्तर प्रदेश)

समाधि मंदिर

कोई भी दर्शनार्थी मठ से होकर ही टीले पर जा सकता है। ठगों, प्रेतपूजकों, ओझाओं, ताबीज़ बांटने वालों, अवघड़ और नकली फकीरों को यहां से हटा दिया गया। इस कार्य में मठ के हितैषी तथा विद्वान राजनेता संपूर्णानंद जी ने पर्याप्त सहयोग दिया था। यह अच्छा भी हुआ। इसलिए कि क्रांति और प्रगति के प्रतीक संत कबीर के क्रांतिकारी संपोषकों की समाधि का जैसा उपयोग होता था वह न संत कबीर की प्रतिष्ठा के अनुकूल था और न उनके संपोषकों की महिमा के लिए योग्य था। अब भी दुखी प्राणी गुप्त रूप से यहां अपनी कामना पूर्ति के लिए आते हैं और मठ से होते हुए टीले तक जाते हैं। गाना-बजाना, नाच-कव्वाली इत्यादि अब पूरी तरह वर्जित है। लेकिन धूप-दीप से अभ्यर्थना करना वर्जित नहीं है।

आचार्य रामविलास साहब ने चार खंभों का एक छत्र बनवाकर समाधियों को संगमरमर से विन्यस्त करा दिया है। नीरू टीले पर मठ की एक धर्मशाला है जिसमें कबीरपंथी भक्त आकर दो-तीन दिनों तक रहते हैं और यदि श्रद्धा-भाव से समाधियों का अप्रचारित शांत भाव से पूजन करना चाहते हैं तो कोई हस्तक्षेप नहीं करता। लेकिन मठ संत कबीर के सिद्धांतों के अनुकूल इस टीले को मूर्ति-पूजा या समाधि पूजा के आडंबर से भरसक बचाए रखना चाहता है। भक्तों और आर्तजनों के निवेदन पर महन्त की स्वीकृति से यहां हिंदू या मुसलमान जो भी चाहे इबादत और प्रार्थना के लिए उपस्थित हो सकता है। पाखण्ड को छोड़कर स्वच्छ मन से की जाने वाली कामना या आराधना यहां वर्जित नहीं है।

मगहर

काशी मात्र विद्या और धर्म साधना का ही सबसे बड़ा केंद्र नहीं था बल्कि तन्तु व्यवसाय करने वाले वस्त्रकर्मियों, जुलाहों तथा कोरियों का भी एक बहुत बड़ा केंद्र था। अवध से लेकर काशी तक वस्त्र-व्यवसाय से संबंधित तमाम श्रमिक और व्यवसायी काशी आते-जाते रहते थे और अपना ही काम करने वाले एक विरक्त संत के प्रति वे निश्चित रूप से अधिक निष्ठावान रहे होंगे। आज भी वस्त्र-श्रमिकों का समूह हिंदू-मुस्लिम संप्रदाय की पिछड़ी जातियों से ही संबद्ध है। संत कबीर के अधिकांश भक्त इसी वर्ग से आए होंगे और संत कबीर को अपने भक्तों के अनुरोध पर झूंसी, जौनपुर, गोरखपुर, मगहर जाना पड़ता रहा होगा। धीरे-धीरे संत कबीर के प्रभाव का क्षेत्र बढ़ा और उनके पूर्व सबसे अधिक प्रभावशाली योगी गोरखनाथ से संबंधित लोग उनसे आकृष्ट हुए होंगे। अनेक गोष्ठी-ग्रंथों में गोरख और कबीर के बीच संवाद की चर्चा है। गोरखनाथ का सबसे बड़ा प्रभाव-क्षेत्र गोरखपुर और उसके आसपास का अंचल था। संत कबीर से आकृष्ट लोगों ने संत कबीर में गोरखनाथ का ही रूप देखा होगा अत: गोरखपुर के आसपास का क्षेत्र संत कबीर का कर्म-क्षेत्र बन गया।

मगहर और उसके आसपास का अंचल जुलाहा और कोरी बहुल क्षेत्र है और गोरखनाथ के प्रभाव क्षेत्र में आता है। निश्चित रूप से संत कबीर ने गोरखपंथी चमत्कार, तंत्र-रहस्य और भाव-विहिन हठ साधना को कम करने के लिए गोरखपंथी क्षेत्रों में बार-बार यात्रा की होगी, क्योंकि वे साधना को प्रेम से, अर्थात् भक्ति (तसव्वुफ) के कुछ रागात्मक तत्वों से, जोड़ रहे थे। गोरखपुर का पूरा का पूरा अंचल रागात्मक साधना के लिए एक चुनौती के रूप में सामने आया होगा और उस पूरे अचंल में मगहर का इलाका सबसे ज्यादा वीरान, उदास अर्थात पूर्ण प्रतितीर्थ के रूप में दिखाई पड़ा होगा।

कबीर-धूनी और गोरखतलैया

अनुश्रुति है कि मगहर अभिशप्त था और वहां एक युग से अकाल पड़ा हुआ था। धरती सूख चुकी थी, कहीं पानी नहीं था। जनता की त्राहि-त्राहि से विह्वल होकर वहां से नवाब बिजली खां काशी आए। वे जानते थे कि संत कबीर हिंदू-मुस्लिम दोनों वर्गों में, विशेष रूप से श्रमजीवियों में, अत्यंत लोकप्रिय हैं। शेख़ों, पंडितों ओर धर्माचार्यों की संत कबीर से जुड़ी पराभव-गाथा भी वे सुन चुके थे। वे एक भक्त और सेवक की तरह संत कबीर के पास आए और मगहर की जनता की पीड़ा और वहां के अकाल के बारे में उनसे कहा। संत कबीर का शरीर वृद्ध हो चुका था। वे स्वयं जानते थे कि इतनी लम्बी यात्रा के बाद एक वीरान (अब आबाद) से लौटना संभव नहीं होगा। फिर भी अपने लोगों की पुकार पर जब उन्होंने मगहर जाने का निश्चय किया तो प्रेमियों और भक्तों ने उनके वृद्ध शरीर की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। उनके पास आने-जाने वाले एक मिथिला निवासी व्यास ने यह भी कहा कि मगहर में मरने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। अत: अंतिम समय काशी छोड़कर नरक के द्वार मगहर जाना ठीक नहीं है। तब संत कबीर ने अपनी दृढ़ भक्ति और गहन आत्मनिष्ठा के स्वर में उस व्यास को बताया :

क्या काशी क्या ऊसर मगहर, जो पै राम बस मोर।
जो कबिरा काशी मरे, रामहि कौन निहोर।।

और संत कबीर मगहर गए। अकाल में झुलसी हुई भूमि को उन्होंने देखा और उन्हें यह लगा कि तीर्थों के प्रति पागल, अंध श्रद्धा से अभिभूत जनता को आकृष्ट करने के लिए ऐसा तीर्थ दूसरा हो नहीं सकता। उन्होंने तय किया कि वे जल को ही पुकारेंगे। जल को पुकारने के लिए उन्होंने मगहर

क एक नितान्त ऊसर स्थान को अपनी साधना के लिए चुना और वहीं पर जलती हुई धरती, जलती हुई धूप के बीच आग जलाकर अपनी 'धूनी' सुलगाई। आग जलती रही, धूनी सुलगती रही और कबीर तप में तपते रहे। लोगों का आना-जाना शुरू हुआ। दर्शनार्थी आए, संत आए, फकीर आए, प्रजा आई, राजा आए और अनजाने एक साधु-भाव आप्यायित हो गया। लोगों ने संत कबीर से कहा, 'यहां तो आग ही आग है, धरती जल रही है, आसमान जल रहा है, आप जल रहे हैं, हम जल रहे हैं, लेकिन पानी कहीं नहीं है।' संत कबीर ने गुरु गोरखनाथ के उत्तराधिकारी गोरखपंथी के साथ साधु गोरख की ओर संकेत किया और कहा कि 'यह इन्हीं हठयोगी की साधना भूमि है, इन्हीं से अपना दुख कहो।' गोरखपंथी महंत ने उस चुनौती को स्वीकार किया और अपने वाहिन पांव से पृथ्वी के एक बिंदु को तब तक दबाए रहे जब तक उसमें जलस्रोत नहीं फूट पड़ा। फलतः वहीं एक छोटा सा तालाब बन गया। तपस्या की आग ने पानी को पुकार लिया। यह स्थान 'गोरखतलैया' के नाम से विख्यात हुआ। इसी तालाब के किनारे संत कबीर की 'धूनी' नामक स्मारक है। योग और संत साधना का यहां अद्भुत समन्वय हुआ।

अब दुर्भाग्य से उस ऐतिहासिक स्थान 'गोरखतलैया' के ऊपर सड़कें बना दी गई हैं। अब तालाब का नाम ही बच गया है, तालाब कहीं नहीं है लेकिन 'कबीर धूनी' अभी सुरक्षित है। वहां एक छोटा सा 'धूनी स्मारक' बना हुआ है और वह स्थान मूलगादी कबीरचौरा मठ की सुरक्षित संपत्ति है। प्रतिवर्ष

कबीर- धूनी और गोरखतलैया

कबीर-निर्वाण-दिवस के अवसर पर वहां कबीरपंथी साधुओं का सम्मेलन होता है। समझने के लिए उस स्थान को पर्यटन स्थल के रूप में विकसित किया जाना चाहिए क्योंकि 'कबीर धूनी' और 'गोरखतलैया' सभी भारतीय तीर्थों के प्रतितीर्थ का सुंदर उदाहरण है और धर्म के अंध-विश्वासों को चुनौती देकर एक नये धर्म-विश्वास की स्थापना करने वाले तप का भी प्रतीक है।

संत कबीर की समाधि

कबीर धूनी और गोरखतलैया की जनसंकुलता से बचने के लिए संत कबीर ने वहां से थोड़ी दूर हटकर एक स्थान पर आवास बनाया। वहां उनके विशिष्ट भक्त और कपड़ा बुनने वाले श्रमिक अनुयायी एकत्र हुआ करते हैं। संत कबीर ने अनुभव कर लिया था कि वे धर्म की चुनौती का अपना कार्यक्रम अब प्रायः पूरा कर चुके हैं। अब जाने के पहले उन्हें यह भी तय कर देना था कि जब सभी मनुष्य एक हैं तो समाधि या कब्र एक ही होनी चाहिए। यह प्रयोग वे ही कर सकते थे। सारे संसार में संत कबीर ही अकेले ऐसे महापुरुष हैं जो एक ही साथ कब्र में दफन भी हैं और समाधि में समाधिस्थ भी। वे एक ही साथ हिंदू और मुसलमान दोनों को अपने निर्वाणस्थल की ओर एक साथ बुला रहे हैं। उनका मरण हिंदू या केवल मुसलमान के मरण की तरह-अलग-अलग नहीं है। जैसा जीवन वैसा ही मरण। विश्व का यह दुर्लभ स्थान मगहर-समाधि के नाम से विख्यात है जहां पर एक ऐसी समाधि है जिसकी देखरेख कबीरचौरा मठ के उत्तराधिकारी महंत और साधु करते हैं। उस समाधि से लगा हुआ एक मकबरा भी है जिसकी देख-रेख उदार मुस्लिम या कबीरपंथी करते हैं। ये दोनों स्थान एक दूसरे से सटे हुए हैं और धर्मनिरपेक्ष समझौते के प्रमाण हैं।

कहा जाता है कि संत कबीर ने अपने अनुयायी सुरतिगोपाल साहब, काशी नरेश बीर सिंह बघेल और मगहर के नवाब बिजली खां तथा समस्त भक्तों को अपने निर्वाण की पूर्व सूचना दी और अपनी पर्णकुटी में एक विशाल पुष्प-गुच्छ बनवाकर उसी के भीतर साधना में लीन हो गए। जब यह स्पष्ट हो गया कि संत कबीर देह-त्याग कर चुके हैं तो उनके अनुयायी देह की खोज करने लगे। देह नहीं मिली तो कलह आरंभ हो गया। लेकिन विवेकी लोगों को लग गया कि कोई चमत्कार हुआ है और उन्होंने मिल-जुलकर फूलों को दोनों को आपस में बांट लिया। हिंदुओं ने आधे पुष्प पर समाधि बनाई और मुसलमानों ने आधे का दफन कर एक मकबरा बना दिया। दोनों अगल-बगल हैं।

कबीर के सामने राष्ट्र की परिकल्पना तो नहीं थी लेकिन एक समाज का अस्तित्व अवश्य था जो धर्म और वर्ण में विभक्त था। छुआछूत, कर्मकांड, अमीर-गरीब, आक्रामक और आक्रांत तथा ऐसे अनेकानेक विभेद थे। कबीर हर विभेद और विषमता के विरोधी थे। वे आदमी को बांटने वाले हर विभेद और हर उपाधि के मुखर विरोधी थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे भाषा की आक्रामकता कहा है। कबीर के व्यक्तित्व, भाषा, कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं था। यही कारण है कि उन्होंने समाज के रूढ़िवादियों और पोंगापंथियों को अपना दुश्मन बना लिया था। दूसरी ओर लाखों की संख्या में हर वर्ग के लोगों को अपने पक्ष में किया था जो उनकी सत्यनिष्ठ, विद्रोही वाणी के समझदार श्रोता थे। सारांश यह कि कबीर ने जो किया वह प्रकारांतर से राष्ट्र निर्माण ही था, भले ही कबीर के सामने ऐसी कोई राजनीतिक योजना नहीं थी। अतः कबीर को एक विलक्षण राष्ट्र निर्माता कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। □

अठारहवीं शताब्दी का बनारस

पृष्ठ 25 से आगे

चाहे वह बनारस जमींदारी में रहने वाली राजकुमार जनजाति में प्रचलित बालिका-वध प्रथा का निषेध हो या बनारस शहर की सफाई व्यवस्था, चाहे बनारस के प्रथम सार्वजनिक अस्पताल के निर्माण की बात हो अथवा दुर्भिक्ष या अकाल की परिस्थिति की, या फिर बनारस और आसपास के इलाके में सड़कों की खस्ताहाली की : सरकारी दस्तावेजों में हर तरह की जानकारी उपलब्ध हैं। वास्तविकता तो यह है कि ग्रांट डफ जैसे इतिहासकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इन दस्तावेजों को 'विश्व की सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक सामग्री' कहा है। यह लेख इस ज्ञान-स्रोत की ओर एक संकेत मात्र है जिसका उपयोग कर बनारस प्रेमी तथा शोधार्थी दोनों ज्ञानार्जन कर सकते हैं। □

काशी की ज्योतिष साधना

मध्ययुग में देश के अन्य प्रांतों से, प्रमुखतः महाराष्ट्र से, ज्योतिषियों के कई परिवार काशी में आकर बसे; काशी के कई ज्योतिषियों को दिल्ली दरबार में सम्मान का स्थान मिला। सवाई जयसिंह ने यहां मानमंदिर की छत पर अपनी एक वेधशाला स्थापित की। अंत में पं. वापूदेव शास्त्री और पं. सुधाकर द्विवेदी के प्रयासों से ज्योतिष-अनुसंधान की नगरी के रूप में काशी का नाम विदेश में भी फैला। काशी की ज्योतिष साधना का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं इतिहास-पुरातत्व और ज्योतिर्विज्ञान के जाने-माने लेखक **गुणाकर मुळे**

महामहोपाध्याय पं. सुधाकर द्विवेदी की संस्कृत में एक छोटी किंतु महत्वपूर्ण पुस्तक है—*गणकतरङ्गिणी*, जिसमें प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी के लगभग अंत तक के भारतीय ज्योतिर्विदों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। इनका कुछ अधिक विस्तृत विवरण शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने ग्रंथ *भारतीय ज्योतिष* में पेश किया है। डा. गोरख प्रसाद के *भारतीय ज्योतिष का इतिहास* ग्रंथ में 1900 ई. के बाद के कुछ अतिरिक्त ज्योतिर्विदों का भी समावेश देखने को मिलता है।[1]

भारतीय ज्योतिष के इतिहास के इन मानक ग्रंथों[2] के आधार पर अब हम देखेंगे कि ज्योतिष की साधना में काशी (= वाराणसी) का कितना-कुछ योगदान रहा है।

भारतीय ज्योतिष की सबसे प्राचीन उपलब्ध पुस्तक है—*वेदांग-ज्योतिष*। इसके दो पाठ हैं : *ऋक्-ज्योतिष* जिसमें 36 श्लोक हैं और *यजुः-ज्योतिष* जिसमें 43 श्लोक। इस पुस्तक में गणित-ज्योतिष को वेदांगशास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है।[3] यह पुस्तक 500 ई.पू. के आसपास लिखी गई, परंतु काफी पुराने ज्योतिष-ज्ञान पर आधारित जान पड़ती है। पुस्तक के लेखक का पता नहीं चलता, किंतु इसके एक आरंभिक श्लोक से जानकारी मिलती है कि लेखक ने महात्मा लगध से प्राप्त काल-ज्ञान (ज्योतिष-ज्ञान) को इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है।[4] एक श्लोक से यह भी स्पष्ट होता है कि ग्रंथकार लगभग 35 उत्तरी अक्षांश वाले किसी स्थल (कश्मीर या अफगानिस्तान) का—काशी से बहुत दूर का—निवासी था।

वेदांग-ज्योतिष में ग्रह-गणित नहीं है, न ही 7 वारों और 12 राशियों का कोई जिक्र है। *महाभारत* में भी वारों और राशियों का उल्लेख नहीं है। उस समय हमारे देश में अभी ग्रहों व राशियों के आधार पर भविष्य भाखने का गोरखधंधा नहीं चला था, न ही आज-जैसी जन्म-कुंडलियां बनती थीं। वस्तुतः वैदिक काल में, और बाद में भी कई सदियों तक, हमारे देश में नक्षत्र-पद्धति का ही प्रचलन रहा है, राशि-पद्धति का नहीं। उस समय नक्षत्रों को ही थोड़ा शुभाशुभ मानने का रिवाज था।[5] सबूत है, वाराणसी से ही जुड़ी एक कथा।

नक्खत्त जातक (न. 49)[6] की अतीत कथा है : पूर्व समय में वाराणसी में (राजा) ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय ...। एक नगरवासी-परिवार ने जनपद के एक गांव की कन्या को ब्याह लाने की तिथि निश्चित करने के बाद अपने कुल के एक विश्वासी आजीवक से पूछा : "आज हमारी इस मंगल-क्रिया के लिए क्या नक्षत्र अच्छा है?" आजीवक ने सोचा : "पहले स्वयं मुहूर्त तय करके अब मुझसे पूछते हैं; इन्हें सबक सिखाऊंगा।" बोला : "आज नक्षत्र अच्छा नहीं। यदि कार्य करोगे, तो महाविनाश होगा।"

उस दिन नगरवासियों की बरात नहीं आई, तो गांववालों ने कन्या का ब्याह दूसरे परिवार में कर दिया। दूसरे दिन नगरवासी पहुंचे, तो उन्हें वस्तुस्थिति का पता चला। फसाद खड़ा हो गया। तब वहां पहुंचा एक बुद्धिमान आदमी बोला : "इसमें नक्षत्र से क्या लेना-देना? क्या लड़की का मिलना ही नक्षत्र नहीं है?" कहकर उसने यह गाथा कही :

नक्खत्तं पतिमानेन्तं अत्थो बालं उपच्चगा।
अत्थो अत्थस्स नक्खत्तं किं करिस्सन्ति तारका॥

अर्थात्, जो मूर्ख आदमी लगातार नक्षत्र-कथनों पर आश्रित रहता है, वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। धन (अर्थ) की प्राप्ति के लिए तो धन ही नक्षत्र है; उसमें नक्षत्र (तारे) क्या कर सकते हैं?

कौटिल्य ने अपने *अर्थशास्त्र* की रचना ठीक किस समय और कहां की, इसके बारे में यकीन के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन यह एक दिलचस्प बात है कि 'नक्खत्त जातक' की पालि-गाथा के अर्थ व शब्दों वाला एक संस्कृत श्लोक कौटिल्य

के *अर्थशास्त्र* (9.4.26) में भी देखने को मिलता है :

नक्षत्रमति पृच्छन्तं बालमर्थोऽतिवर्तते ।
अर्थो अर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः ॥

शोधार्थियों को खोजबीन करनी चाहिए कि बौद्ध जातक की पालि-गाथा अधिक प्राचीन है अथवा *अर्थशास्त्र* का संस्कृत श्लोक। हमें तो लगता है कि पालि-गाथा ही अधिक प्राचीन है।

बौद्धों ने नक्षत्रफलविद्या का खुलकर विरोध किया था। *दीघनिकाय* में भविष्य- कथन करने वालों के बारे में बताया गया है : "कुछ ब्राह्मण व श्रमण घृणित पेशों को अपनाकर अपनी जीविका चलाते हैं और भयभीत होकर जो भोजन उन्हें दिया जाता है उसका सेवन करते हैं। वे कहते हैं : 'सूर्य-ग्रहण होने वाला है, चंद्र-ग्रहण होने वाला है, नक्षत्रों की युति होगी, सूर्य व चंद्र सही दिशा में चलेंगे, गलत दिशा में चलेंगे, ... भूकंप आएगा, ... जिससे पृथ्वी के सभी प्राणी त्राहि-त्राहि करेंगे।' इत्यादि।"[7]

बौद्ध ग्रंथों में ही नहीं, *महाभारत* में भी नक्षत्रफलविद्या पर प्रश्नचिह्न लगाए गए हैं।[8] और, *मनुस्मृति* (3.162) में नक्षत्रफलविद्या से जीविका चलाना (नक्षत्रैर्यश्च जीवति) ब्राह्मण के लिए वर्जित बताया गया है। अगले श्लोक में वास्तुविद्या से जीविकार्जन को भी वर्ज्य कहा गया है। एक अन्य श्लोक में मनु कहते हैं : "भूकंप आदि उत्पातों, आंख फड़कना-जैसी शारीरिक गतियों या आज अमुक नक्षत्र है, इसका अमुक फल होगा, इस प्रकार की नक्षत्रविद्या से या अंगविद्या (हाथ देखना आदि) से, नीतिमार्ग का उपदेश देकर और शास्त्रार्थ करके भिक्षा प्राप्त नहीं करनी चाहिए।"[9]

ज्योतिषियों द्वारा बालक सिद्धार्थ के बताए जा रहे भविष्यफल को लिखता शुद्धोदन का एक राजलेखक, नागार्जुनकोंडा, तीसरी सदी ई.

प्राचीन भारत में शिक्षा का सबसे बड़ा केंद्र तक्षशिला (जिला रावलपिंडी, पाकिस्तान) था। यह वैद्यक और धनुर्विद्या की शिक्षा के लिए दूर-दूर तक मशहूर था। जातक-कथाओं में तक्षशिला की बार-बार चर्चा आई है। तक्षशिला से पाणिनि और चाणक्य (कौटिल्य) के भी संबंध रहे हैं। बुद्ध (563-483 ई.पू.) के समकालीन राजगृह के वैद्य जीवक-कौमारभृत्य आयुर्वेद का अध्ययन करने तक्षशिला गए थे। कोशल-नरेश प्रसेनजित् भी तक्षशिला के विद्यार्थी थे। **पंचावुध जातक** (नं. 55) से पता चलता है कि वाराणसी का एक राजकुमार विद्याध्ययन के लिए तक्षशिला गया था। यह भी पता चलता है कि तक्षशिला में अध्ययन करके लौटे स्नातकों ने ही बाद में काशी को शिक्षा का एक उत्तम केंद्र बनाया था।

लेकिन लगता है कि छह वेदांगों में स्थान पाने वाले ज्योतिषशास्त्र के अध्ययन को न तो तक्षशिला में महत्व का स्थान मिला, न ही वाराणसी में। प्राचीन भारत के ऐसे किसी ज्योतिष-ग्रंथ की अथवा गणितज्ञ-ज्योतिषी की जानकारी नहीं मिलती जिसका तक्षशिला या वाराणसी से सीधा संबंध रहा हो। हां, एक जातक-कथा से पता चलता है कि वाराणसी के कुछ ब्राह्मण 'लक्खणमन्तं' (लक्षणमंत्र = फलित-ज्योतिष) में पारंगत थे।

आर्यभट (जन्म 476 ई.) प्राचीन भारत के पहले गणितज्ञ-ज्योतिषी हैं, जिन्होंने अपने समय के बारे में स्पष्ट जानकारी दी है। इनका अब तक एक ही ग्रंथ मिला है—*आर्यभटीय*, जो कुसुमपुर (पाटलिपुत्र = पटना) में लिखा गया था। लेकिन आर्यभट ने ऐसी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं दी है कि उनका जन्म भी कुसुमपुर में ही हुआ था। *आर्यभटीय* के भास्कर-प्रथम (629 ई.), नीलकंठ (1444 ई.) आदि टीकाकारों ने लिखा है कि आर्यभट का जन्म अश्मक जनपद में हुआ था (अश्मकजनपदजात)। यह अश्मक जनपद संभवतः गोदावरीतट का प्रदेश था।

गणित-ज्योतिष के ग्रंथ मुख्यतः तीन प्रकार के थे—सिद्धांत, तंत्र और करण। जिस ग्रंथ में गणना कल्प से आरंभ की जाती थी उसे 'सिद्धांत' कहते थे।[10] जिसमें गणना कलियुग से आरंभ की जाती थी उसे 'तंत्र' कहते थे। और, जिस ग्रंथ में वर्तमान काल के किसी निश्चित क्षण से गणना आरंभ की जाती थी उसे 'करण' कहा जाता था। *आर्यभटीय* भारतीय ज्योतिष का आज उपलब्ध सबसे प्राचीन सिद्धांत-ग्रंथ है; इसमें गणना कलियुगारंभ से भी की गई है, इसलिए इसे तंत्र-ग्रंथ भी माना जाता है।

पं. सुधाकर द्विवेदी ने *गणकतरङ्गिणी* के आरंभ में एक श्लोक दिया है जिसमें ज्योतिषशास्त्र के 18 प्रवर्तकों के नाम हैं, परंतु उनमें से अधिकांश की कृतियां लुप्त हो गई हैं। ईसा की आरंभिक तीन-चार सदियों के दौरान के जिन पांच ज्योतिष-सिद्धांतों के बारे में वराहमिहिर (मृत्यु 587 ई.) की *पंचसिद्धांतिका* में मोटी-मोटी जानकारी मिलती है, वे हैं—पैतामह, वासिष्ठ, पौलिश, रोमक और सौर। पर वराह-वर्णित वे पुराने सिद्धांत आज उपलब्ध नहीं हैं। जो *सूर्य-सिद्धांत* आज उपलब्ध है वह वराह के काफी बाद का संशोधित ग्रंथ है। *पंचसिद्धांतिका* के किसी भी सिद्धांत का काशी से कोई संबंध नहीं जुड़ता। रोमक और पौलिश सिद्धांत स्पष्टतः यूनानी ज्योतिष से संबंधित थे।

वराहमिहिर के समय (ईसा की छठी सदी) तक ज्योतिष तीन स्कंधों (भागों) में बंट चुका था—सिद्धांत (गणित-ज्योतिष), संहिता (मुहूर्त) और होरा (जातक)। गुप्तकाल में लिखी गई *नारदीय संहिता* का भी कथन है : सिद्धान्तसंहिताहोरारूप-*स्कन्धत्रयात्मकम्*। वराहमिहिर ने इन तीनों स्कंधों पर ग्रंथ-रचना की—*पंचसिद्धांतिका* (सिद्धांत), *बृहत्संहिता* (मुहूर्त) और *बृहज्जातक* (होरा, जातक)। वराहमिहिर कापित्थक (उज्जैन से नातिदूर का कायथा गांव) के निवासी थे। पं. सुधाकर द्विवेदी ने 'कापित्थक' के स्थान पर 'काम्पिल्लक' पाठ को अपनाकर वराह का जन्मस्थान कालपी नगर (जिला जालौन, उ. प्र.) बताया है।[11] जो भी हो, वराह का काशी

से कोई सरोकार नहीं था। वराह सूर्य-पूजक थे। उनके पूर्व-पुरुष ईरान से भारत आए थे और यहां 'मग' ब्राह्मण कहलाए। प्रमुखतः मगों के प्रयास से ही भारत में उदीच्य-वेशधारी (पांवों में ऊंचे बूट, चुस्त पाजामा, भारी चोगा व कमरबंद) नए सूर्य की पूजा शुरू हुई थी। ज्योतिष के प्रचार-प्रसार में भी उनका भरपूर योगदान रहा है।

नीचे की तालिका से सहज स्पष्ट हो जाता है कि आगे भी भास्कराचार्य (जन्म 1114 ई.) के समय तक काशी (वाराणसी) में न तो कोई नामी गणितज्ञ-ज्योतिषी हुआ, न ही ज्योतिष का कोई महत्वपूर्ण ग्रंथ रचा गया।

गणितज्ञ-ज्योतिषी	जन्मस्थल/कर्मस्थल	कृति
ब्रह्मगुप्त (जन्म 598 ई.)	भिन्नमाल=भिलमाल (जिला जोधपुर, राजस्थान)	*ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत* (628 ई.), *खंडखाद्यक* (665 ई.)
भास्कर (प्रथम)	वलभी (गुजराज)	*महाभास्करीय*, *आर्यभटीय-भाष्य* (629 ई.)
लल्ल	लाटदेश, दक्षिण गुजरात	*शिष्यधीवृद्धिदतंत्रम्* (748 ई.)
महावीराचार्य (ल. 850 ई.)	मान्यखेट, कर्नाटक	*गणितसार-संग्रह*
पृथूदकस्वामी (ल. 850 ई.)	?	ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों पर टीकाएं
वटेश्वर (जन्म 880 ई.)	बड़नगर, उत्तर गुजरात	*वटेश्वर-सिद्धांत* (904 ई.)
मंजुलाचार्य (ल. 932 ई.)	दक्षिण भारत	*लघुमानस*
भट्टोत्पल (966 ई.)	कश्मीर	वराह के ग्रंथों पर टीकाएं
आर्यभट-द्वितीय (10वीं सदी)	?	*महासिद्धांत*
श्रीधराचार्य (991 ई.)	कर्नाटक	*पाटीगणित, त्रिशतिका*
श्रीपति (ल. 1000-50 ई.)	रोहिणीखंड (उज्जयिनी)	*गणित-तिलक, सिद्धांत-शेखर*
शतानंद (11वीं सदी)	पुरी, उड़ीसा	*भास्वतीकरण* (1099 ई.)
भास्कराचार्य (ज.1114 ई.)	विज्जडविड (महाराष्ट्र)	*सिद्धांत-शिरोमणि* (1150 ई.), *करण-कुतूहल* (1183 ई.)

भास्कराचार्य के समय (ईसा की बारहवीं सदी) उत्तर प्रदेश पर गाहडवालों (गहरवालों)[12] का शासन था; कन्नौज के अलावा वाराणसी भी उनकी एक राजधानी थी। गाहडवाल नरेश गोविंदचंद्र (शासन 1114-1154 ई.) पराक्रम के साथ-साथ ज्ञान का भी धनी था (एष पराक्रमैकवसतिः)। उसके समय में उत्तर प्रदेश व बिहार में शांतता कायम रही।

परंतु 11वीं सदी के प्रथम चरण में सोमनाथ, मथुरा, कन्नौज और ग्वालियर तक हुए महमूद ग़ज़नी (997-1030 ई.) के हमलों के बाद पश्चिमोत्तर भारत में अराजकता और अस्थिरता का माहौल पैदा हो गया था। हालात ऐसे थे कि गांगेयदेव कलचुरि[13] के शासनकाल में अहमद नियाल तिगिन की अफग़ान सेना ने 1033 ई. में बनारस (वाराणसी) पर हमला बोलकर उसे खूब लूट लिया। यह वाराणसी पर पहला मुसलमानी हमला था। फिर भी वाराणसी अभी काफी सुरक्षित थी, इसलिए पश्चिमोत्तर भारत के कई पंडित-परिवार यहां आकर बसने लगे थे। मध्य-एशिया का विद्वान अल-बरूनी (973-1048 ई.), जो महमूद ग़ज़नी की सेना के साथ भारत में आया था और यहां कई साल रहकर उसने संस्कृत सीखी थी और भारतीय शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था, लिखता है : "महमूद ने देश की सम्पन्नता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और वहां ऐसे कारनामे किए जिनके फलस्वरूप हिंदू धूल के कणों की भांति चारों दिशाओं में बिखर गए और लोगों की जबान पर अतीत की कहानी बनकर रह गए। उनके बिखरे हुए अवशेष आज तक मुसलमानों के प्रति घोर घृणा का भाव रखते हैं। यह भी एक कारण है कि हिंदू शास्त्र (ज्ञान-विज्ञान) देश के उन भागों से दूर चले गए हैं जिन पर हमने विजय प्राप्त की थी और उन्होंने ऐसे स्थानों अर्थात् कश्मीर, बनारस (वाराणसी) और अन्य नगरों में जाकर शरण ली जहां हमारे हाथ अब तक नहीं पहुंच पाए हैं और यही वे स्थान हैं जहां सभी विजातियों के प्रति विरोध की उनकी भावना दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती है और उन्हें राजनीतिक तथा धार्मिक दोनों स्रोतों से निरंतर बल मिलता है।"[14]

गाहडवाल युग में वाराणसी देश का एक प्रमुख शिक्षाकेंद्र था। गोविंदचंद्र के समय में पंडित दामोदर की लिखी पुस्तक *उक्तिव्यक्ति प्रकरण* के अनुसार उस समय वाराणसी में शिक्षा का उद्देश्य था : "वेद पढ़व, स्मृति अभ्यसवि, पुराण देखव, धर्म करव।" गाहडवाल राजाओं के पदाधिकारियों में 'नैमित्तिक' नामक राज-ज्योतिषी होते थे, जो राजा के मांगलिक कार्यों के लिए शकुन विचारते थे और शुभ-मुहूर्त निश्चित करते थे। परंतु गाहडवाल युग की वाराणसी के किसी नामी ज्योतिर्विद अथवा ज्योतिष-सिद्धांत ग्रंथ के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती।

सन् 1194 ई. में वाराणसी पर दिल्ली सल्तनत का कब्जा हो गया। उसके साथ ही वाराणसी के इतिहास का एक नया अध्याय आरंभ हुआ। मुसलमानों के अत्याचारों के बावजूद वाराणसी ने धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में अपना नाम बरकरार रखा। काशी में वेद-वेदांगों और व्याकरण की ही नहीं, रसशास्त्र, ज्योतिष व निमित्तशास्त्र जैसे विषयों की शिक्षा की भी व्यवस्था थी।

मध्ययुगीन काशी की शिक्षा के बारे में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसमें भारत के दूसरे प्रदेशों से आए पंडितों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। महामहोपाध्याय डा. गोपीनाथ कविराज ने लिखा है : "यवनकाल (मुस्लिम काल) में हिंदू समाज की संस्कृति का भार प्रधान रूप से काशी पर ही निर्भर रहा। यद्यपि भारत के विभिन्न प्रांतों में विद्याकेंद्र विद्यमान थे और उनका प्रभाव भी कुछ कम नहीं था, तथापि ऐसा विशिष्ट केंद्र शायद ही कोई होगा, जिसकी काशी के साथ तुलना की जा सके। मध्ययुग में यवनों (मुसलमानों) के उपद्रव भारत के बहुत-से स्थानों में होते रहते थे। उनसे तंग आकर भी भारत के नाना प्रदेशों से पंडित-वर्ग काशी की ओर आकृष्ट होता था। व्यक्तिगत दृष्टि से देखा जाए, तो यह भी सत्य है कि बहुत-से विद्वान जीवन

का अंतिम भाग काशी में व्यतीत करने के लिए यहां आते थे और अंत समय तक काशी में ही निवास करते थे। कभी-कभी मनीषी-वर्ग अपने परिवार के साथ स्वदेश का परित्याग कर काशी में आकर बस जाता था एवं वंशानुक्रम से काशीवासी होकर रहने का उद्योग करता था। यह केवल किसी एक प्रदेश की बात नहीं है, भारत के सभी प्रदेशों का एक-सा इतिहास है। ये पंडित परस्पर सम्मिलित होकर काशी के विद्वत्समाज का संगठन करते थे।"[15]

म.म. गोपीनाथ कविराज मध्ययुग में, 13वीं सदी से 18वीं सदी तक की अवधि में, काशी में संकलित संस्कृत साहित्य का सर्वेक्षण करने के बाद उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुंचे थे। यहां हमें ज्योतिष संबंधी साहित्य से सरोकार है। काशी के 13वीं-14वीं सदी के किसी नामांकित ज्योतिर्विद या ज्योतिष-ग्रंथ के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती; सुधाकर द्विवेदी, शं. बा. दीक्षित और गोरख प्रसाद ने भी नहीं दी है। परंतु तीनों ने ही लोदी शासनकाल (1414-1526 ई.) के ज्योतिषी मकरंद (1438 ई.) का उल्लेख किया है। इन्होंने *सूर्य-सिद्धांत* (संशोधित) के आधार पर अपने ही नाम की एक ज्योतिष-सारणी (*मकरंद सारणी*) तैयार की। ग्रह-स्थितियों की गणना को आसान बनाने के लिए जो विशेष प्रकार की तालिकाएं तैयार की जाती हैं उन्हें 'कोष्ठक' अथवा 'सारणी' कहते हैं। पंचांग बनाने के लिए और फलित-ज्योतिष का धंधा करनेवालों के लिए ये सारणियां उपयोगी होती हैं।

मकरंद सारणी में ग्रंथारंभकाल शक 1400 (1478 ई.) दिया गया है। इसके आरंभ में श्लोक है :

श्रीसूर्यसिद्धान्तमतेन सम्यग् विश्वोपकाराय गुरुप्रसादात्।
तिथ्यादिपत्रं वितनोति काश्यामानन्दकन्दो मकरन्दनामा ॥

मकरंद सारणी, विवरण और उदाहरणों के साथ, प्रकाशित हुई है और आज भी मिलती है। इसका अंग्रेजी में भी अनुवाद हुआ है। इस सारणी में तिथि, नक्षत्र, योगों तथा ग्रहों की दैनिक गति दी गई है। पंचांग बनाने में आज भी इस सारणी का उपयोग होता है। *मकरंद सारणी* पर दो दर्जन से भी ज्यादा टीकाएं लिखी गई हैं।

मुगलकाल में, विशेषकर अकबर के शासनकाल (1556-1605 ई.) में, वाराणसी का माहौल अपेक्षाकृत शांत रहा। उस दौरान भारत के अन्य प्रांतों से कई पंडित-परिवार वाराणसी में आकर बसे। इनमें महाराष्ट्र से आए तीन परिवारों का ज्योतिष के विकास में विशेष योगदान रहा है। इनमें एक परिवार का मूल निवासस्थान विदर्भ के मातृपुर अथवा मातापुर (माहूर) स्थान के दक्षिण में गोदावरी-तटक्षेत्र का धर्मपुर गांव था। इनकी वंशावली है :

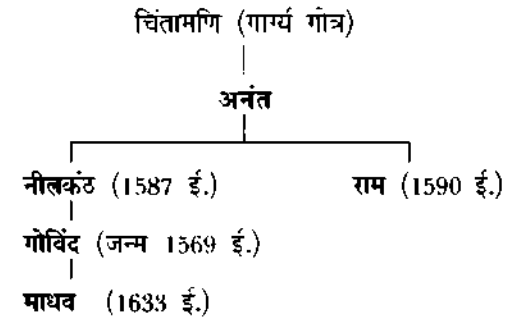

अनंत : वाराणसी में आकर बसनेवाले इस कुल के ये पहले ज्योतिषी हैं; आगे इनके वंशज काशी में ही रहे। अनंत ने महादेव कृत पंचांगसाधनोपयोगी *कामधेनु* नामक ग्रंथ पर टीका लिखी (लगभग 1558 ई.) और *जातकपद्धति* नाम का जातक ग्रंथ बनाया। इनके पिता चिंतामणि भी एक नामी ज्योतिषी थे।

नीलकंठ : ये अकबर के दरबार में प्रधान पंडित थे। इन्होंने अकबर के वित्तमंत्री तोडरमल (टोडरमल) के नाम पर *तोडरानंद* नामक ग्रंथ लिखा, जो आज उपलब्ध नहीं है। अरबी व फारसी ग्रंथों के आधार पर 1587 ई. में रचित इनका *ताजिक नीलकंठी* ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है और इसकी कई टीकाएं उपलब्ध हैं। ताजिक पद्धति में वर्षफल बताया जाता है।[16] नीलकंठ का 60 श्लोकों का *जातकपद्धति* नामक एक और ग्रंथ है, जो मिथिला प्रदेश में काफी प्रसिद्ध है।

राम : अपने बड़े भाई नीलकंठ की तरह इनकी ख्याति भी अकबर के दरबार तक पहुंच गई थी। इन्होंने जयपुर के राजपुत्र राम के नाम पर *रामविनोद* नामक करण ग्रंथ बनाया, जिसका जयपुर की तरफ पंचांग बनाने के लिए उपयोग होता रहा है। परंतु राम का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है *मुहूर्तचिन्तामणि*, जिसकी रचना उन्होंने काशी में 1600 ई. में की थी। आज भी इस मुहूर्त ग्रंथ का बहुत इस्तेमाल होता है। इस ग्रंथ पर स्वयं लेखक की और उनके बड़े भाई नीलकंठ के पुत्र **गोविंद** की टीकाएं हैं। गोविंद के पुत्र **माधव** ने 1633 ई. में *नीलकंठी* की टीका लिखी। माधव ने लिखा है कि उनके पिता गोविंद बादशाह जहांगीर के मान्य थे।

महाराष्ट्र का जो दूसरा प्रसिद्ध ज्योतिषी-परिवार काशी में आकर बसा उसका मूलस्थान विदर्भ प्रदेश में गोदावरी व विदर्भा नदियों के संगम से कुछ दूर के पार्थपुर (पाथरी) स्थान के उत्तर में स्थित गोलग्राम (गोळेगांव) था। भारद्वाज गोत्री इस कुल में कई नामी ज्योतिषी हुए हैं। इनकी वंशावली है :

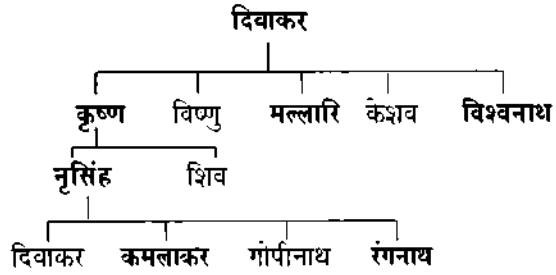

पता चलता है कि यह पंडित-कुल 1578 ई. के बाद काशी में आया। काशी में आकर बसने वाले **दिवाकर** इस कुल के पहले व्यक्ति थे और मल्लारि इनके कुलदेवता थे। इस वंश के विद्वानों के 1611 ई. के बाद के सभी ग्रंथ काशी में बने हैं।

कृष्ण : इन्होंने बीजगणित पर एक सूत्रात्मक ग्रंथ लिखा था।

मल्लारि : इन्होंने गणेश दैवज्ञ के *ग्रहलाघव* ग्रंथ की टीका लिखी है।

विश्वनाथ : इन्होंने *सूर्यसिद्धांत, सिद्धांत-शिरोमणि, करण-कुतूहल, ग्रहलाघव* आदि कई ग्रंथों पर उदाहरणों-सहित टीकाएं लिखी हैं।

नृसिंह : इनका जन्म 1586 ई. में हुआ था। इन्होंने 25 वर्ष की आयु में *सूर्य-सिद्धांत* पर *सौरभाष्य* टीका और 35 वर्ष की आयु में भास्कराचार्य-विरचित *सिद्धांत-शिरोमणि* (1150 ई.) पर *वासना-वार्तिक* नामक टीका लिखी। सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय (वाराणसी) ने इनकी *वासना-वार्तिक* टीका प्रकाशित की है।

शिव : इनका *मुहूर्तचूडामणि* नामक मुहूर्त ग्रंथ प्रसिद्ध है।

दिवाकर : इन्होंने एक जातक ग्रंथ और *मकरंद-सारिणी* पर उदाहरण-सहित टीका लिखी है।

कमलाकर : इन्होंने काशी में 1658 ई. में सूर्य-सिद्धांत के अनुसार *सिद्धान्ततत्वविवेक* नामक ग्रंथ लिखा। ये सूर्य-सिद्धांत के अनुयायी थे, एक प्रकार से उसके अंधभक्त थे। पर इनके सिद्धांत में कई नई बातें भी हैं। इन्होंने लिखा है कि सम्पात गति के कारण ध्रुवतारा अस्थिर है और वर्तमान में जो ध्रुवतारा दिखाई देता है वह ठीक ध्रुवबिंदु पर स्थित नहीं है। इन्होंने तुरीय यंत्र से वेध करने की विस्तृत जानकारी दी है। ये एक सीमा तक विदेशी ज्ञान को अपनाने के पक्ष में थे। पंडित सुधाकर द्विवेदी ने *सिद्धान्ततत्वविवेक* को संपादित करके प्रकाशित कराया था।

रंगनाथ : भास्कराचार्य के *सिद्धांत-शिरोमणि* पर इनकी *मितभाषिणी* नामक टीका है। इन्होंने *सिद्धांत-चूडामणि* नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखा है।

महाराष्ट्र से ज्योतिषियों का एक और प्रसिद्ध कुल काशी आकर यहां बसा। यह कुल मूलतः विदर्भ प्रदेश के पयोष्णी (पूर्णा) नदीतट के दधिग्राम (आधुनिक दहीगांव) का निवासी था।[17] यह गांव अमरावती जिले के अचलपुर (एलिचपुर) शहर के पूर्व में है। यहां से काशी जाने वाले पहले ज्योतिषी का नाम **बल्लाल** था। बल्लाल के बाद इनके वंशज काशी में ही रहे। इनकी वंशावली है :

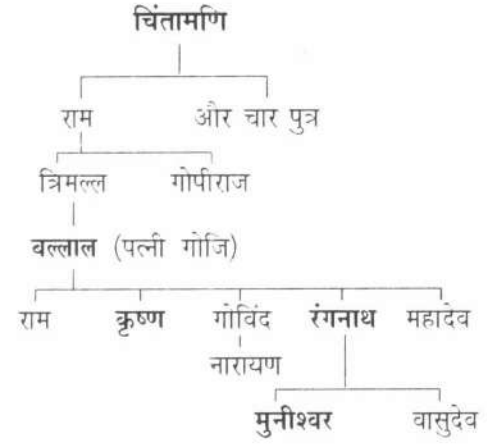

चिंतामणि के पुत्र राम का एलिचपुर के राजदरबार में बड़ा सम्मान था। काशी में पहुंचे बल्लाल के ज्येष्ठ पुत्र राम ने *अनंतसुधाकर* की उपपत्ति लिखी है।

कृष्ण : बल्लाल के ये दूसरे पुत्र बहुत बड़े ज्योतिषी थे। इन्होंने भास्कराचार्य की *बीजगणित* पुस्तक पर *बीजनवांकुर* नामक एक सुंदर टीका लिखी है, जिसमें कई नवीन युक्तियां प्रस्तुत की गई हैं। इन्होंने श्रीपति कृत *जातक-पद्धति* पर टीका और *छादकनिर्णय* नामक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा है। पता चलता है कि बादशाह जहांगीर (1805-1627 ई.) के दरबार में कृष्ण की बड़ी प्रतिष्ठा थी।

रंगनाथ : इन्होंने काशी में *गूढार्थप्रकाशिका* नाम से *सूर्य-सिद्धांत* की उपपत्तियुक्त टीका लिखी, जिससे पता चलता है कि ये सिद्धांत ज्योतिष के अच्छे जानकार थे।

मुनीश्वर : रंगनाथ ने अपने इस पुत्र का जन्मकाल वही दिया है जो कि उनकी टीका *गूढार्थप्रकाशिका* का है (1603 ई.)। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं : भास्कराचार्य की *लीलावती* पुस्तक पर टीका, भास्कराचार्य के *सिद्धांत-शिरोमणि* के गणिताध्याय व गोलाध्याय पर *मरीचि* नामक टीका और स्वतंत्र ग्रंथ *सिद्धान्तसार्वभौम*। पं. सुधाकर द्विवेदी इनके *पाटीसार* नामक एक और ग्रंथ की जानकारी देते हैं। ये बादशाह शाहजहां के आश्रय में थे; इन्होंने शाहजहां के राज्याभिषेक का समय दिया है—4 फरवरी 1628।

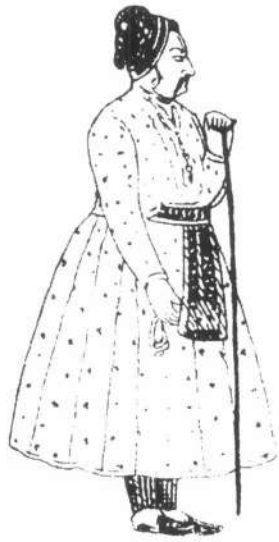

महाराजा सवाई जयसिंह (1686-1743 ई.)

काशी ज्योतिर्विज्ञान के अध्ययन की देश की एक प्रमुख नगरी बन गई, तो आमेर-जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह (1686-1743 ई.) ने यहां के मानमंदिर की छत पर एक वेधशाला की स्थापना की। काशी के अलावा दिल्ली, जयपुर, उज्जैन व मथुरा[18] में भी जयसिंह ने चूना-पत्थर के विशाल यंत्रों से युक्त वेधशालाएं स्थापित की थीं। गंगा नदी के बाएं तट पर मणिकर्णिका घाट के निकट 'मानमंदिर' का निर्माण सत्रहवीं सदी के आरंभ में आमेर के राजा मानसिंह (मृत्यु 1614 ई.) ने करवाया था। मानमंदिर की छत पर वेधशाला ठीक किस साल स्थापित की गई, इसके बारे में अलग-अलग मत हैं, परंतु ज्यादा संभावना यही है कि काशी की इस वेधशाला का निर्माण 1737 ई. में हुआ था।

काशी की वेधशाला के प्रमुख यंत्र हैं : (1) सम्राट-यंत्र, (2) नाडीवलय-यंत्र, (3) दिगंश-यंत्र, और (4) चक्र-यंत्र। यहां का सम्राट-यंत्र जयपुर व दिल्ली जैसा ही है, परंतु ऊंचाई में उनसे छोटा है। यहां एक छोटा सम्राट-यंत्र भी है।

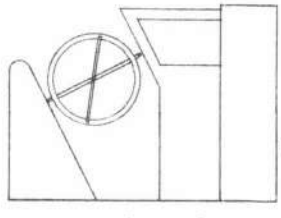

चक्र यंत्र, काशी

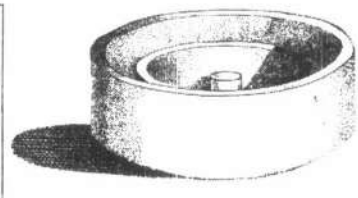

दिगंश यंत्र, काशी

सवाई जयसिंह के जीवनकाल में उनकी इन वेधशालाओं का उपयोग हुआ, यहां वेधकार्य हुआ, 'ज़िज मुहम्मदशाही' नामक सारणी

भी तैयार हुई। लेकिन जयसिंह के बाद न तो उनकी सारणी का कोई उपयोग हुआ, न ही उनकी वेधशालाओं का।[19] प्रत्यक्षदर्शी सर रॉबर्ट बार्कर के अनुसार, 1772 ई. में ही काशी की वेधशाला का एक हिस्सा अस्तबल में और दूसरा हिस्सा काठ-कबाड़ के गोदाम में तब्दील हो गया था।[20] उन्नीसवीं सदी के मध्य में इस वेधशाला की मरम्मत हुई थी। फिर 1912 ई. में जयपुर के महाराजा ने पुनः इस वेधशाला की मरम्मत करवाई थी। लेकिन जयसिंह की बनवाई इन वेधशालाओं का अब कोई उपयोग नहीं है। मानमंदिर के आसपास ऊंची इमारतें बन जाने से यहां से कोई वेधकार्य नहीं हो सकता। अब भारतीय ज्योतिष का यह काशीस्थ ऐतिहासिक स्मारक 'श्रीसुधाकर द्विवेदी वेधशाला' के नाम से जाना जाता है।

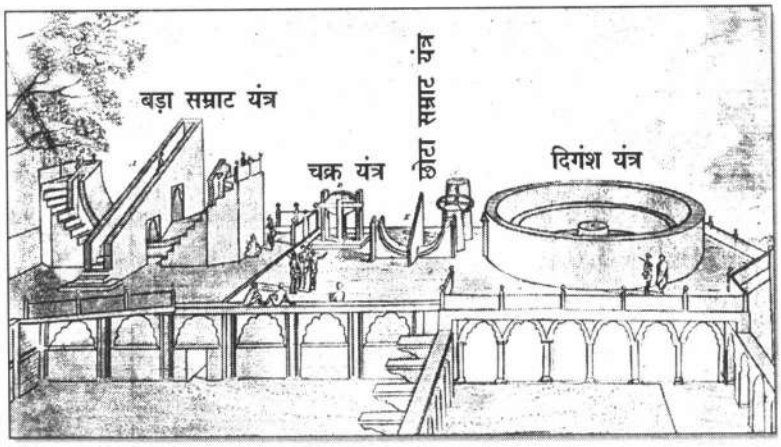

सर रॉबर्ट बार्कर के 1777 ई. में प्रकाशित लेख (Brahmin's Observatory at Benares) के साथ दिया गया काशी की मानमंदिर-वेधशाला का रेखाचित्र।

लगभग दो सौ साल पहले वाराणसी में **मथुरानाथ शुक्ल** नाम के एक वेधकर्ता ज्योतिर्विद हुए हैं। इनके पिता पटना के निवासी थे, परंतु बाद में काशी में रहने लगे थे। मथुरानाथ को काशी के सुप्रसिद्ध समाजसेवी राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' के पितामह दयालुचंद्र (राजा डालचंद) का आश्रय प्राप्त था। ये सन् 1813 से 1818 ई. तक काशी की संस्कृत पाठशाला के पुस्तकालय से सम्बद्ध थे। ये ज्योतिष सिद्धांत के अच्छे जानकार थे और फारसी भी जानते थे। मथुरानाथ ने 1782 ई. में संस्कृत में *यंत्रराजघटना* नामक ग्रंथ लिखा। इन्होंने इस ग्रंथ में यंत्रराज (Astrolabe) की रचना और उससे वेध करने की रीति का वर्णन किया है।

महाराष्ट्र में पैदा होने पर भी महामहोपाध्याय बापूदेव शास्त्री (1821-1890 ई.) के मन में काशी के प्रति अपार लगाव था। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर एक बार कश्मीर के महाराजा ने इन्हें एक हजार रुपए मासिक वेतन पर अपने यहां बुलाना चाहा। बापूदेव शास्त्री ने महाराजा को लिखा : "प्राचीन काल में राजा लोग ब्राह्मणों को काशीवास के लिए सहायता दिया करते थे और आप हैं कि मुझसे काशी छुड़वाना चाहते हैं!"

यूरोप में भारतीय गणित-ज्योतिष की संस्कृत हस्तलिपियों का अध्ययन 17वीं सदी के उत्तरार्ध से आरंभ हुआ। एशिया के, प्रमुखतः भारत के पुरातत्व, विज्ञान, साहित्य, कला-कौशल आदि के अध्ययन व अन्वेषण के लिए कलकत्ता (कोलकाता) में सन् 1784 में 'एशियाटिक सोसायटी' की स्थापना हुई। सन् 1799 में जॉन बेंटली ने *सूर्य-सिद्धांत* से संबंधित अपना अध्ययन प्रस्तुत किया तो अंग्रेजी जगत को भारतीय ज्योतिष की पहली बार व्यापक जानकारी मिली।

फिर जिस संस्कृतज्ञ अंग्रेज ने गणित-ज्योतिष के प्राचीन भारतीय ग्रंथों का अध्ययन करके विस्तारपूर्वक लिखा वे हैं हेनरी टॉमस कोलब्रूक (1765-1837 ई.)। उन्होंने ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य के ग्रंथों की हस्तलिपियों का अध्ययन-अन्वेषण करके 1817 ई. में भारतीय अंकगणित व बीजगणित के बारे में एक महत्वपूर्ण प्रबंध प्रकाशित किया। परंतु उस समय, काफी कोशिश करने पर भी, कोलब्रूक को आर्यभट कृत *आर्यभटीय* (499 ई.) की कोई हस्तलिपि नहीं मिली थी!

भारतीय गणित- ज्योतिष के प्राचीन ग्रंथों की केवल हस्तलिपियां प्राप्त करना ही पर्याप्त नहीं था, उनका संपादन करके उन पर नए ज्ञान के प्रकाश में विवेचनात्कम टीकाएं लिखना भी अत्यावश्यक था। यह काम पाश्चात्य गणित- ज्योतिष की भी अच्छी जानकारी रखने वाले भारतीय विद्वान ही अधिक कुशलता से कर सकते थे। इस काम में अग्रणी भूमिका अदा की म.म. बापूदेव शास्त्री और म.म. सुधाकर द्विवेदी ने। दोनों ही बनारस के गवर्नमेंट संस्कृत कालेज में गणित-ज्योतिष के अध्यापक थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के रेजीडेंट जोनाथन डंकन के प्रयास से सन् 1791 में इस संस्कृत पाठशाला (बाद में कालेज और अब विश्वविद्यालय) की स्थापना हुई थी। देश-विदेश के कई विद्वानों के प्रयासों से इस संस्कृत कालेज के पुस्तकालय में गणित-ज्योतिष के ग्रंथों की बहुत-सी हस्तलिपियां एकत्र की गई थीं।

सबसे पहले पं. बापूदेव शास्त्री (1821-1890 ई.) के योगदान की चर्चा करना जरूरी है। इनका जन्म महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले में गोदावरी-नदीतट के टोके गांव में हुआ था। जन्मनाम नृसिंह था, मगर माता-पिता इन्हें प्यार से 'बापू' कहकर पुकारते थे। इसीलिए बाद में बापूदेव शास्त्री के नाम से प्रसिद्ध हुए। बचपन से ही प्रखर बुद्धि के थे। आरंभिक पढ़ाई नागपुर की मराठी पाठशाला में हुई। वहीं पर इन्होंने भास्कराचार्य की *लीलावती* व *बीजगणित* पुस्तकों का अध्ययन किया। फिर सिहोर राज्य (मध्य प्रदेश) के एजंट लांसलेट विल्किन्सन इन्हें गणित में निपुण देखकर अपने साथ ले गए। बापूदेव ने सिहोर की

संस्कृत पाठशाला में गणित-ज्योतिष का अध्ययन किया।

विल्किन्सन के प्रयास से सन् 1842 में बापूदेव शास्त्री वाराणसी की संस्कृत पाठशाला में गणित के अध्यापक नियुक्त हुए, और अंत समय तक वहीं रहे। इन्होंने गणित-ज्योतिष से संबंधित विषयों पर छोटे-बड़े कई ग्रंथ लिखे। इन्होंने विल्किन्सन द्वारा किए *सिद्धान्त-शिरोमणि* (भास्कराचार्य कृत) के अंग्रेजी अनुवाद का संशोधन किया। बापूदेव शास्त्री ने *सूर्य-सिद्धान्त* का अंग्रेजी में अनुवाद किया, जो कलकत्ता से 1861 ई. में प्रकाशित हुआ। इन्होंने *सिद्धांत-शिरोमणि* की *गणिताध्याय, गोलाध्याय* तथा *लीलावती* पुस्तकों पर टीकाएं लिखकर उन्हें छपवाया। इन्होंने गणित पर हिंदी में भी कुछ पुस्तकें लिखीं। सन् 1887 में सरकार ने इन्हें 'महामहोपाध्याय' की पदवी प्रदान की।

पं. बापूदेव शास्त्री पंचांग में सुधार करना चाहते थे। वे सायन पंचांग के पक्षधर थे, और इसके लिए उन्होंने प्रयास भी किए। किंतु काशी के एक पंडित-वर्ग ने उनका विरोध किया। विवश होकर काशीराज के आश्रय में इन्हें भी निरयण पंचांग ही छापना पड़ा, जो आज भी निकल रहा है।

महाराष्ट्र में पैदा होने पर भी महामहोपाध्याय पं. बापूदेव शास्त्री के मन में काशी के प्रति अपार लगाव था। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर एक बार कश्मीर के महाराजा ने इन्हें एक हजार रुपए मासिक वेतन पर अपने यहां बुलाना चाहा। बापूदेव शास्त्री ने महाराजा को लिखा : "प्राचीन काल में राजा लोग ब्राह्मणों को काशीवास के लिए सहायता दिया करते थे और आप हैं कि मुझसे काशी छुड़वाना चाहते हैं!"

महामहोपाध्याय पं. सुधाकर द्विवेदी (1860-1922 ई.)

पं. सुधाकर द्विवेदी ने गणित-ज्योतिष का अध्ययन वाराणसी के संस्कृत कालेज में ही किया था। इनकी प्रतिभा से बापूदेव शास्त्री बहुत प्रभावित थे। उन्होंने एक बार इनके बारे में कहा था : "श्री सुधाकर शास्त्री गणिते बृहस्पति समः।"

म.म. बापूदेव शास्त्री जब संस्कृत कालेज में गणित के अध्यापक थे तभी, सन् 1883 में, सुधाकरजी वहां के 'सरस्वती भवन पुस्तकालय' के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे। बापूदेव शास्त्री के सन् 1889 में सेवा-निवृत्त होने पर सुधाकरजी उनके स्थान पर गणित-ज्योतिष के प्रधान अध्यापक नियुक्त हुए। उसके पहले ही सन् 1897 में सरकार ने इन्हें 'महामहोपाध्याय' की पदवी दी थी।

प. सुधाकर द्विवेदी का जन्म सन् 1860 में काशी के समीप के खजुरी गांव में हुआ था। इनके नामकरण के बारे में एक किस्सा बताया जाता है। सन् 1850 से काशी से *सुधाकर* नाम का एक हिंदी पत्र निकल रहा था। कहते हैं कि डाकिए ने ज्योंही इनके चाचा को *सुधाकर* की प्रति लाकर दी उसी समय घर के भीतर से दाई समाचार लाई कि उनके भाई के पुत्र हुआ है। इसी से इनके चाचा ने इनका नाम सुधाकर रखा।

पं. सुधाकर द्विवेदी संस्कृत और गणित-ज्योतिष के तो पंडित थे ही, अंग्रेजी, फ्रांसीसी व मराठी भाषाएं भी जानते थे। इन्होंने प्राचीन गणित-ज्योतिष के अनेक ग्रंथों पर शोध करके टीकाएं लिखीं और आधुनिक गणित पर भी कई पुस्तकें लिखीं। इनके रचे प्रमुख ग्रंथ हैं :

1. *दीर्घवृत्त लक्षण* : इसमें दीर्घवृत्त के नियम उपपत्ति के साथ दिए गए हैं।

2. *विचित्रप्रश्न* : इसमें गणित से संबंधित 20 कठिन प्रश्न और उनके उत्तर हैं।

3. *वास्तव चंद्रशृंगोन्नति साधन* : इसमें पहले के ज्योतिषियों के दोष दिखाकर यूरोपीय ज्योतिष के अनुसार सूक्ष्म शृंगोन्नतिसाधन बतलाया गया है।

4. *द्युचरचार* : इसमें आधुनिक गणित-ज्योतिष के अनुसार ग्रह की कक्षा का विवेचन किया गया है।

5. *ग्रहणकरण* : इसमें ग्रहणों का गणित करने की रीति बताई गई है।

6. *गोलीय रेखागणित*।

7. **यूक्लिड** की छठी, 11वीं और 12वीं पुस्तकों का संस्कृत में श्लोकबद्ध अनुवाद।

8. *गणकतरङ्गिणी* : इसमें भारतीय गणितज्ञ-ज्योतिषियों की जीवनी और उनकी कृतियों का परिचय है।

उपर्युक्त पुस्तकें संस्कृत में हैं। सुधाकरजी की संस्कृत टीकाएं हैं :

9. यंत्रराज पर *प्रतिभाबोधक* टीका।

10. भास्कराचार्य की *लीलावती* पर टीका।

12. भास्कराचार्य के *बीजगणित* पर टीका।

13. भास्कराचार्य के *करण-कुतूहल* पर टीका।

14. वराहमिहिर की *पंचसिद्धांतिका* पर टीका। यह टीका संस्कृत कालेज के उस समय के प्रिंसिपल डा. जॉर्ज थीबो के अंग्रेजी अनुवाद और भूमिका सहित सन् 1889 में प्रकाशित हुई।

15. सूर्य-सिद्धांत की टीका। इसका पहला संस्करण *बिब्लिओथिका इंडिका* के दो भागों में सन् 1909-11 में प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा संस्करण एशियाटिक सोसायटी से छपा। इसका नया संस्करण वाराणसी के सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय (संस्कृत कालेज का वर्तमान नाम) से प्रकाशित हुआ है।

16. ब्रह्मगुप्त का *ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत*, टीका सहित।

17. आर्यभट-द्वितीय का *महासिद्धांत*, टीका सहित।

18. गणेश दैवज्ञ के *ग्रहलाघव* की टीका, मल्लारि और विश्वनाथ की टीकाओं सहित।

इनके अलावा पं. सुधाकर द्विवेदी ने कमलाकर के *सिद्धान्ततत्वविवेक* को, लल्ल के *शिष्यधीवृद्धिदतंत्र* को और

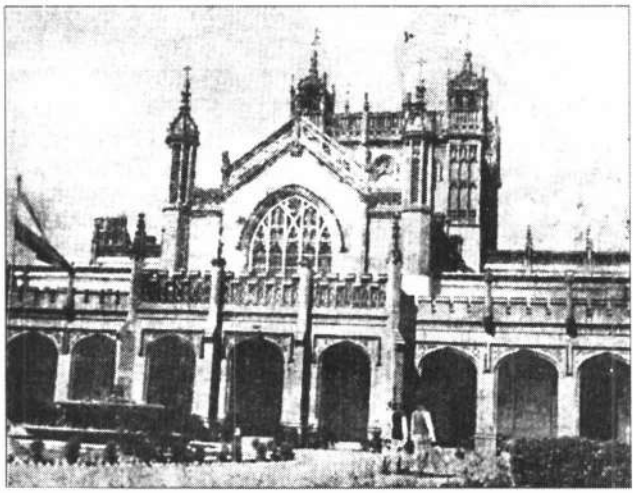

सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

वराहमिहिर की *बृहत्संहिता* (भट्टोत्पल की टीका सहित) को संशोधित करके छपवाया।

पं. सुधाकर द्विवेदी ने संस्कृत के साथ-साथ हिंदी में भी रचनाएं कीं। हिंदी में लिखे इनके गणितीय ग्रंथ हैं :

1. *चलन कलन*, 2. *चलराशि कलन*, और 3. *समीकरण मीमांसा*। 'चलन कलन' और 'चलराशि कलन' पदों का प्रयोग पं. बापूदेव शास्त्री ने शुरू किया था। सुधाकर द्विवेदी ने इनको प्रचलित किया। द्विवेदीजी हिंदी के आशुकवि भी थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885 ई.) से इनकी घनिष्ठ मित्रता थी। इन्होंने भारतेंदु की जन्मपत्री सायन और निरयण, दोनों पद्धतियों से तैयार करके दी थी। मगर, आश्चर्य की बात है कि पं. सुधाकर द्विवेदी परंपरागत पंचांग में सुधार करने के विरोधी थे। उनका मत था कि तिथियों पर आधारित पंचांग *सूर्य-सिद्धांत* के अनुसार ही बनाना चाहिए।

वैसे, पं. सुधाकर द्विवेदी काफी हद तक आधुनिक विचारों के व्यक्ति थे। उन्होंने अपने ग्रंथों में इस बात को स्वीकार किया है कि प्राचीन भारत के सिद्धांतकारों ने यूनानी ज्योतिष की बहुत-सी बातें अपनाई हैं। सन् 1910 में काशी में आयोजित एक सभा में उन्होंने कहा था : "विलायत जाने के कारण जिन्हें जातिच्युत किया गया है, उन्हें पुनः जाति में ले लेना चाहिए, क्योंकि विदेश-यात्रा से किसी प्रकार की धर्म-हानि नहीं होती।" सन् 1922 में सुधाकरजी का निधन हुआ।

पं. सुधाकर द्विवेदी ने प्राचीन भारत के गणित-ज्योतिष के अनेक ग्रंथों का संपादन करके और टीकाएं लिखकर उनके उद्धार का जो महान कार्य किया है उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। किंतु *गणकतरङ्गिणी* के अंत में खेदपूर्वक लिखते हैं : **आधुनिका ज्योतिर्विदः फलमात्रैकवेदिनः**।

अब तो संदिग्ध मूल की जातक-पोथी *भृगुसंहिता* का ही सर्वत्र बोलाबाला है।[21]

जो 'ज्योतिष' शब्द प्राचीन भारत में प्रमुखतः सिद्धांत-ज्योतिष यानी 'गणित-ज्योतिष' का सूचक रहा है वह, आज के शक्तिशाली प्रचार-प्रसार माध्यमों के सहयोग से, अब पूर्णतः 'फलित-ज्योतिष' का पर्यायवाची बन गया है!

एक ओर परंपरागत भारतीय ज्योतिर्विज्ञान आज फलित-ज्योतिष के दायरे में सीमित हो गया है, तो दूसरी ओर वाराणसी ही वह स्थान है जहां स्वतंत्र भारत की पहली आधुनिक वेधशाला स्थापित हुई थी—डा. सम्पूर्णानंद के प्रयासों से। सम्पूर्णानंदजी पहले उत्तर प्रदेश के शिक्षामंत्री और तदनंतर मुख्यमंत्री रहे। खगोल-विज्ञान में उनकी गहरी दिलचस्पी थी; उनकी एक पुस्तक भी है—*ग्रह-नक्षत्र* (हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1956)। सन् 1951 में उत्तर प्रदेश शासन ने वाराणसी में एक खगोलीय वेधशाला स्थापित करने का निर्णय लिया और उसके आयोजन के लिए अगले वर्ष लखनऊ विश्वविद्यालय के गणितज्ञ प्रो. अवधेश नारायण सिंह की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। यह 'उत्तर प्रदेश राजकीय वेधशाला' वाराणसी के गवर्नमेंट संस्कृत कालेज (अब सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय) के भवन में 20 अप्रैल, 1964 को शुरू हुई। इसके प्रथम खगोलविद-निदेशक थे—डा. एस. डी. सिंहवल। जुलाई 1954 में उनके निधन के बाद नवंबर 1954 में डा. वैणु बाप्पू इस वेधशाला के प्रमुख खगोलविद नियुक्त हुए।

डा. वैणु बाप्पू (1927-1982 ई.) ने जाना कि वाराणसी का वातावरण खगोलीय प्रेक्षण के लिए अनुकूल नहीं है तो वाराणसी की इस वेधशाला को नवंबर 1955 में नैनीताल के समीप की 'मनोरा पीक' पर स्थानांतरित कर दिया गया। वैणु बाप्पू 1960 ई. तक इस वेधशाला के निदेशक रहे और उनके कार्यकाल में नैनीलाल की इस वेधशाला ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। मार्च 2004 में नैनीताल (उत्तरांचल) की इस वेधशाला को 'आर्यभट प्रेक्षण-विज्ञान शोध संस्थान' का नया नाम दिया गया है। लेकिन हमें स्मरण रखना चाहिए कि आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान के इस संस्थान (वेधशाला) की स्थापना सर्वप्रथम वाराणसी में हुई थी।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. पं. सुधाकर द्विवेदी की *गणकतरङ्गिणी* पुस्तक पहली बार 1891 ई. में प्रकाशित हुई थी (इसे उनके पुत्र पं. पद्माकर द्विवेदी ने संपादित करके 1933 ई. पुनः प्रकाशित किया)। शंकर बालकृष्ण दीक्षित का मूल मराठी ग्रंथ (*भारतीय ज्योतिःशास्त्र*) पहली बार अक्तूबर 1896 में प्रकाशित हुआ था; इसका हिंदी अनुवाद 1957 ई. में छपा। इन दोनों ग्रंथों में बाद के जिन ज्योतिर्विदों के नाम नहीं आए हैं उनका समावेश इलाहाबाद विश्वविद्यालय में गणित के मेरे अध्यापक डा. गोरख प्रसाद ने अपने ग्रंथ *भारतीय ज्योतिष का इतिहास* (प्रथम संस्करण, 1956 ई.) में कर दिया है। जैसे, खंडपड़ा (उड़ीसा) के ज्योतिर्विद सामंत चंद्रशेखर सिंह (1835-1904 ई.) के *सिद्धांत-दर्पण* को भारतीय ज्योतिष का अंतिम सिद्धांत-ग्रंथ माना जाता है। यह ग्रंथ 1899 ई. में ही पहली बार प्रकाशित हुआ, इसलिए सुधाकर द्विवेदी और शं. बा. दीक्षित, दोनों ही अपने ग्रंथों में सामंत चंद्रशेखर सिंह का परिचय नहीं दे पाए, परंतु डा. गोरख प्रसाद के ग्रंथ में है।
2. भारतीय ज्योतिष के बारे में अंग्रेजी में लिखने वालों को भी द्विवेदीजी और दीक्षितजी के ग्रंथों की शरण में जाना पड़ता है। दीक्षितजी के *भारतीय ज्योतिःशास्त्र* का हिंदी और अंग्रेजी में अनुवाद उपलब्ध है; परंतु द्विवेदीजी की *गणकतरङ्गिणी* का हिंदी या अंग्रेजी में अनुवाद मैंने नहीं देखा है।

3. यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदांङ्गशास्त्राणां ज्यौतिषं मूर्धनि स्थितम् ॥ —*ऋक्-ज्योतिष*, 35.
यहां छह वेदांगशास्त्रों (शिक्षा, छंद, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प) में ज्योतिष को सर्वोपरि माना गया है, तो यजु:-ज्योतिष (4) के पाठ में 'ज्योतिष' के स्थान पर 'गणित' शब्द आया है।

4. प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः ॥ —*ऋक् ज्योतिष*, 2.

5. भारतरत्न डा. पांडुरंग वामन काणे अपने *धर्मशास्त्र का इतिहास* (चतुर्थ भाग, अध्याय 15, लखनऊ, पृ. 266 व 262) में स्पष्ट लिखते हैं : "ईसा से कई शताब्दियों पूर्व वैदिक और घरेलू कृत्यों के लिए केवल शुभ नक्षत्र का निर्धारण होता था, न कि किसी तिथि का। सप्ताह के दिनों का भी उल्लेख नहीं किया जाता था, राशियां भी गणित नहीं हैं और ग्रहों की ओर भी संकेत नहीं है; केवल शुभ नक्षत्र में कृत्य- संपादन की व्यवस्था है। "(उन) प्रारंभिक युगों में कोई ऐसे नियम नहीं बन पाए थे जिनसे ग्रहों का किसी नक्षत्र में प्रभाव जाना जा सके और न कुंडलियां ही बनती थीं, जिनमें ग्रहों, नक्षत्रों एवं राशियों के घर आदि बने हों।"
डा. काणे आगे (वही, पृ. 265) बताते हैं : "*महाभारत* के कथनों में एक द्रष्टव्य बात यह है कि जहां वे सूर्य, चंद्र एवं ग्रहों की स्थितियों को उनके नक्षत्रों के संबंध में बताते हैं, वहां वे कहीं भी ग्रहों की स्थितियों को उनकी राशियों अथवा सप्ताह-दिनों (यथा मंगल, रवि आदि) के संबंध में नहीं बताते।"

6. भदंत आनंद कौसल्यायन, *जातक*, प्रथम खंड, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1956, पृ. 380-382; जातक-कथाओं को उनके संख्या-नंबरों से भी जाना जाता है।

7. Saha, M.N. & Lahiri, N.C. *History of the Calendar*, CSIR, New Delhi, 1992, पृ. 235 से उद्धृत।

8. बहवः संप्रदृश्यन्ते तुल्य नक्षत्र मंगला।
महत्तुफलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंगिषु ॥—*महाभारत*
अर्थात्, बहुत से लोग एक ही नक्षत्र आदि के दिखते हैं, यानी एक ही नक्षत्र में पैदा होते हैं, परंतु अपने-अपने जीवन के कर्म के अनुसार उन्हें अलग-अलग फल मिलते हैं।

9. न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ —*मनुस्मृति*, 6.50.

10. भास्कराचार्य (जन्म 1114 ई.) ने अपने *सिद्धांत-शिरोमणि* के स्वरचित *वासना-भाष्य* में लिखा है : 'व्यक्ताव्यक्तभगोलवासनमयः सिद्धान्त आदिरिति'। अर्थात्, जिसमें व्यक्त गणित (अंकगणित), अव्यक्त गणित (बीजगणित), ग्रहगणित और गोलगणित होता है वह 'सिद्धांत' कहलाता है।

11. *गणकतरङ्गिणी*, पृ. 11-12.

12. इस राजवंश को कोई 'गाहडवाल' लिखता है, तो कोई 'गहडवाल'। आधुनिक 'गहरवार' क्षत्रिय इन्हीं के वंशज माने जाते हैं।

13. गाहडवालों के पहले काशी त्रिपुरी के कलचुरि शासक गांगेयदेव (1019-1041 ई.) व उसके पुत्र कर्ण (1041-1072 ई.) के कब्जे में थी।

14. *भारत : अल-बिरूनी*, अनुवाद : कयामउद्दीन अहमद, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2003, पृ. 4.

15. महामहोपाध्याय डा. गोपीनाथ कविराज, *काशी की सारस्वत साधना*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1962, पृ. 2.

16. 'ताजिक' के बारे में शं. बा. दीक्षित लिखते हैं (*भारतीय ज्योतिष*, पृ. 642-43) : "जिस समय मनुष्य के जन्मकालीन सूर्य तुल्य सूर्य होता है अर्थात् जब उसकी आयु का कोई भी सौरवर्ष समाप्त होकर दूसरा सौरवर्ष लगता है उस समय के लग्न और ग्रहस्थिति द्वारा मनुष्य को उस वर्ष होने वाले सुखदुःख का निर्णय जिस पद्धति द्वारा किया जाता है उसे ताजिक कहते हैं। "' ताजिक शाखा यवनों से ली गई है। "' इस देश में मुसलमान राज्य होने पर हमारे देश में ताजिक शाखा आई है "

17. इस कुल के ज्योतिषी मुनीश्वर ने *सिद्धांत-शिरोमणि* की अपनी टीका के अंत में लिखा है : "एलिचपुर समदेशे तटे पयोष्ण्याः शुभे दधिग्रामे।" अचलपुर तहसील (जिला अमरावती, विदर्भ) के मेरे जन्मग्राम सिंदी बुजरुक से दहीगांव (दधिग्राम) कोई 25 किलोमीटर पूर्व में है।

18. मथुरा की वेधशाला यमुना के तट पर मानसिंह द्वारा निर्मित 'कंस के किले' की एक इमारत की छत पर बनाई गई थी। उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में ज्योतिप्रसाद नामक एक सरकारी कंट्रेक्टर ने इसे पूरी तरह नष्ट कर दिया। देखिए G.R. Kaye : *The Astronomical Observatories of Jai Singh*, ASI, N. Delhi, 1982 reprint, p. 67.

19. सवाई जयसिंह की वेधशालाएं ज्यादा दिनों तक संरक्षित नहीं रहीं। भरतपुर के राजा सूरजमल के बेटे जवाहर सिंह ने 1764 ई. में दिल्ली को लूटा, तो यहां की वेधशाला (स्थापना : 1721-24 ई.) को भारी क्षति पहुंची। सन् 1911 में, 'दिल्ली दरबार' के समय, इसकी मरम्मत हुई। सवाई जयसिंह के पोते ने जयपुर वेधशाला को बंदूक-निर्माण की फैक्टरी में तब्दील कर दिया था और वहां के 400 किलोग्राम भार के धातु के उन्नतांशमापी (Astrolabe) यंत्र को निशाना साधने का साधन बना डाला था! देखिए R. Kochhar & J. Narlikar : *Astronomy in India*, INSA, New Delhi, 1994, p. 9.
जी. आर. काये ने ठीक ही लिखा है : "जयसिंह की मृत्यु, कोपर्निकस के दो सौ साल बाद, 1743 ई. में हुई, और उसकी चिता के साथ ही उसकी पत्नियों-उपपत्नियों एवं उसके विज्ञान का भी अवसान हो गया" (G. R. Kaye : *The Astronomical Observatories of Jai Singh*, ASI, N. Delhi, 1982, p.1.)।

20. देखिए धर्मपाल द्वारा संपादित पुस्तक *Indian Science and Technology in the Eighteenth Century* (Implex India, Delhi, 1972) में Sir Robert Barker का लेख Brahmin's Observatory at Benares, पृ. 1.

21. शंकर बालकृष्ण दीक्षित लिखते हैं (*भारतीय ज्योतिष*, पृ. 642-43) : "भृगुसंहिता—यह बड़ा प्रसिद्ध ग्रंथ है। नाम से तो यह आर्ष मालूम होता है, परंतु वराहमिहिर (मृत्यु 587 ई.) और भट्टोत्पल (जिन्होंने 966 ई.) में वराह की 'बृहत्संहिता' की टीका लिखी) ने इसका उल्लेख नहीं किया है, अतः यह उनसे प्राचीन होगा, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। लोग कहते हैं कि इसमें प्रत्येक मनुष्य की जन्म-कुंडली रहती है। यदि यह सत्य है तो भिन्न-भिन्न लग्नों और भिन्न-भिन्न स्थानस्थित ग्रहों के भेदानुसार इसमें 74649600 कुंडलियां, और प्रत्येक कुंडली का फल यदि दस श्लोकों में लिखा हो तो 75 कोटि श्लोक होने चाहिए। "' इतना बड़ा ग्रंथ होना असंभव है। "' भृगुसंहिता का कुछ भाग जिनके पास है वे प्रसंगवशात् कुछ धूर्तता करते होंगे। किसी की नवीन पत्रिका बनाकर उसे वे भृगुसंहितोक्त कहकर देते होंगे "'।"

◆◆◆

प्रतिरोध की संस्कृति से अविभाज्य

बनारस की साहित्यिक परम्परा

***बनारस की साहित्यिक सरगर्मियों में यथास्थितिवाद के अपने पैंतरे हैं / यहां संत हैं तो सीकरी भी यहीं है / बनारस अपने रचनाकारों का रचनात्मक पदार्थ भी बना है / ज्ञानेन्द्रपति की कृति गंगातट में इसका जिक्र हुआ है / विश्वनाथ मुखर्जी की बेजोड़ कृति बना रहे बनारस में देखिए, रामदरश मिश्र की आत्मकथा रोशनी की पगडंडियां में यह है / शिवप्रसाद सिंह की गली आगे मुड़ती है, वैश्वानार और नीला चांद में काशी के प्राचीन और नए काल खंड हैं / बनारस की साहित्यिक परम्परा का विवेचन कर रही हैं* चंद्रकला त्रिपाठी**

शिव प्रसाद मिश्र रुद्र काशिकेय की विलक्षण कथाकृति *बहती गंगा* में अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी का वह छिट-पुट बनारस है जिसमें पूरा बनारस देखा जा सकता है। चलिये यहीं एक प्रश्न उठाएं। रुद्र ने इसका नाम 'बहती गंगा' क्यों रखा जबकि बनारस में गंगा को सिलसिलेवार पक्के घाट मिले हैं। असी से लेकर राजघाट तक। क्या यह 'कहानी' के अन्तर्प्रवाह से बनते शिल्प की मांग थी या कोई और मन्तव्य। शायद इसलिए कि बनारस में जितना ठहराव है उससे ज्यादा गति है, जितना वैराग्य है उससे ज्यादा राग, जितनी कलह है उससे ज्यादा मैत्री, जितना आध्यात्म है उससे ज्यादा लौकिकता और जितना शास्त्र है उससे ज्यादा लोक है। 'गति ही है जो सभी स्थिरताओं को घिस कर चमकाती जा रही है।' रुद्र ने उस बनारस को लिखा जिसकी जनता बार-बार राजा चेत सिंह की साहस और उम्मीद बनने पर आमादा थी। बनारस के गली कूचे के बच्चे आज भी, भले ही थोड़ा बिगाड़ कर, यह गाते मिल जाएंगे कि 'घोड़े पर हौदा, हाथी पर जीन, जल्दी में भाग गयल, वारेन हेस्टिंगज'।

जयशंकर प्रसाद

वारेन हेस्टिंग्ज का इस तरह खदेड़ने का आंदोलन उठा देने वाले राजे-महाराजे या महानायक नहीं, बल्कि देह के साथ चेतना दुरुस्त रखने वाले पहलवान, साधु-संन्यासी, चित्रकार, गायिकाएं, रूप बाज़ार की स्त्रियां, गरीब स्त्री-पुरुष और बच्चे थे। रुद्र ने यह बनारस कल्पना से नहीं गढ़ा था, वाचिक परम्परा के जीवित में इसे देखा और पहचाना था। बनारस ऐसा ही है। हमेशा ज्ञान-विज्ञान, चिंतन, आध्यात्म और सौन्दर्य बोध को प्रतिरोध की सशक्त संरचनाओं में ढालने के लिए तत्पर और बेचैन। 'लोक' इसकी आत्मा है और 'लोक' ही इसकी धुरी। 'परलोक' यहां लोक की ही काम्य आदर्शीकृत छवि है। ऐसा अलमस्त बनारस कि ईश्वर को भी न केवल इस लोक को सुधारने के काम पर लगा दिया बल्कि लगातार निगरानी में भी।

दूर जहां तक दृष्टि जाती है वहां देखिए, बुद्ध लोक की मुक्ति का विधान खोजते यहां चले आए। जीवन की स्थूलता और प्रतिगामिता के समग्र तिरस्कार से बनती वह प्रबुद्ध चेतना ही जैसे अग्नि की तरह चिंतन और सृजन की पूरी परम्परा में अपने आधार ढूंढती रही है। गौतम बुद्ध एक आंदोलन का नाम है। वर्ण व्यवस्था की अमानवीयताओं से टकराती उनकी प्रज्ञा ने मनुष्य और मनुष्य में अंतर करने वाली आचार-संहिता और भाषा का स्पष्ट विरोध किया। लोक की सबलता का यह स्वर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में पुनः कबीर, रैदास और तुलसी में प्रकट होता है। सत्ता केंद्रित संस्कृति की संसाधन संपन्नता से टकराते कबीर की 'लुकाठी' का भाष्य करें। आश्चर्यजनक लगता है कि पूर्वद मध्यकाल के इस फकीर कवि ने

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

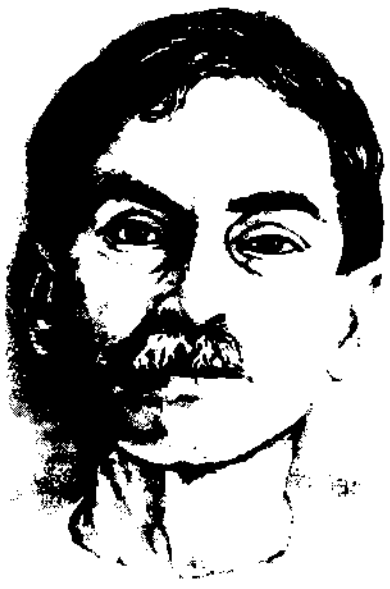

प्रेमचंद

यह जान लिया था कि मनुष्य के लिए सबसे कठिन चुनौती 'बाज़ार' है। आज इस बाजार के लिए हमारे देश का सब कुछ दांव पर लगा हुआ है : आर्थिक-सामाजिक आत्मनिर्भरता, संस्कृति, भाषा, स्मृति सब कुछ।

तुलसी की चिंता में भी भक्ति और कविता की सामाजिक जवाबदेही के प्रश्न बराबर थे। अपने देशकाल के सर्वविध्वंस को निहत्था कर देने वाले अनुभवों के बावजूद तुलसी ने मनुष्य की जयगाथा का स्वप्न लिखा है। काशी की जड़ता ने उन्हें चारों तरफ से घेरा था। भाषा और संवेदना के अभिजात शास्त्रीय ठिकानों की ओर से आने वाले आक्षेप, निंदा और तिरस्कारों को तुलसी ने अपार जनस्वीकृति की उमड़ती महानदी में बहा दिया था। विनय के साथ तुलसी में रोष था और प्रतिरोध भी।

उत्तर मध्यकाल के रीतिवादी दौर में पंडितराज जगन्नाथ ने अपनी रचना के साथ साथ अपने जीवन संघर्ष से काशी के कर्मकाण्ड विरोध का अध्याय लिखा किंतु यह संभवतः समूचे इतिहास का यथास्थितिवाद को मजबूती देने वाला दौर था। यही कारण था कि भारतेन्दु ने अपना सबसे पहला और जरूरी कार्य रीतिवाद विरोध निश्चित किया था। भारतेन्दु हिंदी नवजागरण की बहुत मजबूत कड़ी थे। इस धार्मिक आध्यात्मिक शहर में उनके होने का अर्थ था। भारतेन्दु मण्डल की छटा देखिए : बालकृष्ण भट्ट, प्रेमधन, राधाचरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र सभी गहरी रचनात्मक मैत्री में अभिन्न। साहित्य उनके लिए यश साधन या आत्म प्रकाशन भर नहीं था बल्कि ज़माने को भीतर से बदलने वाला हथियार था। *कवि वचन सुधा, बाला बोधिनी, हरिश्चन्द्र चंद्रिका, काशी पत्रिका* जैसी पत्र-पत्रिकाएं साहित्यिक-सामाजिक मुद्दों पर सक्रिय और गंभीर थीं। भारतेन्दु मण्डल के रूढ़िवाद विरोध का आलम यह कि *मुद्राराक्षस* नामक नाटक में एक चरित्र अभिनीत करते हुए बालकृष्ण भट्ट ने पिता का श्राद्ध कर दिया था। कल्पनातीत है कि कितना अस्वीकार, कितनी निन्दा उन्हें झेलनी पड़ी थी।

समाज की पुनर्रचना के लिए रूढ़िभंजन के ऐसे साहस की कमी नहीं थी उस युग के लेखकों में। साम्राज्यवाद विरोध के साथ भारत की स्वाधीनता की बड़ी स्पष्ट आकांक्षा भारतेन्दु में व्यक्त हुई है कि 'रचहु निज भाषा गहहु'। एक अलख जगाई जा रही थी जिसमें निज भाषा उन्नति सहित आर्थिक सामाजिक आत्मनिर्भरता के लक्ष्य के साथ कितनी संस्थाएं, अखबार, पत्रिकाएं, नाटक, व्याख्यानमालाएं आदि साम्राज्यवाद के विरुद्ध के स्वर को दूर तक ले जा रहे थे। यह विरासत अपने पूरे अंतर्विरोधों सहित ही गणेश प्रेमचंद प्रसाद, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, शिव प्रसाद मिश्र, रुद्र काशिकेय और आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जैसी विभूतियों में पल्लवित हुई है।

प्रेमचंद ने भारतीय किसान के हित के केन्द्र से सामंती साम्राज्यवादी शोषण की जड़ों को पहचानते हुए अपना रचनात्मक विकास पाया। *हंस* जैसी पत्रिका के लिए उन्होंने अपना जीवन खपा दिया। अभाव, बीमारी, अंग्रेज सरकार का विरोध, क्या-क्या नहीं उन्हें झेलना पड़ा। उधर प्रसाद के यहां 'भारतीयता' भिन्न सांस्कृतिक सार के रूप में निर्मित हो रही थी। *हंस, इंदु, हिंदी गल्प माला* जैसी पत्रिकाएं आधुनिक भारत की पुनर्रचना के शक्ति स्रोतों को अपने आदर्शों के अनुरूप खोज रही थीं। बीसवीं शताब्दी के इस आरंभिक दौर के बनारस में विविध साहित्यिक हलचलें थीं। काशी में उस समय मैथिलीशरण गुप्त, जैनेन्द्र, निराला, सुभद्रा कुमारी चौहान जैसे रचनाकारों का आना-जाना और परस्पर संवाद था। इसके अतिरिक्त शिवपूजन सहाय, उग्र, शांतिप्रिय द्विवेदी और विनोद शंकर व्यास जैसे रचनाकार यहां थे। रामकृष्णदास ने केदारनाथ पाठक का जिक्र किया है जो अपने साहित्यिक ज्ञान में बहुत चौकस थे। साहित्य और यथार्थ के रिश्ते को समझने की बेचैनियों के कई रूप थे। प्रसाद और जैनेन्द्र में ही नहीं, कुछ दूर तक प्रेमचंद की भी यथार्थ और यथार्थवाद संबंधी उलझनें बनी हुई थीं। इस बनारस के बहुत पास धड़कने वाला हृदय प्रयाग था।

आचार्य शुक्ल ने सुमित्रानंदन पंत का छायावाद का महत्वपूर्ण कवि माना। वे उनकी लोक मंगल की कसौटी पर ज्यादा खरे उतर रहे थे। यह कबीर, तुलसी, भारतेन्दु और प्रेमचंद की ही विरासत थी कि शुक्ल जी की वस्तुवादी आलोचना दृष्टि को ऐसी धार मिली। सुदूर शांतिनिकेतन में कबीर के गहरे स्वीकार में रचे बसे रवीन्द्र नाथ ठाकुर से हज़ारी प्रसाद जी को एक अन्य कबीर मिल रहे थे: प्रतिरोध की संस्कृति की परम्परा की सशक्त कड़ी होकर वे नाथ सिद्ध साधना की लोक सम्पृक्त चेतना की अभिव्यक्ति थे।

छायावादी दौर में बनारस में 'यथार्थवाद' को लेकर गंभीर बहसों और निष्कर्षों का रूप दिखाई देता है। जयशंकर प्रसाद ने 'यथार्थवाद' पर विचार किया। यद्यपि उनकी रचनादृष्टि की प्राथमिकताएं भिन्न थीं। जीवन को सूक्ष्म सारता को भावसत्ता के रूप में बदलकर व्यक्त करना उनकी विशेषता थी।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

वे अर्थ की सघन सारमयी संरचना के रचनाकार थे तथा स्थूलताओं को प्रत्येक स्तर पर तिरोहित करने के पक्ष में थे। इन्हीं कारणों से 'यथार्थवाद' को उनकी सहानुभूति प्राप्त नहीं हुई। उन दिनों जैनेन्द्र भी यथार्थ और यथार्थवाद संबंधी प्रश्नों के संदर्भ में प्रेमचंद से संवाद में थे। जैनेन्द्र की भी यथार्थवाद संबंधी दृष्टि में प्रसाद जी के समान भाववादी प्राथमिकताएं फलीभूत हुईं।

सन् 1950-55 के दौर की नई कहानी, नई कविता से बनारस की उल्लेखनीय संबद्धता यही थी कि नामवर सिंह ने उसकी प्रवृत्तियों, प्रतिमानों की पड़ताल की। उनके अनुसार निर्मल वर्मा की 'परिंदे' शीर्षक कहानी हिन्दी की पहली नई कहानी थी। उनका आलोचक उस कहानी में संवेदना और भाषा

का नया रूप देख रहा था। इस प्रश्न पर उन्हें बाकायदा 'घराव' झेलना पड़ा है किन्तु आज भी वे अपनी इस मान्यता पर डटे हुए हैं। कहना न होगा कि यह 'डटे रहना' बनारस का ही वह शिल्प है जो व्यक्तित्व को ज़मीनी आत्मविश्वास देता है। वह आत्मविश्वास जो न केवल 'आधुनिकता' की जातीय समझ लेता है बल्कि फैशन और पैशन के तौर पर चलाई जा रही है उत्तर आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता की समूची असलियत जानता है। यह नामवर सिंह ही थे जिन्होंने परम्परा और स्मृति के पुनर्पाठ के भीतर बहुराष्ट्रीय पूंजी के विखंडनवादी चरित्र से बनते इस उत्तर आधुनिकतावादी विमर्श को अपने ढंग के विखंडन के पाठ के जरिए समझाया था। वे सदैव जीवन के अर्थ को उसके गतिमान संघर्ष में कला की चुनौतियों के साथ लेने वाली कृतियों के प्रशंसक रहे हैं। यह भी है कि अपनी पसंद-नापसंद की कड़ी निगरानी करने वालों के लिए वे एक बड़ी बौद्धिक चुनौती साबित होते हैं। 'जातीयता' का यह अन्त:स्वर केदारनाथ सिंह और रामदरश मिश्र की रचनाओं में उनके अपने रचनात्मक संघर्ष के अनुरूप प्रकट हुआ है। केदारनाथ सिंह ने अवश्य अपने शिल्प को नोक-पलक से दुरुस्त रखने के मोर्चे पर अतिरिक्त सावधानी ली है। उनके यहां 'अर्थ' की सूक्ष्म संरचनाएं मिलती हैं। बहुत संभव है कि सदी के इस सख्त आलोचक की निकटता और निगरानी ने उन पर इस 'अतिरिक्त' के लिए दबाव बनाया हो।

नयी कहानी का वह दौर बनारस के रचनात्मक पाठ में अलग तरीके से घटित होता है। संभवत: इसका कारण बनारसी मध्यवर्ग की प्रवृत्ति की विलक्षणता हो जिसके लिए 'संकटबोध' का वह निर्धारित रूप उस समय मान्य नहीं था।

उन्हीं दिनों त्रिलोचन शास्त्री 'निर्गुण' मध्यवर्गीय जीवनानुभवों को उम्मीद और राग के शिल्प में लिख रहे थे। शिव प्रसाद सिंह भी अस्तित्ववाद की वैसी चपेट में नहीं थे। रामदरश मिश्र और केदार नाथ सिंह भी शीघ्र ही उन कल्पित-आरोपित स्थितियों से निकल आए। रामदरश मिश्र, केदारनाथ सिंह, नामवर सिंह उस दौर में विद्यार्थी थे और इस प्रगीतात्मक रुझान को उत्सुकता के साथ देख रहे थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आधुनिकता और परम्परा के द्वन्द्वात्मक संबंध की समझ के साथ अपने विद्यार्थियों के इतिहासबोध को आकार दिया। द्विवेदी जी ने अपने शिष्यों को हिंदी साहित्य के इतिहास के उन दिनों में परम्परा को समझने और उससे टकराने का विवेक दिया, जिन दिनों परम्परा पिछड़ी हुई चीजों के खाते में डाल दी गई थी। नामवर सिंह की प्रखरता, शिवप्रसाद सिंह के इतिहास प्रेम और रामदरश मिश्र के निर्कुण्ठ साहित्य में द्विवेदी जी का ही तप निरंतर प्रवाह में है।

सातवें दशक में द्विवेदी जी ने बनारस छोड़ दिया था। नामवर सिंह, शिव प्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र जैसे शिष्यों के गुरु थे वे। प्रगतिशील हिंदी आलोचना के शिखर नामवर सिंह सुमधुर कंठ के साथ उन दिनों 'झुपुर-झुपुर धान के समुद्र में, हलर-हलर सुनहरा बिहान' गाते थे। केदार नाथ सिंह रुमानियत के बावजूद नये मोटिव्स और मेटाफर्स के लिए संघर्ष में थे। रामदरश मिश्र ने त्रिलोचन के प्रभाव से अपनी रुमानियत के मुक्त होने का उल्लेख भी किया है। बनारस का प्रगतिवादी स्वर रोमांटिक किस्म की प्रगतिवादिता से भिन्न था। त्रिलोचन यहां काफी समय तक रहे। उनके सामने कई रचनाकारों की पीढ़ियां अपने संघर्ष में थी। केदार, रामदरश मिश्र, ठाकुर प्रसाद सिंह, विष्णु चंद्र शर्मा और बाद में धूमिल भी। बाद के दिनों में प्राय: नयी कविता के उतार के दिनों में राजकमल चौधरी, एलेन गिन्सबर्ग भी यहां आए।

धूमिल की रूढ़िभंजकता और स्पष्ट अस्वीकारता का तेवर कबीर और भारतेन्दु की परम्परा से मिला। देश के इतिहास का यह बड़ा ही तोड़-फोड़ भरा दौर था। तमाम बड़ी प्रतिभाएं मध्यवर्गीय अनुभववाद की चपेट में अपनी कलम तोड़ रहीं थीं। धूमिल ने ऐसे बौद्धिक छल से तय होती संवेदना और भाषा के समूचे नाटक को तार-तार कर दिया था। पूंजीवादी जनतंत्र का सच्चा तीखा आलोचनात्मक स्वर धूमिल में दिखाई दे रहा था। यही नहीं देश समाज या मनुष्य का संकट उनके लिए बौद्धिक जुगाली की चीज नहीं था। मध्यवर्गीय अवसरवाद की कठिन संरचनाओं की पहचान धूमिल में ऐसे ही नहीं थी। धूमिल के बनने के दिनों में बनारस अपने जोड़ने-तोड़ने के राग-विराग के चरम पर था। प्रतिपक्ष के इस कवि ने अपने जीवन संघर्ष में विरुद्धों से बहुत चोट पाई थी। इस तरह के संघर्ष से ही धूमिल का रचनात्मक तेज इतना प्रखर हुआ कि नई कविता के तमाम ठहरावों को तोड़ने वाला कारगर शिल्प उनसे ही संभव हुआ। धूमिल बनारस की रचना परम्परा में एक बड़ा और 'जीनियस' नाम है।

बनारस में मौजूदा दशकाल वैश्विक पूंजी के असर से बदलती आर्थिक सामाजिक संरचनाओं का है। लोकतंत्र की घानी में अब केवल पानी ही पानी है। बनारस कहीं ज्यादा पूंजी आधारित क्लास संस्कृति की चपेट में है। बनारसी लोग भौंचक होकर देख रहे हैं कि बनारसीपन भी सांस्कृतिक उत्पाद में बदला जा रहा है। औद्योगिक घराने, तारांकित होटल्स, फैशन ट्रेन्ड्स, और टूरिज्म ने बनारस के मंदिरों, घाटों, उत्सवों, पर्वों और मामूलीपन तक को मुनाफा उगाही का क्षेत्र बना लिया है। काशीनाथ सिंह और ज्ञानेन्द्रपति के सामने अपसंस्कृति की इन गहरी व्यूह रचनाओं को समझने की चुनौतियां हैं। काशीनाथ सिंह ने सबसे पहले इस परजीविता को पोसने वाली भाषा के तिरस्कार के साथ लिया है। इस दृष्टि से वे धूमिल के अस्वीकार को और बेधक और रचनात्मक बनाने के मोर्चे पर हैं। उनके संस्मरणों में काशी अपने प्रतिरोध के पूरे अन्तर्पाठ में व्यक्त हुई है।

सातवें दशक के आरंभिक दौर में नवलेखन के इर्द-गिर्द जुटती गतिविधियों के करीब अकविता का विध्वंसक अस्वीकार एक उत्तेजक माहौल रच रहा था। हालांकि कविता की ज़मीनी पकड़ फिर भी बनी रही जिसे धूमिल में देखा गया। धूमिल पूंजीवादी जनतंत्र के प्रति तीखे आलोचनात्मक कवि थे और भाव तथा भाषा के दोमुंहेपन की राजनीति को सर्वत्र तोड़ रहे थे। सन् 1965 के आस-पास नामवर सिंह ने बनारस छोड़ा। विद्यासागर नौटियाल यहां थे। कवि विजेन्द्र और विश्वनाथ त्रिपाठी यहां थे। शिव प्रसाद सिंह ने लंबी रचनात्मक सक्रियता पाई। सातवें दशक के सक्रिय रचनाकारों में काशीनाथ सिंह, विजय मोहन सिंह और धूमिल महत्वपूर्ण थे। कथाकार रमाकांत *आज* अखबार में काम करते थे। काशीनाथ सिंह पर भी आरंभ में अकविता के चरम निषेधवादी मुहावरों का प्रभाव था। क्रमश: वे यथार्थ के साथ अधिक जिम्मेदारी भरे संबंध के साथ आगे आए।

इन्हीं दिनों के बनारस में मैनेजर पाण्डेय की आलोचनात्मक प्रखरता आकार ले रही थी। पाण्डेय जी ने हिंदी आलोचना को आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की परम्परा में चिंतन और पुनराविष्कार के रूप में विकसित किया। भक्तिकाल को कबीर, सूर और तुलसी की वृहत्रयी की प्रचारित रूढ़ि से निकाल कर मीरा की भक्ति और जीवन संघर्ष से जोड़कर उन्होंने अपने सटीक इतिहास बोध का परिचय दिया है। साहित्य का इतिहास उनके लिए एकरेखीय निरंतरता नहीं है तथा साहित्यिक सामग्री की अंतर्संबद्धता की जांच के संदर्भ में वे आचार्य शुक्ल की वस्तुवादी दृष्टि का विकास हैं। मार्क्सवाद उनके लिए जड़ीभूत मूल्य नहीं बल्कि 'विजन' है। मैनेजर पाण्डेय का गुरूकुल था बनारस।

सूर्यबाला बनारस की हैं। *धर्मयुग* जैसी पत्रिकाओं में लिखते हुए उन्होंने महत्वपूर्ण पाठकीय स्वीकृति अर्जित की। इस बनारस के आधुनिक रचनात्मक परिदृश्य में भारतेन्दु के व्यंग्य का सचेतन दृष्टिवानता मौजूद रही है। छठे-सातवें दशक में बेढब बनारसी, बेधड़क बनारसी और भैया जी बनारसी के व्यंग्य का

एक स्तर था। *आज* में प्रसिद्ध कार्टूनिस्ट कांजिलाल थे। शंभुनाथ सिंह की परम्परा में श्रीकृष्ण तिवारी और बुद्धिनाथ मिश्र ने अपने गीतों से जगह बनाई। वे आज भी मंच पर एक गंभीर जिम्मदार उपस्थिति हैं। नज़ीर बनारसी को कोई कैसे भूल सकता है। शेख़ हर्जा और ग़ालिब के स्वर को अपने स्वर में शामिल कर उन्होंने 'गंगा' के लिए बराबर अपना स्नेह लिखा। बनारस के क्लासिक साहित्यिक चिंतन के पृष्ठों पर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, केशव प्रसाद मिश्र, पीतांबर दत्त बड़थ्वाल, सीताराम चतुर्वेदी, विद्यानिवास मिश्र, शांतिप्रिय द्विवेदी, भोला शंकर व्यास, डा. देवराज और प्रमलता शर्मा की परम्परा में रवा प्रसाद द्विवेदी, प्रो. रामजी उपाध्याय, प्रो. कमलेश दत्त त्रिपाठी, राममूर्ति त्रिपाठी के साथ-साथ भानुशंकर मेहता, कुंअर जी अग्रवाल और कमलिनी मेहता भी हैं। डा. बच्चन सिंह, डॉ. शुकदेव सिंह, चौथी राम यादव और मनु शर्मा तथा डॉ. युगेश्वर रचनात्मक सक्रियता की मिसाल हैं। उनके आगे भी बनारस की कई पीढ़ियां बनी हैं। डॉ. कमल गुप्त, कुसुम चतुर्वेदी, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, डॉ. जितेन्द्र नाथ मिश्र, डॉ. ब्रह्मा शंकर पाण्डेय, डॉ. राम सुधार सिंह तथा डॉ. श्री प्रसाद के भीतर पुराने बनारस के साथ नया बनारस भी है।

रामचंद्र शुक्ल

धूमिल की रचनाशीलता के दिनों बनारस में उनके रूढिभंजक स्वर के करीबी डॉ. वाचस्पति, गोरख पाण्डेय, महेश्वर और नागानंद मुक्तिमंठ थे। वाम रुझान के कंचन कुमार *आमुख* पत्रिका निकालते थे। इन दिनों के बनारस में बलराज पाण्डेय, अवधेश प्रधान और वाचस्पति उस विरासत की करीबी कड़ियां है तथा रचना और आलोचना के क्षेत्र में निरंतर सक्रिय हैं। विनय दुबे, अब्दुल बिस्मिल्लाह, रमाकांत, देवेन्द्र और दिनेश कुशवाहा को भी बनारस की ही परम्परा में देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रतिमा वर्मा, अनुराधा बैनर्जी, मुक्ता, नीरजा माधव, वीरबाला, नाहिद, शशिकला त्रिपाठी, प्रकाश उदय, सुरेश्वर त्रिपाठी, बलभद्र, पी. चंद्र विनोद, लालार्क द्विवेदी और अशोक सिंह, बृजबाला सिंह भी रचनात्मक समृद्धि के जरूरी पृष्ठ हैं।

इस प्रकार संवेदना और भाषा की जड़ीभूत परतों को तोड़ने की परम्परा काशी में निरंतर मजबूत और दिशावान हुई है। काशीनाथ सिंह ने बनारस की जिंदगी को विघटित करने वाले वैश्विक पूंजी के दुष्चक्र को पहचाना है। उनकी रचनाशीलता में यह वैकल्पिक संस्कृति के लिए संघर्ष चेतना की खोज है, जिसमें निरंतरता बनी हुई है। जीवन का ऐसा विद्रूप उनके कॉमिक ट्रीटमेंट से अलग तरीके से निरस्त होता है। बाजार की दुरभिसंधियों से आक्रांत मामूली आदमी की यातना और संघर्ष को गहरे मानवीय लगाव से छूने वाले ज्ञानेन्द्रपति काशी की रचनाशीलता का दूसरा महत्वपूर्ण शिखर हैं। उनके भीतर सुखिया संसार के भीतर बढ़ती दुख की सुरंगों को पहचानने तथा संवेदनशील मनुष्य की बेचैनी मिलेगी। उनकी प्रसिद्ध काव्यकृति *गंगातट* में बनारस कई रंगों, अनुभवों और सूक्ष्मताओं में मौजूद है।

बनारस की सर्वथा नई पीढ़ी को सभी गहरी उत्सुकता, आश्वस्ति और दुलार से देख रहे हैं। साहित्य और संस्कृति के लिए बहुत मुश्किल हो चले इस दौर में लघु पत्रिकाओं की बड़ी ही सार्थक हस्तक्षेप भरी उपस्थिति है। इनके द्वारा बिल्कुल नए अछूते क्षेत्रों से कथ्य, संवेदना और शिल्प सामने आ रहा है। *वागर्थ* और *कथादेश* के नवलेखन अंकों से इन उपस्थितियों को पूरा फोकस मिला है। बनारस से इन रचनाकारों में व्योमेश शुक्ल, चंदन पाण्डेय, पंकज पराशर, विमल पाण्डेय, श्रीकांत दुबे, अक्षय उपाध्याय आदि हैं। आश्चर्य है कि इन सभी युवा रचनाकारों में महत्वाकांक्षा से कहीं ज्यादा रचनात्मक ताप के लिए जूझने की गंभीरता है। बड़ी संभावनापूर्ण दस्तकों के रूप में अल्पना मिश्र हैं जिनकी रचनात्मक शख्सियत में काशी प्रतिभा और विरासत के साथ है। इन दिनों डॉ. कुमार पंकज अपने विशिष्ट गद्य के साथ ध्यान खींच रहे हैं।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय के लेखन में क्लासिकी का अन्तर्प्रवाह है तथा रमेश पाण्डेय और ओम धीरज के रचनालोक में यथार्थ की चुनौतियों से जूझने की तैयारी देखी जा सकती है। डॉ. अवधेश प्रधान आलोचना में स्मृति और आधुनिक चेतना से समृद्ध शख्सियत हैं। बलराज पाण्डेय कहानी और यथार्थ के रिश्तों को सुसंगत ढंग से लेने वाले आलोचक और लेखक हैं। 'केशव शरण' सर्जनात्मक क्षमता संपन्न कवि है और महत्वपूर्ण ढंग से छप रहे हैं। डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी काव्य शास्त्र और रंग चिंतन से जुड़े हैं। डॉ. सदानंद शाही के संपादन में *साखी* बनारस से निकल रही है। डॉ. चंद्रबली सिंह के अनूठे सहयोग और अशोक पाठक की सक्रिया से जलेस की *जनपक्ष* नामक पत्रिका भी उल्लेखनीय रूप में निकल रही है। सुरेश्वर त्रिपाठी *काशी प्रतिमान* के संपादक हैं। इस पत्रिका के धूमिल अंक की अत्यधिक सराहना हुई। इसके अतिरिक्त डॉ. देव, अरविंद चतुर्वेदी, डॉ. अशोक पाठक जैसे कवि रचनाकारें की सक्रियता भी है। बनारस की साहित्यिक हलचलों के निरंतर सहभागी के रूप में लोलार्क द्विवेदी, डॉ. दीनबंधु तिवारी, मेयार सनेही, डॉ. शहजाद, सलीम राजा और डॉ. देवी प्रसाद कुंअर हैं। डॉ. गया सिंह पारंपरिक ओज की नई रचना की तरह हैं। गोपाल प्रधा, समीर पाठक तथा प्रभात कुमार मिश्र हिंदी आलोचना के बहुत सशक्त दृष्टिवान स्वर हैं।

बनारस की साहित्यिक सरगर्मियों में यथास्थितिवाद के अपने पैतरें हैं। यहीं संत हैं तो सीकरी भी यहीं हैं। बनारस अपने रचनाकारों का रचनात्मक पदार्थ भी बना है। ज्ञानेन्द्रपति के *गंगातट* का जिक्र हुआ है। *बहती गंगा* में यह है, विश्वनाथ मुखर्जी की बेजोड़ कृति *बना रहे बनारस* में देखिए, रामदरश मिश्र की आत्मकथा *रोशनी की पगडंडियां* में यह है। शिवप्रसाद सिंह के *गली आगे मुड़ती है, वैश्वानार* और *नीला चांद* में काशी के प्राचीन और नए काल खंड हैं। विष्णु चंद्र शर्मा के उपन्यास *विडंबना* के घटित का पूर्वपक्ष काशी ही है। काशीनाथ सिंह के *अपना मोर्चा* तथा *काशी का असी* में भी बनारस है तो अब्दुल बिस्मिल्लाह के *झीनी-झीनी बीनी चदरिया* में कबीर के वंशज जुलाहों का पूंजी और टेक्नोलॉजी आधारित व्यवस्था से जूझना लिखा है। केदारनाथ सिंह के लिए बनारस मिथक में फैलता यथार्थ है। उसमें विराट और सूक्ष्म है तो स्थूल परजीवी और क्षुद्र भी। यद्यपि कबीर की तरह ही वे इन्हें समावेश में नहीं बल्कि संघर्ष में देखते हैं। यह सत्य की उत्तर आधुनिक चुनौतियों से जूझने वाली छवि है, इसीलिए वे *उत्तर कबीर* लिख पाए। अष्टभुजा शुक्ल ने भी बनारस पर कविताएं लिखी हैं। बनारस की साहित्यिक परम्परा एकरेखीय सतही और सीधी नहीं है। इसमें विविधता है, गहराई और उलझाव भी है किंतु कुल मिलाकर गति और उन्नयन का पलड़ा भारी है। □

काशी की कोश परम्परा

***हिंदी शब्दसागर के निर्माण के बाद काशी को अनेक कोशों की निर्माण स्थली बनने का श्रेय मिला / गत बीसवीं शताब्दी में जितने स्तरीय कोश ग्रंथ काशी से संपादित तथा प्रकाशित हुए उतने शायद ही विश्व के किसी अन्य नगर से प्रकाशित हुए हों / इनमें से अधिकतर तो काशी के विद्वानों द्वारा ही संपादित हुए परंतु कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें काशी की साहित्यिक या प्रकाशन संस्थाओं ने अपने बल–बूते पर बाहरी विद्वानों से तैयार करवाया / काशी की कोश परम्परा पर* बदरीनाथ कपूर**

बीसवीं शताब्दी में जितने और जिस-जिस प्रकार के स्तरीय कोशों का निर्माण काशी में हुआ है उतने और वैसे कोशों का निर्माण शायद ही किसी और नगर में हुआ हो।

हिंदी जगत को काशी की सबसे बड़ी देन है– *हिंदी शब्दसागर*। 1908 और 1929 के बीच काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत तथा प्रकाशित इस विशाल ज्ञान-राशि के प्रधान संपादक थे बाबू श्यामसुंदर दास और सहायक संपादकों में प्रमुख थे पं. बालकृष्ण भट्ट, लाला भगवानदीन, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य रामचंद्र वर्मा आदि। उस समय के दिग्गज विद्वानों द्वारा प्रस्तुत यह कोश शब्द-संग्रह, अर्थ-विश्लेषण, व्युत्पत्ति आदि अनेक दृष्टियों से भारतीय भाषाओं में श्रेष्ठ तो था ही साथ ही इसमें प्रविष्टियों के अनुक्रम की जिस पद्धति का प्रवर्तन हुआ, उसे भी मानव मस्तिष्क का चमत्कार कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। यह पद्धति भी हिंदी कोश जगत को काशी की बहुत बड़ी देन है।

आधुनिक काल में प्राय: सभी भाषाओं में शब्दकोशों में प्रविष्टियों का क्रम संबद्ध भाषा की वर्णमाला में उल्लिखित वर्णों के क्रम के आधार पर लगाया जाता है क्योंकि यही प्रविष्टियों तक पहुंचने का सरलतम उपाय भी समझा जाता है। वर्णमाला में वर्णों का क्रम सुनिश्चित होता है, इसलिए कौन शब्द पहले रखा जाए, कौन बाद में यह वर्णमाला के वर्णक्रम से स्वत: सुनिश्चित होता है। नागरी वर्णमाला का पहला वर्ण 'अ' है, दूसरा 'आ', तीसरा 'इ' और अंतिम 'ह' वर्ण है। 'अ' वर्ण से प्रारंभ होने वाली सभी प्रविष्टियां आरंभ में होंगी।, उनके बाद 'आ' वर्ण से प्रारंभ होने वाली सभी प्रविष्टियां होंगी और सबसे अंत में 'ह' वर्ण से आरंभ होने वाली प्रविष्टियां। एक ही वर्ण से प्रारंभ होने वाली प्रविष्टियों का पुन: क्रम उनके दूसरे वर्ण के क्रम के आधार पर लगाया जाता है। यदि प्रविष्टियों में वर्णों की संख्या दो से अधिक हो और प्रथम दोनों वर्ण समान हों तो तीसरे वर्ण के क्रम के आधार पर उन प्रविष्टियों का क्रम लगाया जाता है। प्रविष्टियों में वर्णों की संख्या और अधिक होने पर यह सिलसिला कुछ और दूर तक भी चला चलता है।

प्रविष्टियों का क्रम यदि वर्णों तक ही सीमित रहता तो उनके क्रम के संबंध में कोई समस्या ही न खड़ी होती। रोमन लिपि में लिखी जाने वाली अंग्रेजी, जर्मन, रूसी, फ्रांसीसी, पुर्तगाली आदि भाषाओं की प्रविष्टियों का क्रम लगाने में सामान्यत: किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती। परंतु नागरी लिपि अपनाने वाली संस्कृत, मराठी, नेपाली, हिंदी आदि भाषाओं में प्रविष्टियों का क्रम लगाने में अनेक समस्याएं इसलिए खड़ी हो जाती हैं क्योंकि इनमें वर्णमाला के वर्णों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट चिह्नों का भी विधायन किया जाता है। ये चिह्न लिपि के ही अंग माने जाते हैं और लेखन तथा मुद्रण की सुविधा, उच्चारण की शुद्धता तथा लिपि की सटीकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह तो करते हैं, परंतु शब्दक्रम के निर्धारण में ये समस्याएं भी खड़ी करते हैं। हिंदी कोशों में प्रयुक्त किए जाने वाले ऐसे चिह्न पांच हैं :

अनुस्वार (ं); चंद्र बिंदु (ँ); हल् (्); विसर्ग (:); अधोबिंदु (.)

समस्याएं उत्पन्न हुईं उक्त चिह्नों से युक्त वर्णों के क्रम के निर्धारण को लेकर। कोई वर्ण अपने सामान्य रूप में तो प्रयुक्त होता ही है, किसी विशिष्ट चिह्न से भी युक्त होता है। प्रश्न उठ खड़ा होता है कि चिह्न कहां रखा जाए : सामान्य वर्ण का जो क्रम है उससे पहले, उसके बाद अथवा अन्यत्र। इस समस्या के निराकरण का प्रारंभिक महत्त्वपूर्ण प्रयास 19वीं और 20वीं शताब्दियों के संधि काल में बने संस्कृत-अंग्रेजी कोशों में विशेषत: मोनियर विलियम्स कृत संस्कृत-अंग्रेजी डिक्शनरी (1872) में दिखाई देता है। ध्यान रहे कि संस्कृत के कोशों में उक्त पांच चिह्नों में से मात्र तीन चिह्नों का ही प्रयोग होता है। ये तीन चिह्न है– अनुस्वार, विसर्ग और हल्। एक चिह्न (अनुस्वार) किसी वर्ण के ऊपर लगता है, दूसरा (विसर्ग) किसी वर्ण के आगे लगता है और तीसरा (हल्) किसी वर्ण के नीचे लगता है। हिंदी कोशों में इन तीन चिह्नों के अतिरिक्त चंद्रबिंदु और अधोबिंदु का भी प्रयोग होता है। चंद्रबिंदु (ँ) अनुस्वार की तरह किसी वर्ण के ऊपर लगता है और अधोबिंदु (.) हल् की तरह किसी वर्ण के नीचे। इन चिह्नों से युक्त वर्णों को प्रविष्टियों में जो स्थान दिया जाता है, उसे अब हम संक्षेप में समझने का प्रयास करेंगे।

1. अनुस्वार

लेखन तथा मुद्रण में अनुस्वार का प्रयोग दो स्थितियों में होता है। एक तो शुद्ध नासिक्य ध्वनि के लिए और दूसरे पंचम वर्णों के स्थापन्न के रूप में। 19वीं तथा 20वीं शताब्दियों में बने संस्कृत-अंग्रेजी के तीनों प्रमुख द्विभाषी कोशों में अनुस्वार का प्रयोग मात्र शुद्ध नासिक्य ध्वनि के लिए ही किया गया

प्रयाग घाट

काशी दर्शन

विश्वनाथ मंदिर

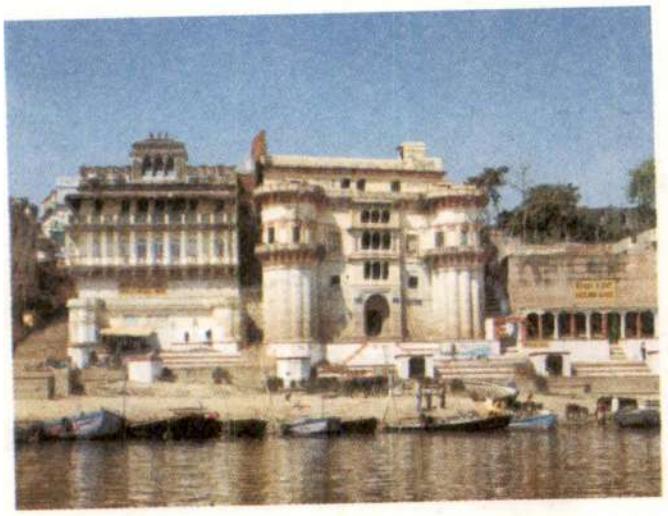

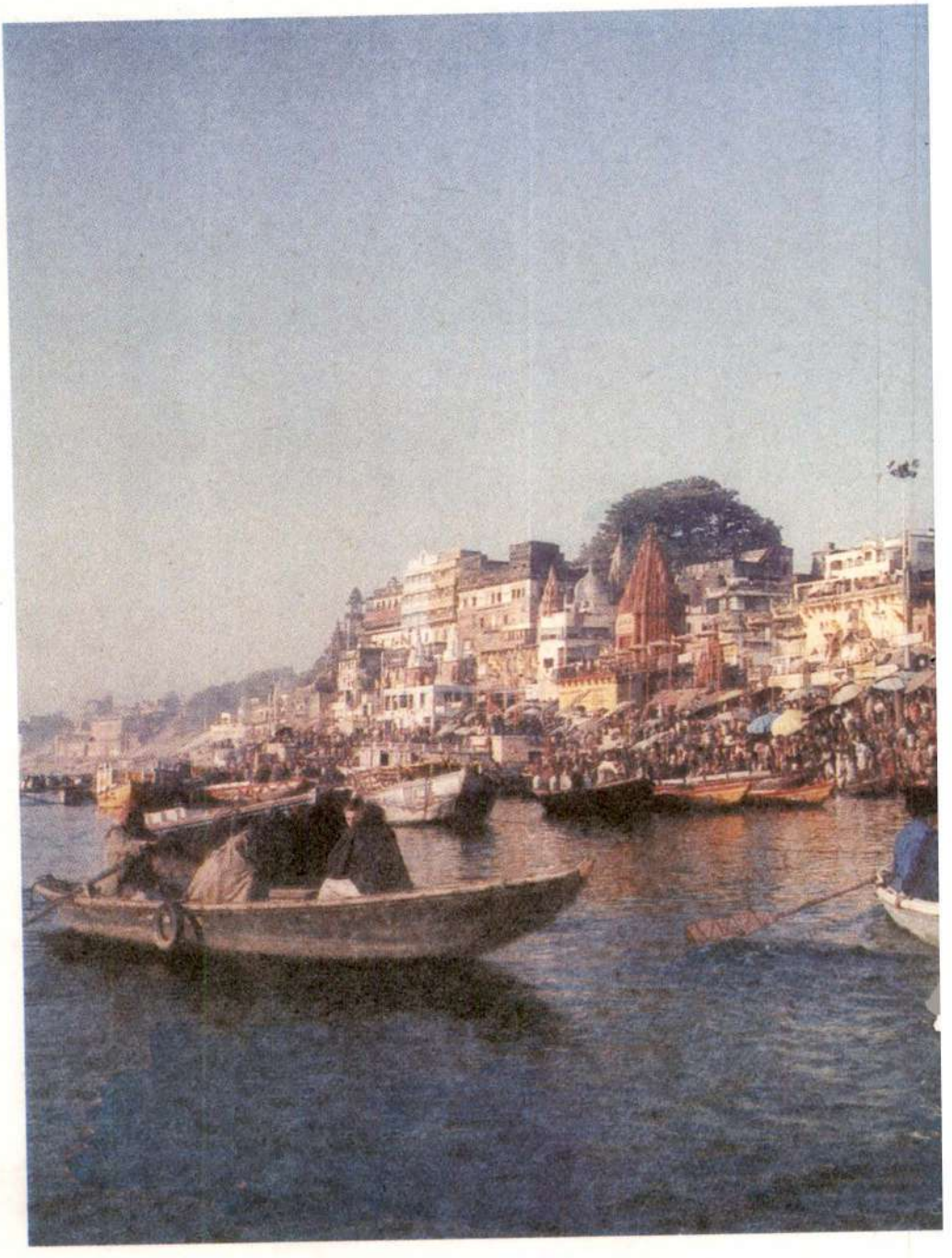

चित्र: (ऊपर बाएं से दाएं) गंगा घाट और रीवा घाट, संस्कृत विश्वविद्यालय, नादेसर टकसाल और मणिकर्णिका घाट नीचे: गंगा तट का विहंगम दृश्य

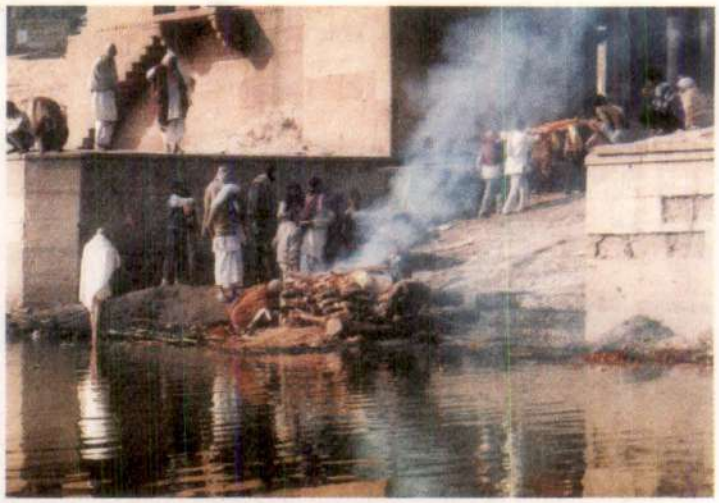

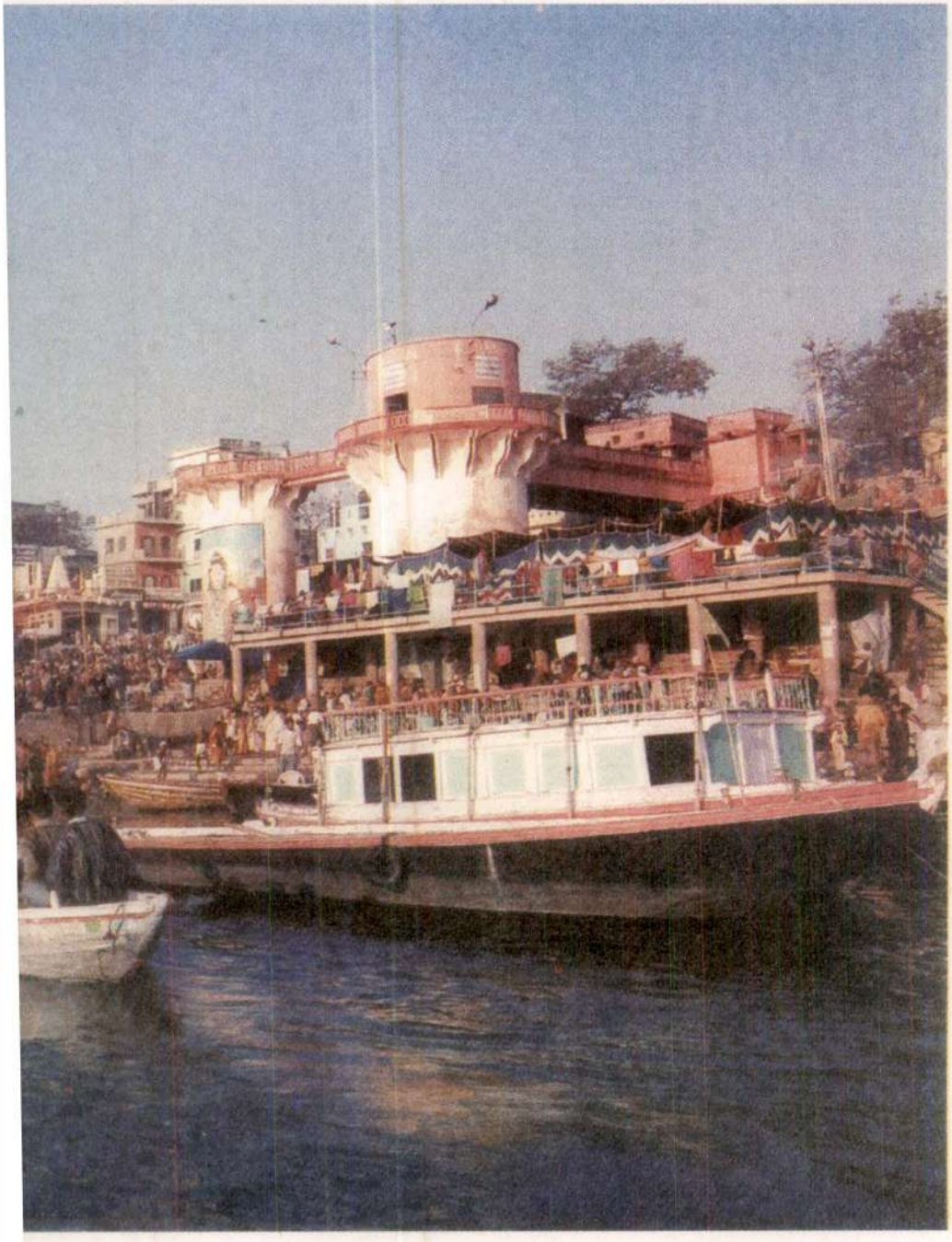

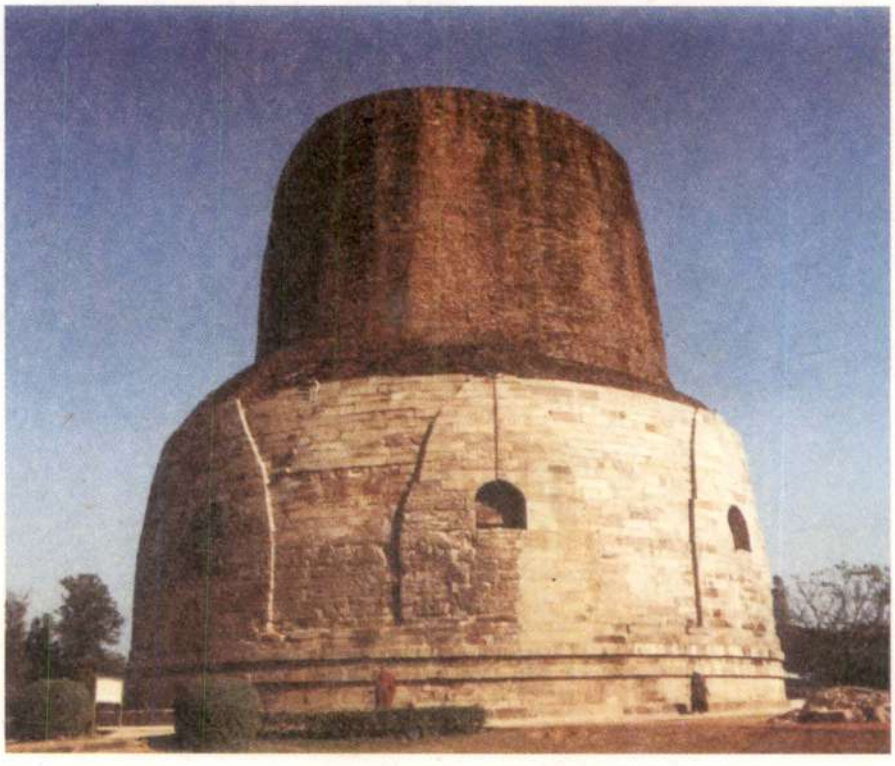

धमेख स्तूप, सारनाथ (वाराणसी)

कर्दमेश्वर, पंचकोसी मार्ग कंदवा

बौद्ध मंदिर, सारनाथ

है, पंचम वर्णों के लिए नहीं। इन कोशों के नाम हैं– मोनियर विलियम्स कृत *संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी* (1872), वामन सदाशिव आप्टे कृत *संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी* (1890) तथा मैकडोनल कृत ए *प्रैक्टिकल संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी* (1924)। सर्वविदित है कि शुद्ध अनुस्वार का प्रयोग स्वरों और उष्म वर्णों के मध्य आने वाली शुद्ध नासिक्य ध्वनि के लिए होता है।

प्रविष्टियों के क्रम पर विचार करते समय इस तथ्य को सदा ध्यान में रखना पड़ता है कि जब किसी स्वर वर्ण के ऊपर अनुस्वार रहता है तो उस अनुस्वार की स्थिति अगले अर्थात् ठीक बाद वाले वर्ण के तुल्य होती है। उदाहरणार्थ 'अंश' में 'अ' प्रथम वर्ण है, अनुस्वार दूसरा वर्ण, 'श्' तीसरा वर्ण और 'अ' चौथा वर्ण। इसी प्रकार 'संशय' में 'स्' पहला वर्ण है, 'अ' दूसरा वर्ण है, अनुस्वार तीसरा है, 'श्' चौथा वर्ण है, 'अ' पांचवां वर्ण है, 'य' छठा वर्ण है और 'अ' सातवां वर्ण। 'अंश' में 'अ' पहला वर्ण है और 'संशय' में 'अ' दूसरा वर्ण। ऊपर लिखे संस्कृत-अंग्रेजी कोशों में अपनाए हुए क्रम के अनुसार किसी स्वर के बाद वर्णमाला के स्वर यथाक्रम आएंगे, जैसे–

अअ, अआ, अइ, अई, अउ, अऊ, अऋ .... अऔ
आअ, आआ, आइ, आई, आउ, आऊ, आऋ .... आऔ

स्वरों का क्रम समाप्त होने के बाद अनुस्वार की बारी आएगी जैसे–

अअ, अआ, अइ, ... अओ, अऔ, अं
आअ, आआ, आइ, ... आओ, आऔ, आं

इसी क्रम के अनुसार मोनियर विलियम्स कृत *संस्कृत इंग्लिश कोश* में अ के बाद 'अऋ णिन्' आया है और उसके बाद 'अंश' और 'अंशुमालिन्' आए हैं।

हिंदी शब्दसागर (1909–1929) में उक्त वर्णक्रम से पहली भिन्नता तो यह दिखाई देती है कि इसमें अनुस्वार का प्रयोग शुद्ध अनुस्वार के लिए तो हुआ ही है इसके अतिरिक्त पंचम वर्णों के लिए भी हुआ है। दूसरी भिन्नता यह दिखाई देती है कि शुद्ध अनुस्वार और पंचम वर्णों के लिए प्रयुक्त अनुस्वार में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया गया अर्थात् किसी स्वर से संबद्ध सभी अनुस्वार युक्त प्रविष्टियों को एक साथ रखा गया है और प्रविष्टियों का क्रम अनुस्वार के बाद आनेवाले वर्ण के क्रम के अनुसार लगाया गया। संस्कृत कोशों की तरह 'अ' वर्ण की अनुस्वार से आरंभ होने वाली प्रविष्टियां *शब्दसागर* में 'अंश' से प्रारंभ नहीं हुई बल्कि 'अंक' से प्रारंभ हुई और अंग, अंड, अंत, अंध, अंब के बाद अंश को रखा गया।

तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी स्वर से आरंभ होने वाले सभी अनुस्वार युक्त शब्द उस स्वर के ठेठ आरंभ में रखे गए हैं। संस्कृत कोशों की तरह किसी स्वर के ठीक बाद अकारादि क्रम से स्वरों की प्रविष्टियां नहीं रखी गईं बल्कि अनुस्वार से युक्त प्रविष्टियां स्वर क्रम से पहले रखी गईं। संस्कृत कोशों में 'अ' वर्ण से आरंभ होने वाली प्रविष्टियों में पहले 'अऋणिन्' को स्थान मिला है और तब 'अंश' को। परंतु हिंदी शब्दसागर में 'अ' वर्ण से प्रारंभ होने वाली प्रविष्टियों में अंक, अंग, अंत, अब, अंश के बाद अइसा, अऊत, अऋणी आदि प्रविष्टियां आई हैं। उक्त अंतर को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :

संस्कृत-अंग्रेजी कोशों में

अ, अअ, अआ, अइ, अई ....अऔ, अंक, अक, अख...
आ, आअ, आआ, आइ, आई ....आ औ, आंक, आक, आख...

परंतु

हिंदी शब्दसागर में

अ, अं, (अंग, अंत, अंब, अंश) अअ, अआ, अइ, अई ....अऔ, अक, अख...

आ, आं (आंचल, आंतर, आंशिक) आअ, आआ, आऔ, आक, आख

2. विसर्ग

अनुस्वार की तरह विसर्ग का प्रयोग भी किसी स्वर के उपरांत होता है। विसर्ग अघोष कंठ्य ध्वनि ह् का सूचक चिह्न है और इसका प्रयोग किसी स्वरांत पद (पूर्वपद अथवा उत्तर पद) के अंत में होता है। विसर्ग युक्त स्वर की प्रविष्टियां संस्कृत तथा हिंदी के अधिकतर कोशों में उस स्वर की अनुस्वार युक्त प्रविष्टियों के ठीक बाद आई हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि संस्कृत तथा हिंदी के कोशों में अनुस्वार युक्त स्वर की प्रविष्टियों के क्रम का निर्धारण भिन्न-भिन्न स्थलों पर हुआ है इसलिए विसर्ग युक्त प्रविष्टियों का अनुक्रम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :

संस्कृत कोशों में

अअ, अआ, अइ, ... अओ, अऔ, अं, अः, अक, अख
आअ, आआ, आइ, ... आओ, आं, आः, आक, आख

हिंदी शब्दसागर में

अं, अः, अअ, अआ, अइ, ... अऔ, अक, अख
आं, आः, आअ, आआ, आइ, ... आऔ, आक, आख

3. हल्

अनुस्वार और विसर्ग चिह्नों का प्रयोग स्वर वर्णों के साथ होता है और हल् चिह्न का प्रयोग व्यंजन वर्णों के साथ। वर्णमाला में व्यंजन वर्ण अपने शुद्ध रूप में नहीं दरशाए जाते बल्कि उच्चारण-सुविधा के लिए उनमें 'अ' स्वर निहित माना जाता है। किसी व्यंजन का शुद्ध रूप उसके नीचे हल् चिह्न लगाकर दिखाया जाता है। 'क' वर्ण वस्तुतः क् व्यंजन और 'अ' स्वर का योग है। ध्यान रहे कि प्रविष्टियों में व्यंजन वर्णों पर विचार शुद्ध व्यंजन की दृष्टि से ही होता है। उदाहरणार्थ 'क' वर्ण से प्रारंभ होने वाली प्रविष्टियों में पहला वर्ण क् माना जाएगा। दूसरा वर्ण वर्णमाला के अनुक्रम के अनुसार अ, आ, इ, ई ... ओ, औ क्रमात् होंगे अर्थात् बारह खड़ी वाला क्रम– क, का, कि, की, कु, कू, कृ, के, कै, को, कौ। तब बारी आएगी कक्, कख्, कग्... क्य्, क्व् आदि की। तीसरे वर्ण का आरंभ फिर वर्णमाला के क्रम से चलेगा और चलता चलेगा।

हम देख ही चुके हैं कि स्वर वर्ण के आने पर अनुस्वार और विसर्ग युक्त प्रविष्टियों का क्रम हिंदी शब्दसागर में स्वभावतः पहले चलता है और तब स्वर अनुक्रम चालू होता है जबकि संस्कृत के कोशों में पहले स्वर अनुक्रम चलेगा फिर अनुस्वार और विसर्गयुक्त प्रविष्टियों की बारी आएगी। देखें :

संस्कृत कोशों में

क, का, कि, की, कु, कू, कृ, कॄ, क, कें, का, कौ, कं, कः
ख, खा, खि, खी, खु, खू, खृ, खॄ, ख, खें, खा, खौ, खं, खः

परंतु हिंदी शब्दसागर में

कं, कः, क, का, कि, की, कु, कू, कृ, के, कै, को, कौ
खं, खः, ख, खा, खि, खी, खु, खू, खृ, खे, खें, खो, खौ

जब स्वरों की मात्राओं का क्रम समाप्त होगा तब व्यंजन वर्ण अपने शुद्ध रूप में होगा। (इस शुद्ध व्यंजन को कटे रूप में भी रखा जाता है। क् और क, ख् और ख, ग् और ग वस्तुत: दोनों शुद्ध व्यंजन रूप के ही सूचक हैं। ङ्, छ, ट्, ठ्,ड्, ढ्, द् तथा ह् के कटे रूप नहीं होते।) अब व्यंजन वर्णों का क्रम आरंभ होगा– क्क, क्ख, क्ग, क्च, क्छ, क्ज, क्झ। दूसरे वर्ण के बाद यहां फिर तीसरा वर्ण 'अ' से आरंभ हो रहा है। पुन: अगला वर्ण अनुस्वार, विसर्ग होगा। क्रम ऐसे ही चलेगा।

4. चंद्रबिंदु

अनुस्वार और चंद्रबिंदु में भेद यह है कि अनुस्वार स्वतंत्र नासिक्य ध्वनि है जबकि चंद्रबिंदु किसी स्वर के ही नासिक्य होने का सूचक है। शब्द सागर के संपादकों की दृष्टि में चंद्रबिंदु अनुस्वार का ही अर्ध रूप है। खैर। व्यवहार में अनेक स्थलों पर चंद्रबिंदु के लिए अनुस्वार का प्रयोग होता है। अब हैं, हों, हँगे, पुस्तकों, घोड़ों आदि न लिखकर हैं, हों, होंगे, पुस्तकों, घोड़ों आदि ही लिखा जाता है। अनेक पत्र-पत्रिकाएं तो चंद्रबिंदु का प्रयोग करती ही नहीं। चंद्रबिंदु के स्थान पर अनुस्वार का ही प्रयोग करती हैं। इस प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर हिंदी शब्दसागर के विद्वान संपादकों ने चंद्रबिंदु युक्त स्वर वर्णों को उनके अनुस्वार युक्त वर्णों से कहीं दूर ले जाना समीचीन नहीं समझा। उसी क्रम को अपनाए रखा। हां इतना अवश्य किया कि प्रविष्टियों में जहां अनुस्वार अपेक्षित है वहां अनुस्वार रखा और जहां चंद्रबिंदु अपेक्षित है वहां चंद्रबिंदु रखा।

5. अधोबिंदु

अनेक भाषाविदों का मत है कि मध्यकाल में ही हिंदी प्रदेशों में 'ड' और 'ढ' व्यंजन वर्ण दो-दो ध्वनियों को सूचित करने लगे थे। 'ड' और 'ढ' व्यंजन वर्ण क्रमश: अल्पप्राण और महाप्राण स्पर्श मूर्धन्य ध्वनियों के सूचक तो थे ही अब वे स्पर्श के अतिरिक्त उत्क्षिप्त मूर्धन्य ध्वनियों को भी सूचित करने लगे। इन उत्क्षिप्त मूर्धन्य ध्वनियों को सूचित करने के लिए नए वर्णों की आवश्यकता थी परंतु उस युग के कवियों-लेखकों ने इनकी पूर्ति स्पर्श मूर्धन्य ध्वनियों 'ड' और 'ढ' के नीचे अधोबिंदु लगाकर की। *शब्दसागर* के संपादकों के सामने फिर प्रश्न उपस्थित हुआ कि जिन वर्णों का वर्णमाला में स्थान नहीं, उन्हें किस अनुक्रम में रखा जाए। संभवत: वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जो नीति अनुस्वार और चंद्रबिंदु के संबंध में अपनाई गई है उसे ही यहां भी अपनाया जाए। वर्ण तो 'ड' और 'ढ' ही क्रम में रहें परंतु यदि वे स्पर्श मूर्धन्य ध्वनि की जगह उत्क्षिप्त मूर्धन्य के सूचक हों तो उनके नीचे अधोबिंदु लगाया जाए।

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में नागरी वर्णमाला के अनेक व्यंजन वर्णों के नीचे अधोबिंदु लगाकर नई (विदेशी) ध्वनियों को अपनाने की प्रथा आरंभ हुई। हिंदी शब्दसागर के संपादकों का मत था कि विदेशी ध्वनियों को अपनाने की आवश्यकता नहीं। सामान्यत: संसार की कोई भाषा किसी अन्य भाषा की ध्वनियां अपनाने के लिए अग्रसर नहीं होती। जापानी भाषा ने दूध का वाचक अंग्रेजी का 'मिल्क' शब्द अपनाया तो अवश्य परंतु जापानी वर्णमाला में ल ध्वनि न होने के कारण उसका रूप बनाया 'मिरुकू'। कहने का तात्पर्य यह कि उसने अपनी 'र' ध्वनि से ही काम चलाया, 'ल' ध्वनि को नहीं अपनाया। आचार्य रामचंद्र वर्मा तथा आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने सदा 'जरूर' और 'जरूरत' ही लिखा कभी 'ज़रूर' और 'ज़रूरत' नहीं। अनेक आधुनिक भाषाशास्त्री क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि ध्वनियों को अपनाने के पक्ष में हैं। यदि वे कोशों में इन ध्वनियों का स्थान देना चाहें तो 'ड़' और 'ढ़' वर्णों के संबंध में जैसी नीति अपनाई गई है वैसी वे इन अधोबिंदु वाले वर्णों के संबंध में भी अपना सकते हैं।

इस शब्दक्रम की विशेषता

इस शब्दक्रम की पहली विशेषता तो यह है कि हिंदी शब्दसागर के संपादकों ने वर्णों और वर्णचिह्नों को ध्यान में रखकर ठोस अर्थात् सुसंगत व्यवस्था प्रस्तुत की और उसे वर्णों तथा वर्ण चिह्नों के बिखराव से होने वाली अव्यवस्था और धांधली से बचाया। शब्दसागर से पहले हिंदी में जो छोट-मोट कोश थे उनमें वर्णचिह्नों की योजना के संबंध में कोई नीति नहीं थी। दूसरी विशेषता यह है कि हिंदी शब्दसागर के बाद बनने वाले *संक्षिप्त शब्दसागर, प्रामाणिक हिंदी कोश, वृहत् हिंदी कोश, मानक हिंदी कोश,* (डा. बाहरी कृत) हिंदी शब्द कोश आदि कोशों ने इसी क्रम-पद्धति को अपनाया। एक अपवाद है तो बस *हिंदी शब्दसागर* का नवीन संशोधित संस्करण (1965)। इसमें क्रम-संबंधी दो महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देते हैं। एक यह कि अनुस्वार युक्त वर्णों को अलग रखा गया और चंद्रबिंदुयुक्त वर्णों को अलग। दूसरा परिवर्तन यह है कि अनुस्वार वर्णों की प्रविष्टियों के बाद चंद्रबिंदुयुक्त प्रविष्टियां रखी गई हैं। यहां देखने की बात यह भी है कि *हिंदी शब्दसागर* के नवीन संस्करण के प्रकाशित होने के कोई बीस वर्ष बाद डॉ. हरदेव बाहरी का *हिंदी शब्दकोश* प्रकाशित हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रख्यात भाषा वैज्ञानिकों में डा.बाहरी प्रमुख हैं। उन्होंने नवीन शब्दसागर के शब्दक्रम को न अपना कर मूल शब्दसागर के शब्दक्रम को ही अपनाया। क्रमपद्धति का मूल उद्देश्य होता है प्रविष्टियों तक सहजतापूर्वक तथा अल्पसमय में पहुंचना। लगता है कि *हिंदी शब्दसागर* के नवीन संस्करण के संपादकों ने मूल संपादकों के दृष्टिकोण पर पूरा ध्यान नहीं दिया।

इस क्रम पद्धति की तीसरी विशेषता है इसके पीछे छिपी सुचिंतित वैचारिक अवधारणा। वह यह कि सभी वर्णचिह्नों का प्रयोग संबद्ध वर्ण के आरंभ से ही हो। अनुस्वार, चंद्रबिंदु और विसर्ग का प्रयोग तो स्वर वर्ण का आरंभ होते ही होता है परंतु हल् चिह्न अपवाद प्रतीत होता है। पर बात ऐसी नहीं है। यद्यपि हिंदी *शब्द सागर* के संपादक इस तथ्य को रेखित नहीं कर पाए परंतु ध्यान दें कि किसी व्यंजन वर्ण के आरंभ में हल् चिह्न नहीं आएगा तो शुद्ध व्यंजन वर्ण का विवरण कैसे दिया जाएगा : उदाहरण के लिए 'क' व्यंजन वर्ण से प्रारंभ होने वाली प्रविष्टियों में पहली प्रविष्टि 'क्' ही होनी चाहिए और इसी में शुद्ध व्यंजन का विवरण दिया जाना चाहिए। 'क' (अकारांत) में 'क्' ध्वनि का विवरण देना उचित नहीं ठहराया जा सकता। बस इतनी ही चूक *शब्दसागर* के संपादकों से हुई। आगे सब ठीक है। 'क्' के बाद वर्णक्रम के अनुसार स्वर क्रम चलेगा और जब स्वरक्रम समाप्त होगा तो 'क्' अपने शुद्ध रूप में रहेगा और व्यंजन वर्णों का क्रम आरंभ होगा।

अंत में इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक है कि *हिंदी शब्दसागर* के निर्माण के बाद काशी को अनेक कोशों की निर्माण स्थली बनने का श्रेय मिला। बीसवीं शताब्दी में जितने स्तरीय कोश ग्रंथ काशी से संपादित तथा प्रकाशित हुए उतने शायद ही विश्व के किसी अन्य नगर से प्रकाशित हुए हों। इनमें से अधिकतर तो काशी के विद्वानों द्वारा ही संपादित हुए। परंतु कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें काशी की साहित्यिक व प्रकाशन संस्थाओं ने बहारी विद्वानों से तैयार करवाया। इन कोशों को पांच वर्गों में बांटा जा सकता है। यह वर्गीकरण पृष्ठ 61पर दर्शाया गया है।

बीसवीं शताब्दी में काशी से प्रकाशित प्रमुख शब्दकोश

1. शब्दकोश

(1) *हिंदी शब्द सागर* (1909-1928) श्यामसुंदर दास
(2) *हिंदी शब्द संग्रह* (1930) मुकुंदीलाल श्रीवास्तव
(3) *संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर* (1936) रामचंद्र वर्मा
(4) *प्रामाणिक हिंदी कोश* (1949) रामचंद्र वर्मा
(5) *भार्गव आदर्श हिंदी कोश* (1950) रामचंद्र पाठक
(6) *प्रचारक हिंदी कोश* (1950) लालधर त्रिपाठी
(7) *बृहत् हिंदी कोश* (1952) राजवल्लभ सहाय
(8) *मानक हिंदी कोश* (1957-65) रामचंद्र वर्मा
(9) *बृहत् प्रामाणिक हिंदी कोश* (2004) रामचंद्र वर्मा

2. ज्ञान कोश

(1) *हिंदी विश्वकोश* (1960) धीरेंद्र वर्मा

3. द्विभाषी कोश

(क) हिंदी अंग्रेजी कोश

(1) *भार्गव हिंदी अंग्रेजी कोश* (1946) रामचंद्र पाठक
(2) *मीनाक्षी हिंदी अंग्रेजी कोश* (1980) ब्रजमोहन, बदरीनाथ कपूर
(3) *प्रभात हिंदी अंग्रेजी कोश* (2004) बदरीनाथ कपूर

(ख) हिंदी संस्कृत कोश

(4) *श्री कोश* (1940) केदारनाथ शर्मा
(5) *आदर्श हिंदी संस्कृत कोश* (1957) रामस्वरूप शास्त्री

(ग) उर्दू हिंदी कोश

(6) *देवनागरी उर्दू हिंदी कोश* (1936) रामचंद्र वर्मा

(घ) अंग्रेजी हिंदी कोश

(7) *भार्गव स्टैंडर्ड इलस्ट्रेटिड डिक्शनरी आफ दी इंग्लिश लैंग्वेज* (1939) रामचंद्र पाठक
(8) *प्रचारक इंग्लिश डिक्शनरी* (1950)
(9) *बृहत् अंग्रेजी हिंदी कोश* (1960) हरदेव बाहरी
(10) *सामान्य अंग्रेजी हिंदी कोश* (1964) राममूर्ति सिंह
(11) *अंग्रेजी-अंग्रेजी हिंदी कोश* (1997) राम लखन मौर्य
(12) *प्रभात अंग्रेजी हिंदी कोश* (1999) बदरीनाथ कपूर

4. विषय कोश

(1) *पर्यायवाची कोश* (1935) श्रीकृष्ण शुक्ल
(2) *गणितीय कोश* (1954) ब्रजमोहन
(3) *शब्द साधना* (1955) रामचंद्र वर्मा
(4) *हिंदी धातु कोश* (1956) मुरलीधर श्रीवास्तव
(5) *हिंदी साहित्य कोश* (1958) धीरेंद्र वर्मा
(6) *भाषा विज्ञान कोश* (1964) भोलानाथ तिवारी
(7) *अंग्रेजी हिंदी पर्यायवाची कोश* (1968) बदरीनाथ कपूर
(8) *मानविकी पारिभाषिक कोश* (1968) पद्मा अग्रवाल
(9) *शब्दार्थ-दर्शन* (1969) रामचंद्र वर्मा
(10) *शब्द-परिवार कोश* (1969) बदरीनाथ कपूर
(11) *लोकभारती हिंदी मुहावरा कोश* (1997) बदरीनाथ कपूर
(12) *प्रभात काव्य कोश* सुधाकर पांडेय
(13) *कबीर कोश* वासुदेव सिंह
(14) *आधुनिक हिंदी प्रयोग कोश* (1996) बदरीनाथ कपूर
(15) *लोकभारती मुहावरे और लोकोक्ति कोश* बदरीनाथ कपूर

5. वैज्ञानिक कोश

(1) *हिंदी साइंटिफिक ग्लासरी* (1901) श्यामसुंदर दास
(2) *वैज्ञानिक परिभाषा कोश* (1965) बदरीनाथ कपूर

एक महत्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है : वह यह कि 19वीं शताब्दी में काशी के लाजरस प्रेस से एस. डब्ल्यू. फैलन के चार कोश प्रकाशित हुए थे। इनमें से प्रमुख हैं–

(1) *ए-न्यू हिंदुस्तानी इंग्लिश डिक्शनरी* (1879)
(2) *ए-न्यू इंग्लिश हिंदुस्तानी डिक्शनरी* (1879)
(3) *इंडियन प्रावर्ब डिक्शनरी* (1879)

यद्यपि फैलन बिहार के शिक्षा अधिकारी थे तो भी उनके कोशों को प्रकाशित करने का श्रेय काशी को ही प्राप्त हुआ। □

काशी की टीका परम्परा

टीकाएं कोश निर्माण में सहायक हैं / कोश टीका की सहायता करते हैं / जो शब्दार्थ कोश में नहीं मिलते हैं उनकी टीका करने में कठिनाई होती है / कभी–कभी शब्द हैं, किंतु अर्थ नहीं हैं / केशवदास का एक प्रयोग है– बिसमय यह गोदावरी अमृतन को फल देति / यहां विष का अर्थ जल है / कोशों में तो अनेक अर्थ हैं / परस्पर विरोधी भी हैं / टीकाकार को चुनना पड़ता है / अनुमान भी लगाना है / काशी की टीका परम्परा की चर्चा कर रहे हैं डा. युगेश्वर

कोश निर्माण एवं टीका का गहरा संबंध है। दोनों शब्द, अर्थ, संदर्भ आदि पर विचार करते हैं। प्राय: सौ वर्ष पूर्व वाराणसी में नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिंदी शब्द सागर का निर्माण हुआ। यह हिंदी का अत्यंत विस्तृत एवं प्रामाणिक शब्दकोश है। प्राय: इसी के आस-पास वाराणसी में लाला भगवान दीन एवं बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर टीका कार्य में जुटे थे। लाला जी और रत्नाकर दोनों ही कवि थे। अत: वे दोनों ही कविता के मर्म को समझते थे। इसी मर्म को समझने के कारण उन्होंने टीका कार्य में अपना योगदान दिया। केशवदास को कठिन काव्य का प्रेत कहा जाता था। प्रसिद्ध कहावत थी :

कवि को देन न चहै विदाई
पूछै केशव की कविताई।

लाला भगवानदीन ने कठिन काव्य के प्रेत को साधा। केशवदास की प्रमुख रचना की टीका की। यह टीका आज भी अंतिम है। लाला भगवानदीन के बाद किसी ने केशव काव्य पर टीका नहीं की। लाला भगवानदीन ने *बिहारी बोधिनी* नाम से बिहारी की कविताओं की भी टीका की। इन टीकाओं द्वारा केशव और बिहारी को समझने में बड़ी सुविधा हो गई। बिहारी की सैकड़ों टीकाएं प्राप्त हैं। बिहारी के दोहों पर तरह-तरह की टीकाएं की गई हैं। रत्नाकर की *बिहारी रत्नाकर* भी उसी काल की टीका है। कोश टीका के सहयोगी हैं। इस प्रकार टीका द्वारा कोश की सहायता होती है। फिर भी अंतर है। कोश की मुख्य दृष्टि शब्द और उसके स्थूल से सूक्ष्मतम अर्थों को अलगाने पर रहती है। इसी से एक शब्द के अनेक-अनेक अर्थ होते हैं। टीकाकार का ध्यान रचना में प्रयुक्त शब्दों के प्रासंगिक अर्थ की ओर होता है। इसी से पुराकाल में कोशों का क्षेत्र नाम या लिंग तक सीमित था। वे नाम लिंगानुशासन या नाम माला होते थे। शेष के लिए टीकाएं होती थीं। कामायनी का एक प्रसिद्ध शब्द है 'अमर वेदना'। कोशों में यह अमर और वेदना इन दो रूपों में है। किंतु टीकाकार की दृष्टि में यह एक शब्द है। अर्थों में भी भिन्नता है 1. देव दुख 2. वह दुख जो देवताओं को भी होता है। 3. काम पीड़ा 4. देव जैसा दुख। यह दुख एक प्रकार का सुख है। 5. कभी न मिटने वाला दुख। सनातन दुख। इसी दुख से देव सृष्टि का विनाश हुआ। इसी दुख से भविष्य में भी नाश होगा। इसी दुख से दुखी मनु पूछते हैं– देव, बता दो अमर वेदना लेकर कब मरना होगा? इस दुख से मृत्यु अवश्य होती है। किंतु कब होती है, कुछ पता नहीं। मनुष्य तो मर्त्य है ही। मर्त्यलोक से परे स्वर्ग लोक के देवता भी इस दुख से मरते हैं। यह वेदना स्वयम् अमर है। देवता नहीं, वेदना अमर है। देवों को नहीं, वेदना को अमर कहो। कोशकार इनमें से अर्थ संग्रह करता है। अमर वेदना का सामान्य अर्थ पारिभाषिक अर्थ। अमर वेदना बौद्धों की तृष्णा का पर्याय है। अत: अमर वेदना एक पर्यायवाची शब्द भी बनता है। एक ही शब्द अमर वेदना तीन प्रकार के कोशों में तीन प्रकार से आएगा।

टीकाएं कोश निर्माण में सहायक हैं। कोश टीका की सहायता करते हैं। जो शब्दार्थ कोश में नहीं मिलते हैं। उनकी टीका करने में कठिनाई होती है। कभी-कभी शब्द हैं, किंतु अर्थ नहीं हैं। केशवदास का एक प्रयोग है– *बिसमय यह गोदावरी अमृतन को फल देति*। यहां विष का अर्थ जल है। कोशों में तो अनेक अर्थ हैं। परस्पर विरोधी भी हैं। टीकाकार को चुनना पड़ता है। अनुमान भी लगाना है। सूरदास का प्रयोग है 'काकी भूख गई बयार भीख बिना दूध घृत मांड़।' मांड़ का सामान्य अर्थ है चावल का वह पानी जैसा भाग जो सिद्ध चावल से निकलता है। किंतु दूध, घृत के साथ मांड़ की संगति नहीं बैठती है। अनुमान ने रोटी अर्थ किया। मंडका शब्द रोटी के लिए आता है। अनुमान भी बिल्कुल आधार रहित न हो। शब्द का अर्थ लगाने में अनुमान के अतिरिक्त परम्परा का भी महत्त्व है। खग, मृग शब्द का प्रयोग प्राय: ही साथ हुआ है। खग का अर्थ आकाशचारी। क्योंकि 'ख' आकाश है। 'ग' गमनार्थ है। मृग में 'ग' को गमनार्थ मानें तो 'मृ' का अर्थ पृथ्वी होना चाहिए जो अर्थ कोशों में नहीं है। किंतु पशुमात्र को मृग कहते हैं। पशु के दो अर्थ हैं : जो देखता है। जो बंधन में है। किंतु केवल चौपाया को पशु कहते हैं। वह बंधन में हो या खुला। मृग अब एक पशु विशेष को कहते हैं। सूर कभी, कहीं अंधे के अर्थ में नहीं था। अब सूर का मुख्य अर्थ अंधा है। खाला का अर्थ मौसी अधिक प्रचलित है। कबीर के 'खाला का घर नाहिं' में मौसी अर्थ लगाना उचित नहीं। यहां खाला का अर्थ वेश्या है। वृद्ध वेश्या जो दुकान चलाती है। इसी में प्रांत भेद का भी ध्यान रखना पड़ता है। व्युत्पत्ति के द्वारा भी अर्थ खुलता है। नानक बानी में 'पांधा' का प्रयोग अध्यापक के अर्थ में है। यह उपाध्याय का अपभ्रंश है। कबीर ग्रंथावली के प्रथम दोहे में 'दाति' संस्कृत वालों की दृष्टि में दान है। किंतु इसे अपभ्रंश मानने पर अर्थ होगा दाता (देनेवाला)। साधी संस्कृति का सुधी है। किंतु साधी (सुधी) का अर्थ है– 1. जिसने परमात्मा की खोज की है। 2. जो परमात्मा की खोज में है। 3. परमात्मा की खोज के कारण जिसकी धी (बुद्धि) शुद्ध हो गई है। सुधी, साधी साधु है। साधी, पाधु सत्संगति का दान देता है।

टीका का एक महत्त्वपूर्ण तत्व पाठ है। किसी भी रचना का शुद्ध पाठ।

टीका के पूर्व शुद्ध पाठ का होना आवश्यक है। डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने *पद्मावत* की संजीवनी टीका की है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पद्मावत का पाठ तैयार किया था। अग्रवाल आचार्य शुक्ल पर श्रद्धा रखकर भी उनके पाठ को स्वीकार नहीं करते हैं। डॉ. अग्रवाल ने शुक्ल जी के पाठ में संशोधन किया है। आचार्य शुक्ल की आलोचना उपसंहार के प्रथम चौपाई खंड पर आधृत है। डॉ. अग्रवाल ने उसे लिया ही नहीं। 'नखशिख' खंड में शुक्ल जी 'अरुझ' शब्द का प्रयोग करते हैं- अस्टौ कुरी नाग सब अरुझ केस के बाँद। डॉ. अग्रवाल अरुझ के स्थान पर 'ओरगाने' शब्द का प्रयोग करते हैं। यह पाठ डॉ. अग्रवाल को कहीं मिला होगा। डॉ. अग्रवाल ओरगाने का अर्थ अरकान तथा अरबी (रुक्न = खंभा) मुख्य, प्रधान व्यक्ति करते हैं। डॉ. अग्रवाल की सूचना के अनुसार डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने 'ओरगाने' शब्द *पद्मावत* से ही लिया है। जोगी खंड में डॉ. अग्रवाल ने भी इस शब्द को लिया है। शुक्ल जी ने 'अरकाना' लिखा है। अर्थ सरदार दिया है। इस प्रकार शुक्ल जी, अग्रवाल एवं माता प्रसाद गुप्त तीनों के शब्द रूप में किंचित भिन्नता के बावजूद अर्थ एक है। किंतु ऐसा लगता है डा. अग्रवाल ने अरुझ के स्थान पर 'ओरगाने' कर अर्थ को उलझा दिया। ओरगाने का अरबी आर्य वहां न लेना था। वहां ओरगाना संस्कृत अवलग्न से विकसित है। क्योंकि केश में सभी सांप बंदी हैं- *अठटौ कुरी नाग सब अरुझ केस के बाँद*। डा. अग्रवाल एवं डा. माता प्रसाद गुप्त अर्थ सौंदर्य की अपेक्षा शब्द पर अधिक ध्यान देते हैं। वाराणसी की टीका परम्परा में साहित्य के सौंदर्य का भी ध्यान रखा जाता है। यह रसवादी परम्परा है। डॉ. अग्रवाल एवं डॉ. गुप्त विज्ञानवादी हैं। डॉ. अग्रवाल ने इसी आधार पर *कीर्तिलता* की भी टीका की है। वाराणसी में *कीर्तिलता* के दूसरे टीकाकार डॉ. शिव प्रसाद सिंह हैं।

वाराणसी में एक स्थान 'काशी करवट' है। 'करवट' दो अलग-अलग शब्दों से अलग-अलग अर्थों में आता है। 'करवट' का सामान्य अर्थ है हाथ या पार्श्व के बल लेने की स्थिति या मुद्रा। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'करवर्त्त' है। दूसरा अर्थ है- करवत, आरा। दूसरे अर्थ का संबंध एक प्रथा से है। यह प्रथा है- वे प्राचीन आरे या चक्र जिनसे कटकर लोग शुभ फल की आशा से मरते थे। जायसी ने पदमावत में इसका उल्लेख किया है :

1. करवत लइ बेनी पर धरा।
2. करवत तपा लेहिं होइ चुरू...

काशी में त, ट हो गया। करपत करवट।

प्रयाग में बेनी, त्रिवेणी है। काशी में कुआं है। 'करवट' के 'ट' ने अर्थ बदलने की कोशिश की है। प्राचीन प्रथा न जानने वाले काशी करवट को करवट लेकर कुंए में गिरना समझते हैं। किंतु जायसी ने स्पष्ट ही दूसरे अर्थ की सूचना दी है। करवट लेना भी तपस्या है। 'तपा' (तपस्वी) लेते हैं। सामान्य जन करवत नहीं ले सकते हैं। गो. तुलसीदास ने *विनय पत्रिका* में काशी 'करवट' का उल्लेख नहीं किया है।

विचारदास शास्त्री एवं हनुमानदास जी षड्शास्त्री ने *बीजक* की टीका की थी। महंथ गंगा शरण ने भी *बीजक* की टीका की है। उन्होंने *महाबीजक* का भी संपादन किया है। काष्ठ जिह्वा स्वामी ने *मानस* की टीका की। स्वामी जी बनारस राजगद्दी से संबद्ध थे। काशीराज के दरबार में तुलसीदास की रचनाओं का बड़ा सम्मान था। काशीराज की प्रेरणा से आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने *मानस* का पाठ तैयार किया। इस पाठ को तैयार करने में अत्यधिक श्रम एवं धन लगा है। यह पाठ संपादन कई वर्षों के अध्यवसाय का फल था। किंतु यह पाठ लोकप्रिय न हो सका। इसकी सरकारी प्रकाशनों सी उपेक्षा हुई। पं. नंददुलारे वाजपेयी ने नागरी प्रचारिणी सभा के *सूरसागर* का संपादन किया। शंभुनाथ चौबे ने *मानस* का संशोधित पाठ 'सभा' से प्रकाशित कराया। पं. विजयानंद त्रिपाठी की *मानस टीका* भी प्रसिद्ध हुई। पं. सीता राम चतुर्वेदी ने *तुलसी ग्रंथावली, सूरसागर* का संपादन एवं टीका तैयार की जो प्रकाशित हैं। डा. भोलाशंकर व्यास ने *प्राकृत पैंगलम* का संपादन सहित टीका की। *प्राकृत पैंगलम्* पर व्यास जी का संभवत: हिंदी में अकेला कार्य है।

संपादन एवं टीका का सबसे बड़ा आचार्य पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को कहना चाहिए। उन्होंने अनेक रीतिकालीन कवियों के संग्रहों का संपादन किया। रीतिकाल की स्वच्छंद धारा के कवि घनानंद की टीका की। उन्होंने बिहारी की भी टीका की। कहना चाहिए कि आचार्य केशव प्रसाद मिश्र जब तक काशी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष रहे तब तक टीका की प्रतिष्ठा रही। आचार्य केशव प्रसाद मिश्र के बाद वाराणसी से टीका की परम्परा समाप्त होने लगी। फिर भी अनेक टीकाएं उनके बाद की हैं। बाबू श्याम सुंदर द्वारा संपादित *कबीर ग्रंथावली* आज भी प्रतिष्ठित है। उनका *मानस* प्रतिष्ठा न प्राप्त कर सका।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी बने। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र सामान्य अध्यापक होकर भी टीका पाठ एवं भक्ति, रीति साहित्य के वटवृक्ष थे। द्विवेदी जी एवं उनके पार्श्ववर्तियों ने उक्त क्षेत्र से अपने को अलग रखा। गद्य का युग आ चुका था। गद्य तो स्वत: टीका है। नए साहित्य में पाठ भेद भी नहीं के बराबर होता है। इधर आलोचना भी दस्तक दे रही थी। टीका प्राय: योगात्मक भाषा में संभव है। अयोगात्मक भाषा में उसकी संभावना नहीं है। हिंदी अयोगात्मक भाषा है। फिर भी कविता में टीका की आवश्यकता होती है। *कामायनी, राम की शक्ति पूजा* आदि की टीका आवश्यक है। इतिवृत्तात्मक काव्यों की टीका नहीं होती। छायावादी कविताओं को टीका की आवश्यकता है। कविता का मुख्य संबंध हृदय से रहा है। अत: छायावाद की अनेक श्रेष्ठ रचनाओं की टीका कठिन है। डर अनुभवति न कहि सक सोऊ। छायावाद के बाद कविता में बौद्धिकता का प्रवेश हुआ किंतु टीका की दृष्टि से वे असंभव हो गईं। टीकाकार की प्रतिष्ठा को जानबूझ कर गिराया गया जबकि टीकाकार का क्षेत्र अत्यंत व्यापक होता था। *कामायनी* की पंक्ति है- एक पुरुष भीगे नयनों से। इसके एक पुरुष में वेदांत है। वेदांत में पुरुष एक है। एक ही बहु हुआ। एक पुरुष मनु, मनुष्य के आदि पुरुष हैं। मनु से मानव सृष्टि का विकास हुआ। कबीर इसी एक को जानना कहते हैं :

कबीर एक न जानिया बहु जाने क्या होइ।

यह एक तत्व भी है, जिसका नाम प्रधान है। एक तत्व की ही प्रधानता। कालिदास कहते हैं- वेदांतेषु यमाहुरेक पुरुषं (वेदांत में जिसे एक पुरुष कहा है) यह एक शिव है। कालिदास एवं प्रसाद दोनों ही शिवोपासक हैं। शिव स्थाणु हैं। मनु भी स्थाणु जैसे सक्रिय बैठे हैं।

डा. वर्थवाल ने गोरखबानी का अर्थ लिखा था। इधर कुछ दिन पूर्व डा. जयदेव सिंह एवं डा. वासुदेव सिंह ने मिलकर *कबीर ग्रंथावली* की टीका की है। उनका दावा पाठ शोधन का भी है। कबीर जैसे घुमक्कड़ एवं न लिखने की प्रतिज्ञा वाले कवि का ठीक पाठ संभव नहीं। जितने मुख, उतने पाठ। मैंने कबीर और तुलसीदास के ग्यारह ग्रंथों की टीका की है। *कामायनी* की टीका प्रेस में है।

कथावाचकों ने *रामायण* की पंक्तियों के न जाने कितने अर्थ निकाले हैं। निकालते चले जा रहे हैं। इनमें अधिकतर लोक रिझावन एवं अर्द्धशिक्षित कथावाचकों द्वारा होते हैं। दो एक कबीर साहब के भी कथावाचक हैं, जिन्हें कबीर की कविताओं से कोई मतलब नहीं है। वे काव्य की कथा न कहकर

उनकी जाति, जीवन तथा कुछ खास ढंग की पंक्तियों की ही कथा कहते हैं। संत को संत न कहकर उन्हें शहीद का तमगा देकर स्वयं पहन लेते हैं। टीकाओं के अभाव का एक कारण अध्यापक भी हैं। अध्यापक किसी न किसी प्रकार अर्थ बता देते हैं। फिर भी छात्रोपयोगी अनेक टीकाएं बाजार में हैं। छात्रोपयोगी टीकाकार का एक उदाहरण महादेवी वर्मा की पंक्ति है :

गुंथ दे रशना में अलि गुंजन से...बकुल फूल।

टीकाकार अध्यापक श और स के भेद को भूल गया। उसने 'रशना' का अर्थ जीभ किया। जीभ बकुल फूल गूंथने लगा। इस प्रकार की स्कूली टीकाओं ने भी श्रेष्ठ टीका परम्परा को क्षति पहुंचाई है। सबसे अधिक क्षति आलोचना द्वारा हुई है। अब आलोचनाएं भी समाप्ति की ओर हैं। आलोचना का स्थान नोट्स ने लिया। नोट्स को भी वस्तुनिष्ठ प्रश्न समाप्त कर रहे हैं। प्रश्नों में काव्य के अंतर्गत जाने की आवश्यकता नहीं है। आलोचना भी काव्य को बाहर से ही स्पर्श करती है। फिर भी उसका अंतर्संबंध कुछ न कुछ होता है। कविता की मूल सत्ता आंतरिक है अत: उसकी समझदारी भी अंतर से संभव है। आंतरिकता के अभाव के कारण ही कविता से अलंकारों ने विदा ली थी। अब पुन: कविता को बाह्य उपादानों से जोड़ा जा रहा है। संत कबीर हज़ारों संतों में एक महत्त्वपूर्ण संत थे। उनका अध्ययन संतों के बीच होगा। इस संदर्भ में उनकी जाति, जन्म, माता-पिता आदि पर पृष्ठ रंगना या इन्हें कबीर का अध्ययन समझना व्यर्थ है। आलोचकों की घेराबंदी ने भी बड़ा नुकसान किया। कबीर निर्गुणमार्गी हैं। अब संपूर्ण अध्ययन निर्गुण के भीतर होने लगा। रीतिकाल के कवि शृंगारी हैं तो उनमें और कुछ खोजना व्यर्थ है। आलोचना ने टीका छोड़ दी। टीका जो काव्य के अंतर को खोलती है। बिना अंतर को खोल रचना का अध्ययन संभव नहीं है।

विश्वविद्यालयी शोधों ने भी टीका छोड़ी, आलोचना का विकास किया। प्रत्येक शोधी आलोचक हो गया। धीरे-धीरे काव्य की आलोचना का स्थान कथा साहित्य की आलोचना ने ली। अब कथा साहित्य की आलोचना में पुनरुक्ति की भरमार है। शैली विज्ञान या रीति विज्ञान नामी एक नई पद्धति आई है। यह पद्धति टीका के आसपास जाती है। किंतु आलोचना के सुविधावाद तथा पुनरुक्तिवाद में आगे न बढ़ सकी। अध्ययन के लिए एकांत चाहिए। बाजार में खड़ा होकर गंभीर अध्ययन संभव नहीं है। किंतु आज संपूर्ण अध्ययन बाजार से जुड़ा है। आलोचना एवं नोटों ने पाठक को मूल ग्रंथ से अलग कर दिया। अब आलोचनाएं पाठक से अलग होकर प्रकाशन के लिए बंद हो रही हैं। टीका के साथ ही उसके दोनों भाई, कोश निर्माण एवं पाठ संपादन भी बाजार से गायब हो गए। साहित्य का अध्ययन ही संकट में है। अनेक प्रकाशक साहित्य के प्रकाशन से अलग हो गए हैं। टीकाएं पाठक के लिए थीं। अब पाठकों का नितांत अभाव है।

टीका में भाषा अध्येताओं का भी योग है। श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव ने अपने कबीर के अध्ययन में कबीर की भाषा पर अच्छा विचार किया है। शेदा की *कामायनी* पर लिखित पुस्तक टीका में योग देती है। विचारधारा भी टीका को आगे बढ़ाती है। विशेषकर पारिभाषिक शब्द विचारधारा के संदर्भ में ही समझे जा सकते हैं।

डा. किशोरी लाल गुप्त वाराणसी स्कूल के हैं। इनका अध्ययन क्षेत्र प्राचीन साहित्य है। इन्होंने पांच खंडों में *सूरसागर* का अनुवाद प्रकाशित कराया है। डा. वासुदेव शरण अग्रवाल मूलत: संस्कृत के थे। संस्कृत में उन्होंने अनेक कार्य किए हैं। लगअली भोजपुरी (बनारसी) के श्रेष्ठ कवि थे। श्री नारायण दास ने उनकी कविताओं की टीका की है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने *मानस* की टीका की थी। किंतु यह प्रकाशित न हो सकी। उन्होंने *सूरसागर* की टीका भी आरंभ की थी।

लाला भगवानदीन, रत्नाकर, आचार्य शुक्ल, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि तुलसी एवं रीति काव्य के अध्येता थे। वे कबीर, गोरख एवं रासो को साहित्येतर मानते थे। अत: उक्त टीकाकारों ने इनकी टीका नहीं की। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उक्त तीनों को अपना अध्ययन क्षेत्र बनाया। किंतु टीका से अलग रहना ही उचित समझा। टीका टीकाकार को अध्येता से गहरे जोड़ती है। आलोचना या समीक्षा से सर्व साधारण भी जुड़ता है। हज़ार पंक्ति में 25 पंक्ति पढ़कर भी समीक्षा संभव है। टीका में संपूर्ण का संपूर्ण अध्ययन, विश्लेषण आवश्यक है। टीका रचना की निराई जैसी है। समीक्षा नेतृत्व का भावात्मक या बौद्धिक विस्तार है। समीक्षक मतवादी हो सकता है। टीका में भी मतवाद की गुंजाइश है। उदाहरण के लिए गीता को लें। *गीता* की अनेक मतवादी टीकाएं हैं। मतवादी समीक्षा सुविधावादी होती है। मतवादी टीका में सुविधा का स्थान नहीं है। दीन जी ने अयोध्या काण्ड की टीका की थी। आगे-पीछे की टीका न कर सके परिवार में कुछ अशुभ घट गया। तब से अयोध्या काण्ड की प्रथम टीका को अशुभ मानते थे। यह कथा लाला जी के शिष्य पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कहते थे। *गीत गोविंद* ने अपने काव्यार्थ को दो प्रकारी कहा है। भक्ति भी मुक्ति भी। हरिस्मरण या कलिकथा, जिसमें रुचि हो। रीतिकालीन कविताओं का भी भक्ति और भोग मूलक टीका उचित है। रीति काव्य भक्ति काव्य का ही एक प्रकार है। जहां *गीत गोविंद* जैसी भोग मूलक भक्ति है। इसे भक्ति का भोग भी कहना चाहिए। टीकाकार को मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों के साथ संदर्भों का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिए। तुलसीदास कहते हैं *हठ बस सब संकट सहे गालब, नहुष नरेस*। अब गालब एवं नहुष की कथा का ज्ञान आवश्यक है। टीका पर युग का प्रभाव भी पड़ता है। कभी-कभी शब्दार्थ को छोड़ना पड़ता है। कबीर कहते हैं, *तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखिन की देखी।* इसमें 'कागद लेखी' का अर्थ है, दूसरों का विचार, अनुभव, अनुभूति। जो स्थूल है। नाशवान है। तभी तो कागज पर लिखा है। 'आंखिन देखी', हमारी आंतरिक अनुभूति है। गहरी साधना से प्राप्त अनुभूति है। इसे कहना, लिखना संभव नहीं है। यह दिव्य चक्षु से भी परात्पर चक्षु की अनुभूति है। यह आंख पूर्ण निषेध की आंख है। □

आजकल

वार्षिक ग्राहक बनें

वार्षिक	70 रुपये
दो वर्ष	135 रुपये
तीन वर्ष	190 रुपये

आजकल मंगाने के लिए कृपया बैंक ड्राफ्ट अथवा मनीआर्डर ***निदेशक, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली*** के नाम पर बनवायें तथा निम्नलिखित पते पर भेजें :

व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
पूर्वी ब्लॉक 4, लेबल 7, रामकृष्णपुरम नई दिल्ली-110066
फोन : 26105590

काशी की हिंदी पत्रकारिता

***काशी हिंदी पत्रकारिता की जन्मस्थली है / यहीं से हिंदी प्रदेश की प्रथम साप्ताहिक पत्रिका बनारस अखबार का प्रकाशन हुआ था / इसके बाद ही हिंदी प्रदेशों के अन्य नगरों से पत्र–पत्रिकाओं के प्रकाशन आरंभ हुए / बनारस अखबार का प्रकाशन 1845 ई. में काशी के दूध विनायक मुहल्ले से होता था / इसके सम्पादक गोविन्द रघुनाथ थत्ते थे / काशी के पत्रकारों और पत्र–पत्रिकाओं के बारे में* धीरेन्द्रनाथ सिंह**

भारत में हिंदी पत्रकारिता का उद्‌भव उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक में बंगाल के कोलकाता नगर में हुआ। वहां से हिंदी की प्रथम साप्ताहिक पत्रिका *उदन्त मार्तण्ड* 1826 ई. को प्रकाशित हुई थी। कानपुर निवासी पण्डित युगलकिशोर शुक्ल इस पत्रिका के सम्पादक थे। यह पत्रिका एक वर्ष तक कोलकाता से प्रकाशित होने के बाद बंद हो गई। उन्नीसवीं शती में हिंदी पत्रकारिता का दूसरा बड़ा केंद्र काशी था।

हिंदी प्रदेशों में काशी हिंदी पत्रकारिता की जन्मस्थली है। यहीं से हिंदी प्रदेश की प्रथम साप्ताहिक पत्रिका *बनारस अखबार* का प्रकाशन हुआ था। इसके बाद ही हिंदी प्रदेशों के अन्य नगरों से पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन आरंभ हुए। *बनारस अखबार* का प्रकाशन 1845 ई. में काशी के दूध विनायक मुहल्ले से होता था। इसके सम्पादक गोविंद रघुनाथ थत्ते थे, जो मराठी भाषी थे। उनका अपना मुद्रणालय *मतबा बनारस अखबार* था। यहां से उर्दू की पत्रिका *बनारस गजट* निकलती थी।

बनारस अखबार के बारे में सर्वप्रथम सूचना राधाकृष्ण दास ने दी थी। उन्होंने कहा था कि *बनारस अखबार* का प्रकाशन राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की सहायता से हुआ था। बाद में विद्वानों ने यह लिख दिया कि *बनारस अखबार* राजा शिवप्रसाद का था और क्योंकि वह उर्दू समर्थक थे इसलिए अखबार की भाषा उर्दू थी। कहने के लिए केवल देवनागरी लिपि का प्रयोग होता था। पर यह समस्त सूचनाएं सही नहीं हैं। पत्रिका का सिद्धान्त वाक्य था-

सुबनारस अखबार यह शिवप्रसाद आधार।
बुधि विवेक जन निपुन को चित हित बारंबार।।
गिरिजापति नगरी जहां गंग अमल जलधार।
नेत शुभाशुभ मुकुट को, लिखौं विचार-विचार।।

इस सिद्धान्त वाक्य (मोटो) में शिवप्रसाद आधार शब्द से राजा शिव प्रसाद का बोध हुआ होगा। सीधा-सा अर्थ है भगवान शिव की कृपा से इस *बनारस अखबार* का प्रकाशन हो रहा है। विवेकी जन इसका हृदय से चिंतन करेंगे। 'गिरजापति नगरी' यानि काशी में गंगा की पवित्र धारा प्रवाहित होती है। इस अखबार में अच्छी और बुरी दोनों तरह की सामग्री होगी, पर सभी लेख भलिभांति विचार कर लिखे जाएंगे। राजा साहब की आर्थिक स्थिति 1945 में अच्छी नहीं थी। उन्हें सामाजिक स्तर पर लोग जानते भी नहीं थे। उन्होंने आत्मकथा *समानेह उमरी* या अन्य कहीं भी इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। अतः इस अखबार से राजा साहब का कुछ लेना देना नहीं था। इसके स्वामी और सम्पादक गोविंद रघुनाथ थत्ते थे। इस अखबार की भाषा का जहां तक प्रश्न है, उस जमाने की समकालीन हिंदी, यानि उर्दू मिश्रित हिंदी का प्रयोग होता था। इस भाषा के प्रांजल रूप उदाहरण भी मिलते हैं। हां, इस अखबार की स्थापना में नेपाल की राजमाता ने आर्थिक सहायता की थी। प्रारंभिक दिनों में इस पत्रिका में धार्मिक साहित्य का धारावाहिक प्रकाशन हुआ करता था। इस नगर की समस्याओं के प्रति वह जागरूक थीं।

सही मायने में थत्ते जी इस अखबार के सम्पादक थे। लेखों के लिखने, सम्पादन आदि का अधिकांश काम वे स्वयं करते थे। अहिंदी भाषी होते हुए भी उन्होंने काशी में हिंदी पत्रकारिता की आधारशिला रखी।

''यह कहा जाता है कि बनारस अखबार की भाषा उर्दू प्रधान हिंदी थी। सच तो यह है कि खड़ी बोली हिंदी का साफ-सुथरा स्वरूप उस समय विकसित नहीं हो सका था, अतः हिंदुस्तानी ही उसकी भाषा थी। उस भाषा का एक नमूना इस प्रकार है-

''यह जो पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के एहतिकाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है, इसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है।''

बनारस अखबार की फाईलें मिलती नहीं, अतः उसके संबंध में विस्तार से कुछ नहीं कहा जा सकता। यह पत्रिका कितने दिनों तक प्रकाशित होती रही, इसके संबंध में भी कोई सूचना नहीं मिलती।

बनारस अखबार के बाद काशी से दूसरा अखबार *सुधाकर* का 1850 में प्रकाशन आरंभ हुआ। काशी के राजादरवाजा मुहल्ले में पण्डित रत्नेश्वर तिवारी का रिकार्डर प्रेस था जहां से अंग्रेजी भाषा में *द रिकार्डर* और हिंदी में *सुधाकर* प्रकाशित होता था। पण्डित रत्नेश्वर तिवारी इसके सम्पादक थे। *सुधाकर* अखबार इसलिए चर्चित हुआ कि प्रख्यात ज्योतिषाचार्य पंडित सुधाकर द्विवेदी के जन्म की सूचना जिस समय मिली, उसी समय *सुधाकर* पत्रिका आई। अतः नवजात शिशु का नाम सुधाकर रखा गया। वही सुधाकर द्विवेदी (महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी) के रूप में जगत प्रसिद्ध हुए।

यह साप्ताहिक पत्र था। इसके सम्पादक तारामोहन मित्र थे। पत्रिका बंगला और हिंदी में एकसाथ छपती थी। यह पत्रिका 1853 से हिंदी में छपने लगी। इस पत्रिका का भी कोई अंक देखने में नहीं आया।

काशी से 1853 और 1868 के मध्य अन्य पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन

की सूचना नहीं है, पर 1868 से हिंदी पत्रकारिता का एक स्वर्णिम विहान होता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जन्मजात साहित्यकार थे; उन्होंने अपने किशोरावस्था में पत्रकारिता का शुभारम्भ किया था। उन्होंने मात्र सत्रह वर्ष की अवस्था में *कविवचन सुधा* मासिक पत्रिका का शुभारंभ किया।

काशी से हिंदी पत्रकारिता का नया दौर 1867 ई. में शुरू होता है जिसे हम साहित्यिक पत्रकारिता का युग कहते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस नये युग का शुभारंभ मासिक *कविवचन सुधा* पत्रिका से आरंभ किया था। पत्रिका का उदय हिंदी कविता का विकास करना था। अत: तीन वर्षों तक ब्रजभाषा कविता को पत्रिका में प्रश्रय दिया गया। पत्रिका अनियमित हो गई। फलत: तीन वर्षों में 26 अंक निकालने के बाद इसका प्रथम वर्ष पूरा हुआ। दूसरे वर्ष से यह पत्रिका पाक्षिक हो गई। पर इसका लक्ष्य हिंदी गद्य का उत्थान करना था। इसके प्रथम वर्ष का सिद्धांत वाक्य था-

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

नित-नित नव यह कवि वचन सुधा सकल रस खानि।
पीअहु रसिक अनंद भरि परम लाभ जिय जानि।
सुधा सदा सुरपुर बसै सो नहीं तुम्हरे जोग।
तासो आदर देहु अरू पिअहु माहि बुध लोग।

दूसरे वर्ष से उपर्युक्त सिद्धान्त वाक्य के अतिरिक्त एक सिद्धान्त वाक्य और भी छपने लगा जो इस प्रकार है-

खल जनन सों सज्जन दुखी
मति होंहि, हरिपद मति रहै।
उपयर्श छुटै, स्वत्व निज भारत
गहै, सब दुख बहै।
बुध तजहिं मत्सरि, नारि-नर सम
होंहि, जग आनन्द लहै।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन
की अमृत वानी सब कहै।।

दूसरे अंक से यह पत्रिका पाक्षिक और चौथे अंक से साप्ताहिक हो गई। यह पत्रिका सन 1885 तक प्रकाशित होती रही। पर भारतेन्दु जी ने इसका सम्पादन मात्र छठे-सातवें वर्ष तक ही किया और उसके बाद इसे धड़फले जी के हाथ दे दिया।

भारतेन्दु सम्पादक या पत्रकार नहीं थे। वे मूलत: कवि और साहित्यकार थे। पत्रकारिता उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम था। उन्होंने इस पत्रिका के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना, सामाजिक और राजनीतिक चेतना जगायी। उन्होंने खड़ी बोली गद्य का समुन्नत रूप सामने रखा, हास्य-व्यंग्य को विकसित किया। यह पत्रिका 18 वर्षों तक प्रकाशित होती रही।

भारतेन्दु ने इस पत्रिका के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना जगायी और ब्रिटिश सरकार का विरोध किया। उन्होंने जनता से स्वदेशी उद्योग और स्वदेशी वस्त्र अपनाने का आह्वान किया, हिंदी को देश की भाषा बनाने पर जोर दिया। उन्होंने *लेवी प्राण लेवी* तथा *मर्सिया* प्रकाशित की। इसकी दो सौ प्रतियां सरकार खरीदती थी, वह बंद कर दिया गया। इस पत्रिका ने हिंदी पत्रकारिता को नया तेवर प्रदान किया था।

हरिश्चन्द्र मैगजीन

हरिश्चन्द्र मैगजीन मासिक पत्रिका थी। इसका पहला अंक 15 अक्टूबर 1873 ई. को प्रकाशित हुआ था। यह डिमाई चौपेजी आकार के चौबीस पृष्ठों में छपती थी। इसका प्रत्येक पृष्ठ दो कालम का होता था। दोनों कालमों में पाठ्य सामग्री छपती थी। यद्यपि यह हिंदी की साहित्यिक पत्रिका थी, तथापि इसमें हिंदी से संबद्ध विषयों पर अंग्रेजी में भी लेख छापे जाते थे, जो भारतीय सांस्कृतिक विचारों से ओत-प्रोत होते थे। इसका पहला अंक चौबीस पृष्ठों का और दूसरा, तीसरा, चौथा तथा पांचवां अंक क्रमश: पचास, बीस, सोलह और बयालीस पृष्ठों के थे। इसके अंतिम तीन अंक चौबीस पृष्ठ के निकले थे। मुखपृष्ठ पर विषय-सूची अंग्रेजी में छपती थी।

आधुनिक हिंदी के उन्नायक भारतेन्दु हरिश्चंद्र इस *मैगजीन* के सम्पादक और प्रकाशक थे। पत्रिका काशी के दशाश्वमेध घाट मुहल्ले के डाक्टर इ. जे. लाजरस के 'मेडिकल हाल प्रेस' में छापी जाती थी। डाक्टर लाजरस काशी के लब्धप्रतिष्ठ ईसाई नागरिक और भेलूपुर क्षेत्र के आनरेरी मजिस्ट्रेट थे। पत्रिका का वार्षिक मूल्य छह रुपया था। यह हर अंग्रेजी मास की 15 तारीख को प्रकाशित होती थी। इसका मुद्रण आकर्षक हुआ करता था।

हरिश्चंद्र मैगजीन के कुल आठ अंक (15 मई 1874 तक) प्रकाशित हुए। जून 1874 ई. से इसका नाम बदलकर *हरिश्चंद्र चन्द्रिका* रखा गया। *चन्द्रिका* का आकार *मैगजीन* से छोटा कर दिया गया। किंतु प्रकाशन-क्रम *मैगजीन* से संबद्ध रखा गया। भारतेन्दु सम्पादित *चन्द्रिका* अपनी शीतल स्निग्ध किरणों से 1880 तक हिंदी जगत को रसाप्यायित करती रही।

भारतेन्दु ने पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या के आग्रह पर यह पत्रिका सम्पादन-प्रकाशन के लिए 1880 में उनको सौंप दी। भारतेन्दु के सम्पादन-काल में *चन्द्रिका* में जो लालित्य था, वह पण्ड्याजी के सम्पादन-काल में नहीं रह गया। इस तरह *चन्द्रिका* ने आठ वर्षों तक हिंदी भाषा और साहित्य की सेवा की। यद्यपि *हरिश्चंद्र मैगजीन* और *हरिश्चंद्र चन्द्रिका* नाम भेद से दो होकर भी एक ही पत्रिका थी, तथापि नाम भेद और आकार, वैभिन्य से दोनों पर अलग-अलग विचार करना अनुचित नहीं होगा। *मैगजीन* के कुल आठ अंक प्रकाशित हुए, जिनमें हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य के विकास की प्रौढ़ता तथा साहित्यिक पत्रकारिता के विकास की झलक दिखाई पड़ती है।

मैगजीन के लेखक

हरिश्चंद्र मैगजीन के सभी लेखक भारतेन्दु के समकालीन साहित्यकार थे। उनमें अधिकतर ऐसे साहित्य सेवी थे जिनका हिंदी साहित्य के संवर्धन में उल्लेखनीय योगदान रहा है। लेखकों में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बाबा सुमेरसिंह 'साहबजादे', कृष्णदेव शरण सिंह गोप, तोताराम, काशीनाथ खत्री, लाला श्रीनिवास दास, काष्ठजिह्वा स्वामी, गदाधर सिंह, मोहनलाल विष्णुलाल पड्या दामोदरशास्त्री, बिहारी लाल चौबे, नाथ कवि, शाह कुन्दनलाल, मुंशी जवाला

प्रसाद, गिरधरदास, शालिग्रामदास, पी. जी. बापू शास्त्री, लोकनाथ चौबे, श्रीशरण प्रभृति नाम उल्लेखनीय हैं।

इस पत्रिका के प्रथम अंक के प्रथम पृष्ठ पर भारतेन्दु हरिश्चंद्र संकलित और सम्पादित हठी कवि के 'राधा सुधा शतक' का धारावाहिक प्रकाशन प्रारंभ हुआ था। इसी अंक से भारतेन्दु का 'धनंजय विजय' नाटक, 'खत्रियों की उत्पत्ति' शीर्षक निबंध और गदाधर सिंह द्वारा बंगला से हिंदी में अनूदित *कादम्बरी* उपन्यास का धारावाहिक प्रकाशन शुरू हुआ था। इस पत्रिका में प्रकाशित उल्लेखनीय रचनाओं में लाला श्रीनिवासदास का 'तप्तासंवरण' नाटक, श्रीशरण का 'बाल विवाह प्रहसन', तोताराम का 'कार्तिकेत' नाटक और मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या का 'प्रह्लाद' नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अलावा इस पत्रिका में साहित्य की विभिन्न विधाओं पर पाठ्य सामग्री प्रस्तुत की गई थी, लेकिन पत्रिका का प्राण भारतेन्दु के निबंधगत विचार थे। अधिकतर रचनाएं भारतेन्दु हरिश्चंद्र की थीं। आठ अंकों में 113 रचनाएं प्रकाशित हुईं। यह पत्रिका अब अलभ्य है।

भारतेन्दु की पत्रकारिता

पत्रकारिता साहित्य और समाज के विचारों की अभिव्यक्ति व संवाहिका होती है। भारतेन्दु में साहित्यिक और सामाजिक विचार प्रबल रूप में थे। उन्होंने *कवि वचन सुधा* का सम्पादन और प्रकाशन कर पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया था। इसलिए वह उनके पत्रकार जीवन का प्रारंभिक काल था। परिणामतः सूक्ष्म दृष्टि से *सुधा* का सम्पादन नहीं हो सका, किंतु *मैगजीन* के सम्पादन तक उनकी दृष्टि स्पष्ट और व्यापक हो गई थी और अनुभव की गहराई भी आ चुकी थी। इसलिए *मैगजीन* में साहित्य और समाज को व साथ-साथ लेकर चलते दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने समाज के हित चिन्तन की दृष्टि से इस पत्रिका में साहित्यिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक और धार्मिक विषयों पर लेख तथा समालोचनाएं, नाटक, इतिहास, उपन्यास, काव्य संग्रह, गल्प और हास्य-व्यंग्य प्रकाशित किए। हिंदी की यह पहली पत्रिका थी जो इतनी विविधता के साथ प्रकाशित हुई। इसके पूर्व हिंदी पत्रिका के किसी सम्पादक ने ऐसा प्रयास नहीं किया था।

कहा जाता है कि यत्कालिक पत्रिका और समाचारपत्र को विचारवाहक होना चाहिए, न कि समाचार प्रधान। पत्रकारिता का यही मूल स्वर है। इसीलिए पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादकीय लेख का, जिसे हिंदी में अब 'अग्रलेख' और अंग्रेजी में 'एडीटोरियल' कहते हैं, विधान है। इस माध्यम से लोकमत मुखरित होता है। *हरिश्चंद्र मैगजीन* पत्रकारिता के मूल स्वर (विचार की प्रधानता) को अभिव्यक्त करने वाली पत्रिका थी। इसके किसी भी अंक में 'सम्पादकीय' नहीं लिखा गया, परंतु इसका प्रत्येक लेख विचार प्रधान रहा है, जो समकालीन युग-सत्य के संदर्भ में लिखा गया था। साहित्य, समाज और देश का हित चिन्तन इसका प्रधान लक्ष्य था। लोकमत प्रकट करने के लिए सम्पादक के नाम पत्र प्रकाशित किया जाता था जिसके अंतर्गत बाबा सुमेरसिंह साहबजादे, काशीनाथ खत्री और अनेक व्यक्तियों के विचारोत्तजक लेख छपे थे।

पत्रकार निर्भीक और राष्ट्रीय चेतना से प्रौढ़ हो, तभी वह देश और समाज दोनों का मंगल कर सकता है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र में दोनों बातें थीं। उनके निबंधों में राष्ट्रीय चेतना समग्र रूप में परिलक्षित है। उन्होंने अपनी *मैगजीन* के प्रथम अंक में 'यूरोप के प्रति भारतवासियों का पत्र' शीर्षक निबंध में प्रश्नोत्तर शैली में जो विचार प्रकट किए हैं, वह उनकी राष्ट्रीय चेतना और निर्भीक पत्रकारिता का सबल प्रमाण है। उन्होंने अंग्रेजों से पूछा था-

'आप इंग्लैंड के हो वा हमारे' उत्तर में लिखा- 'यदि इंग्लैंड के हैं, तो क्यों अपना घर-बार, साथी-संगती, अरोसी-परोसी और अपने यहां के सुख-आनन्द छोड़कर यहां आ बसे? यदि आप हमारे हैं, तो क्यों हमारे देश को इतना पीड़ित कर रहे हैं? क्यों हम लोगों के निमित्त अनिष्ट प्रयत्न करते और हम लोगों से क्यों इतनी घृणा रखे रहते हैं? आप किसी में हैं, या नहीं? यदि आप संसार में हैं तो उसका सब प्रकार बुरा क्यों चाहते हैं? यदि आप हिंदुओं में हैं, तो वेद क्यों खेद देते हैं? यदि आप प्रजा में हैं तो उसे अजा-सी क्यों बलि देते हैं?'

वे व्यंग्य बाणों की धाराप्रवाह वर्षा करने लगते हैं। वे इसी प्रसंग में कहते हैं "... इसलिए आप किसी में नहीं हैं... आपकी स्तुति करें या निन्दा? आपको साधु कहें या गुरु?" यह अंग्रेजी शासन पर बहुत बड़ा प्रहार था।

भारतेन्दु में भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी आस्था थी। वे भारतीय संस्कृति की बुराइयों का परित्याग करने के लिए समाज को उद्बोधित करते थे और अपनी संस्कृति का परित्याग अनुचित मानते थे। उन्होंने इस पत्रिका में अंग्रेजी में ('मैगजीन' में अंग्रेजी में भी लेख छापे जाते थे) छद्म नाम से वाइ. एम. डी. सी से 'रिलीजन्स' शीर्षक लेख लिखा था। उन्होंने उस समय के पाश्चात्य शिक्षा सम्पन्न युवकों पर, जो धर्म को अन्धविश्वास मानते थे, व्यंग्य करते हुए लिखा था--

"हमें यह देखकर खेद होता है कि हिंदू समाज में हिंदू धर्म का पतन हो रहा है। ब्राह्मणों ने औरंगजेब का स्थान ग्रहण कर लिया है। हिंदू धर्म अन्य सभी धर्मों से श्रेष्ठ है। इस जगती पर इस धर्म की समता रखने वाला कोई दूसरा धर्म नहीं है, परंतु हमारे प्रबुद्ध मित्र इसे अन्धविश्वास की संज्ञा देते हैं।"

कहा जाता है, प्रबुद्ध पत्रकार का सबसे बड़ा गुण उसकी प्रगतिशील दृष्टि होती है। प्रगतिशील दृष्टि से साहित्य, समाज और देश का विकास होता है। भारतेन्दु की दृष्टि भी प्रगतिशील थी। उन्होंने अपनी पत्रिका के माध्यम से भारतीय समाज को प्रगतिशील दृष्टि प्रदान करने का प्रयत्न किया था। इसमें प्रकाशित लेख भारतीय चेतना से ओत-प्रोत होते थे। इस पत्रिका के आठ अंक निकलने के बाद जून 1874 से इसका नामकरण *हरिश्चंद्र चन्द्रिका* कर दिया गया। *चन्द्रिका* का आकार छोटा था।

भारतेन्दु ने इस पत्रिका का भी लगभग सात वर्षों तक सम्पादन किया और 1980 में यह पत्रिका अपने मित्र मोहनलाल, विष्णुलाल पण्ड्या को दे दी। पण्ड्या ने 1880 से इसका प्रकाशन जयपुर से किया। बाद में भारतेन्दु उनसे यह पत्रिका लेकर स्वयं सम्पादन करने लगे किंतु दो ही अंक निकाल पाये थे कि भारतेन्दु का निधन हो गया।

हरिश्चंद्र मैगजीन विचार प्रधान पत्रिका थी जिसने समकालीन युगसत्य को उजागर करने का प्रयास किया था। साहित्य और समाजकारिता चिंतन इसका प्रधान लक्ष्य था। 'लोकमत' प्रकट करने के लिए सम्पादक के नाम पत्र प्रकाशित किए जाते थे जिसके अन्तर्गत बाबा सुमेर सिंह 'साअबजादे', काशीनाथ खत्री तथा अनेक व्यक्तियों के विचारोत्तेजत पत्र छपे थे। पत्रकार निर्भीत और राष्ट्रीय चेतना से प्रौढ़ हो, तभी वह देश और समाज, दोनों का मंगल कर सकता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र में दोनों बातें थीं। उनके निबन्धों में राष्ट्रीय चेतना परिव्याप्त है। यूरोपियों के प्रति भारतवासियों के पत्र में उनकी राष्ट्रीय चेतना उमड़कर आई।

हरिश्चंद्र मैगजीन के माध्यम से भारतेन्दु ने 1873 में 'हिंदी नई चाल में ढली' की उद्घोषणा की थी। वस्तुतः खड़ी बोली हिंदी गद्य ही 'नई चाल' की हिंदी थी। इस नई चाल की संवाहिका *हरिश्चंद्र मैगजीन* थी। *हरिश्चंद्र मैगजीन* या *हरिश्चंद्र चन्द्रिका* के माध्यम से हिंदी की विभिन्न विधाओं का विकास हुआ पर विशेष रूप से हिंदी निबंध का विकास हुआ।

हरिश्चंद्र मैगजीन या *चन्द्रिका* ने राष्ट्रीय चेतना, निर्भीक प्रगतिशील विचार और सांस्कृतिक उन्मेष के लिए हिंदी की आदर्श पत्रकारिता का मानदंड स्थापित किया।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने जहां एक ओर देश को परतन्त्रता की बेड़ी से मुक्ति दिलाने, जनचेतना जागृत करने, स्वदेशी वस्त्रों के उत्पादन, देश में उद्योग धन्धे लगाये जाने, हिंदी भाषा के विकास तथा उसके उत्थान के लिए पत्रकारिता के माध्यम से कार्य किया, वहीं वे समाज में नारी की दयनीय स्थिति देख दुखी थे। इसलिए उन्हों ने नारी समाज के उत्थान के लिए स्वतंत्र रूप से प्रयास किया। नारी को समाज की प्रबल शक्ति के रूप में देखा। अत: नारी को शिक्षित करने, उसे पराधीनता से मुक्ति दिलाने तथा समय के साथ उसे चलने के लिए जनवरी 1874 में नारी पत्रिका *बालाबोधिनी* का प्रकाशन आरंभ किया।

बालाबोधिनी नारी जगत की पहली मासिक पत्रिका थी। इस पत्रिका का वार्षिक मूल्य दो रुपया था, यह प्रथम वर्ष 8×5" आकार में तथा शेष तीन वर्ष 9×6" आकार में छपती रही। यह 12 पृष्ठों की पत्रिका थी। इसका सिद्धांत वाक्य था–

जो हरि सोई राधिका जो शिव सोई शक्ति
जो नारी सोई पुरुष या में कछु न विभक्ति
सीता, अनुसूया, सती, अरुंधती, अनुहारि
शीललाज विषादिगुण लहौं सकल जगनारि,
पितु पति सुत करतल ललित ललना लोग
पढ़ै,गुनै, सीखैं, सुनै, नासै भवजग सोग
वीर प्रसविनी बुधबधु होई हीनता खोय
नारी नर अरधंग की सांचहि स्वामिनी होय।।

इस पत्रिका के प्रथम अंक के निवेदन (सम्पादकीय में) भारतेन्दु ने अपनी पत्रिकाद्वय *कविवचन सुधा* तथा *हरिश्चंद्र चन्द्रिका* को संबोधित किया था:

"मेरी प्यारी बहनों। मैं एक तुम्हारी नयी बहन *बालाबोधिनी* आज तुम लोगों से मिलने आई हूं।... तुम भी इस अपनी छोटी सखी की तोतली बातों पर जो दोगी तो मैं उस सबसे बढ़कर परमेश्वर से नित्य यहां मनाऊंगी कि मेरे हिंदुस्तान की सारी स्त्रियां पढ़-लिखकर पुरुषों की सहभागिनी हो जाएं।"

वस्तुत: इस पत्रिका का उद्देश्य भारतीय नारी समाज को सुशिक्षित कर आदर्श नारी और पुरुषों की उत्तम सहभागिनी बनाना था। इसमें जो भी लेख छपे उन सभी में शिक्षापूर्ण तथा आदर्श नारी बनने का संदेश था। शीलवती, सुलोचना की कथा, सती चरित्र, सीता अनुसूया मिलन, कुलबंधुओं की चेतावनी, पतिव्रत, शिशु पालन आदि विषयों पर लेख छपे। इस पत्रिका का उद्देश्य भारतीय नारी को सुसंस्कृत और आधुनिक समय के साथ चलने में प्रशिक्षित करना था। भारतीय नारी का क्या स्वरूप है, इसकी चर्चा करते हुए एक लेख में कहा था कि–

स्त्री जाति में लाज की ही शोभा है। जिसको लज्जा नहीं वह कुल की स्त्री नहीं, पराये लोगों को देखकर घूंघट करना, लाज करना, औरों से न बोलना, आंखें नीची किए रहना और अंग सिकोड़े रहना यही इनकी शोभा है, तो इस बात पर यह दोहा देखो कैसे पढ़ने में भला और सच्चा उपदेश जान पड़ता है।

नैना वही सराहिये जिन नैनन में लाज,
बड़े भये और विष भरे आवैं कौने राज।

इस पत्रिका में केवल नारी उपयोगी लेख छपते थे। वैसे इनमें भारतेन्दु जी का *मुद्राराक्षस* नाटक का भी धारावाहिक प्रकाशन हुआ था। इस पत्रिका के लेखकों में भारतेन्दु हरिश्चंद्र के अतिरिक्त एश्वर्यनारायण सिंह, दामोदर शास्त्री, बिहारीलाल चौबे, गिरधरदास, सरयू प्रसाद तथा हीरालाल थे। यह पत्रिका चार वर्षों तक निकली और दिसंबर 1877 के बाद उसका प्रकाशन बंद हो गया। फरवरी 1877 के बाद इसका कोई भी अंक नहीं मिलता।

'नयी चाल की हिंदी भाषा' के प्रसार तथा भारतीय नारी को कुण्ठा और संत्रास से हटाकर आदर्श भारतीय नारी बनाने में इस पत्रिका का प्रयत्न सराहनीय है।

काशी पत्रिका

काशी पत्रिका काशी से 1875 में प्रकाशित हुई थी। काशी के रईस तथा शिक्षक बाबू बालेश्वर प्रसाद इस पत्रिका को सम्पादित-प्रकाशित करते थे। यह क्राऊन साइज में निकलती थी। यह विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका थी। काशी में पारसी रंगमंच पर शकुंतला नाटक में शकुंतला का घटिया अभिनय करने पर इस पत्रिका ने नाटक की कड़ी समीक्षा की थी। इस नाटक के दर्शकों में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, थीबो साहब और प्रभादास मित्र थे। बाबू बालेश्वर प्रसाद जी जब डिप्टी कलक्टर नियुक्त हो गए तो इसके सम्पादन का भार लक्ष्मीशंकर मिश्र को दे दिया। उन्होंने इसे बालकोपयोगी पत्रिका बना दी। इसकी प्रतियां स्कूलों में खरीदी जाती थी। इस पत्रिका के प्रत्येक पृष्ठ पर दो कालम होते थे जिसमें एक में हिंदी भाषा देवनागरी लिपि में तथा दूसरे कालम में उर्दू में लेख छपा करते थे। इस पत्रिका में भारतेन्दु जी के *सत्य हरिश्चंद्र* और *कर्पूर मंजरी* नाटक छपे थे। इस पत्रिका का प्रकाशन 1896 में बंद हो गया।

उन्नीसवीं-सदी के आठवें दशक में साप्ताहिक समाचार-पत्रों की धूम मची थी। काशी से 1884 ई. में *काशी समाचार, मित्र* और *तिमिर नाशक* नामक तीन पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं। *काशी समाचार-पत्र* के सम्पादक बिहारी सिंह, *मित्र* के सम्पादक दामोदर बी. सप्रे तथा *तिमिर नाशक* के सम्पादक कृष्णराय थे। पर ये पत्र बहुत दिनों तक प्रकाशित नहीं हो सके। यहीं से 1888 में ठाकुर प्रसाद खत्री ने *व्यापारी* और *कारीगर* नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। केशव शास्त्री ने विदेश यात्रा के विरुद्ध आंदोलन के लिए *नवजीवन* साप्ताहिक पत्रिका निकाली थी।

कालिदास

काशी की पत्रकारिता का यह वैशिष्टय रहा है कि पत्र-पत्रिकाएं जनमत को उजागर करने में मुखर थीं और उन्हें सरकार का विरोध करने में जरा भी संकोच नहीं था। इस विरोध की या अखबार के तेवर की परम्परा भारतेन्दु हरिश्चंद्र की *कविवचन सुधा* से लेकर *आज* तक दिखाई पड़ती है। *कविवचन सुधा* पत्रिका के बाद सन् 1900 में *कालिदास* नामक पत्र प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक श्रीकृष्णजी आवाजी गुरुजी नाम के व्यक्ति थे। वे लोकमान्य तिलक के अनुयायी थे। इस अखबार के प्रकाशन में विजयनगरम कोठी के दीवान हरिपंत करमरकर के पुत्र माधवराव करमरकर ने मदद की थी। इस पत्र के एक अंक में 'काले और गोर' शीर्षक से एक लेख निकला जिसे सरकार ने राजद्रोहात्मक समझा। इस पर सरकार ने मुकदमा चलाया। उनका मुकदमा लड़ने के लिए लोकमान्य तिलक ने अपने मित्र वकील दादासाहब करविन्दकर को काशी भेजा। करविन्दकर ने किसी तरह छह हजार रुपया जमा कराया और श्रीकृष्णजी को जेल से छुड़ाया।

पंडित हेरम्ब मिश्र के सम्पादकत्व में साप्ताहिक पत्रिका *सूर्य* के प्रकाशन की सूचना मिलती है। उन्होंने *हिंदी केशरी* पत्रिका का भी सम्पादन किया था। *सरस्वती* काशी से सन् 1900 में मासिक *सरस्वती* का प्रकाशन ऐतिहासिक घटना है। इंडियन प्रेस ने काशी नागरिक प्रचारिणी सभा से *सरस्वती* पत्रिका का सम्पादन का कार्य करने का आग्रह किया था। इस आग्रह को

श्यामसुन्दर दास ने स्वीकार किया। इसके लिए पांच सदस्यों की समिति बनायी गई और उसके प्रभारी श्यामसुन्दर दास थे। इस पत्रिका का संपादन सम्पादक मंडल के हाथों शुरू हुआ और जनवरी 1900 से इसका प्रकाशन आरंभ हो गया। जनवरी 1903 में इसके सम्पादन का भार पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी को दे दिया गया। अक्तूबर 1904 में 'किताबों की खोज' शीर्षक लेख छप जाने से द्विवेदी और श्यामसुंदर दास में मतभेद हो गया। फलत: श्यामसुंदर दास ने सभा का समर्थन वापस ले लिया।

सरस्वती

सरस्वती विविध विषयों की साहित्यिक पत्रिका थी। इसने हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता को नया आयाम दिया। द्विवेदी जी ने 1916 तक इस पत्रिका का सम्पादन कर अवकाश ग्रहण किया। इस पत्रिका से हिंदी पत्रकारिता को बहुआयामी दिशा प्राप्त हुई। यह पत्रिका लगभग 82 वर्षों तक प्रकाशित होती रही।

इन्दु

हिंदी में छायावादी कविता का शुभारंभ जयशंकर प्रसाद से माना जाता है। काशी में 1909 में *इन्दु* नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन छायावादी कविता के विकास का प्रमुख माध्यम था। अम्बिका प्रसाद गुप्त इसके संपादक थे। *सरस्वती* के प्रकाशन के बाद हिंदी के साहित्यकार द्विवेदी जी के आचार्यत्व से खिन्न थे। फलत: वे उनके शब्दानुशासन से अलग हटकर कुछ लिखना चाहते थे। इसके लिए *इन्दु* सर्वोत्तम माध्यम मिला। *इन्दु* का सिद्धांत वाक्य था।

सज्जन चित्त कारन को,
हुलसावन भावन पूरो अभिन्दु है।
मोहन काव्य के प्रेमिन के हित
सांच सुधारस को बलि बिंदु है।।
ज्ञान प्रकाश प्रसारि हिय बिच
ऐसो जो मूरखता की तमबिंदु है।
काव्य महादधि ते प्रकट्यो।
रस रीति कलायुत पूरण 'इन्दु' है।

यह पत्रिका 1909 से 1915 तक नियमित प्रकाशित होती रही। बीच में यह पत्रिका बंद हो गई थी पर बाद में 1926 में पुन: प्रकाशित होने लगी और कुछ दिनों बाद फिर इसका प्रकाशन बंद हो गया।

जागरण (पाक्षिक)

काशी से प्रकाशित साहित्यिक पत्रों में *जागरण पाक्षिक* का अपना स्थान है। हिंदी पत्रकारिता को आगे बढ़ाने में *पाक्षिक जागरण* की भूमिका महत्वपूर्ण है। बाबू शिवपूजन सहाय के सम्पादकत्व में 11 फरवरी 1932 को पाक्षिक पत्रिका *जागरण* का प्रकाशन आरंभ हुआ था। यह क्राउन चौपजी के आकार में चौबीस पृष्ठों की पत्रिका थी। इसके प्रकाशक थे प्रख्यात साहित्यकार विनोद शंकर व्यास के छोटे भाई प्रमोद शंकर व्यास। यह पत्रिका छह मास तक चली इसके कुल बारह अंक निकले। छह महीने बाद यह पत्रिका प्रेमचन्द ने ले ली और उन्होंने इसका साप्ताहिक प्रकाशन किया।

जागरण के प्रथम सम्पादकीय में कहा गया था कि "*जागरण* को शुद्ध साहित्यिक पत्र बनाने की इच्छा है। अभी हमारी दृष्टि में ही बहुत सारी त्रुटियां हैं। पर विश्वास है कि ईश्वर की दया से निकट भविष्य में ही वे दूर हो जाएंगी। मन में जो कुछ है सब उसी भक्त कल्प के चरणों में अर्पित है।"

इस पत्रिका के लेखकों में हिंदी के बड़े स्वनामधन्य साहित्यकार रहे

आचार्य शिवपूजन सहाय

हैं जिनमें जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद, निराला, सुमित्रानंदन पंत, सुभद्रा कुमारी चौहान, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, नन्ददुलारे बाजपेयी, विनोद शंकर व्यास, प्रोफेसर मनोरंजन, लक्ष्मीकांत झा, जनार्दन झा 'द्विज', कृष्णदेव प्रसाद गौड़, राहुल सांकृत्यायन, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि थे। इस पत्रिका में कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, आलोचना, जीवनी आदि प्रकाशित हुई थी। पत्रिका के पहले ही अंक में प्रसाद की कविता 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे', *तितली* उपन्यास, 'अरे वरुणा की शांत कछार', 'प्रबोधिनी गद्यकाव्य', 'अनबोला' और 'देवरथ' कहानियां छपीं। इसमें रंगमंचीय नाटकों की समीक्षा भी छापी जाती थी। इसके साथ ही हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण कविताएं और लेख भी छपे थे। पाठकों को हिंदी और अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री की भी सूचना दी जाती थी। हिंदी में अन्य पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित विशेषांकों की समीक्षा के साथ पाठकों का ज्ञानवर्धन किया जाता था। पाक्षिक *जागरण* अल्पायु होने के बावजूद हिंदी पत्रकारिता की महत्वपूर्ण कड़ी है।

जागरण (साप्ताहिक)

आचार्य शिवपूजन सहाय ने *जागरण* के बारह अंक निकाले। अपने समय का यह अत्यंत श्रेष्ठ साहित्यिक पत्र था पर आर्थिक कारणों से इसे बंद कर देना पड़ा। फिर इस पत्रिका का सम्पादन-प्रकाशन का भार प्रेमचंद ने ले लिया।

प्रेमचंद जी ने 13 अगस्त 1933 को काशी से साप्ताहिक *जागरण* का प्रकाशन किया। उन्होंने उसे बड़े अच्छे ढंग से निकाला। यह पत्र लोकप्रिय हुआ पर उसे आर्थिक कठिनाइयों का भी समाना करना पड़ता था। पहले यह साहित्यिक पत्र था पर प्रेमचंद जी ने इसे राजनीति प्रधान बनाया। इसके प्रमुख लेखकों में नरेन्द्र देव और सम्पूर्णानन्द भी थे। सम्पूर्णानन्द जी 1934 में इसके सम्पादक हो गए। बाद में यह पत्र बंद हो गया।

हंस

प्रेमचंद कथाकार थे। उन्होंने *हंस* नामक कहानी पत्रिका का मार्च 1930 में काशी से प्रकाशन प्रारंभ किया। कहानियों के अतिरिक्त अन्य विधाओं पर भी इसमें लेख होते थे। प्रेमचंद ने अपने अथक परिश्रम से एक साल में इसे हिंदी का प्रतिष्ठित कहानी मासिक बनाया पर आर्थिक दृष्टि से वह कहीं कमजोर पड़ रहे थे। अत: प्रख्यात कथाकार के. एम. मुंशी ने इसका प्रकाशन बंबई से करने का आग्रह किया। सन् 1935 में इसका प्रकाशन वहां से होने लगा। दोनों सम्पादकों का नाम एक साथ छपता था। प्रेमचंद अपने नाम के आगे मुंशी नहीं लिखते थे पर के. एम. मुंशी के 'मुंशी' को भ्रमवश लोगों ने मुंशी प्रेमचंद समझ लिया और यही लिखने लगे।

प्रेमचंद जी की अध्यक्षता में 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ का सम्मेलन हुआ। इसका प्रभाव *हंस* पर भी पड़ा। उसके विचारों में भी परिवर्तन आया। पर इसके बाद प्रेमचंद जी का निधन हो गया और सम्पादन का भार शिवदान सिंह चौहान पर आया। उनके सम्पादन काल में यह पत्रिका प्रगतिशील लेखक संघ का प्रमुख पत्र बन गई।

शिवदान सिंह चौहान के बाद कुछ दिनों तक *हंस* श्रीपति राय तथा उनके बाद अमृत राय के हाथ में आया। *हंस* का 1947 तक सम्पादन होता रहा और उसके बाद उसका प्रकाशन बंद हो गया। *हंस* ने न केवल कथा साहित्य बल्कि अन्य विधाओं पर भी उच्चकोटि के लेखों को प्रकाशित कर साहित्य भंडार को परिपुष्ट किया। इसके अतिरिक्त 'आत्मकथा' अंक, 'भारतेन्दु' अंक तथा 'प्रेमचंद स्मृति' अंक प्रकाशित कर हिंदी को समृद्धि तक पहुंचाया। सरकारी उत्पीड़न, आर्थिक संकट और अन्य प्रकार के विरोधों को सहन करते हुए *हंस* ने हिंदी की सेवा की। अब नये कलेवर में राजेंद्र यादव दिल्ली से *हंस* का सम्पादन कर रहे हैं।

छायापथ

काशी से अनेक उत्कृष्ट पत्र निकले किंतु *छायापथ* जैसी पत्रिका बेमिसाल थी। हिंदी कविता में छायावाद का उदय हो चुका था किंतु विरोध यहां भी आरंभ हो गया था। छायावाद के समर्थकों में प्रसाद, पन्त, निराला, बेढब बनारसी और शान्तिप्रिय द्विवेदी थे जबकि विरोध में ज्वालाराम नागर विलक्षण, रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध जी आदि थे। *छायापथ* 1937 से छायावाद के विरोध में विलक्षण जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित होने लगा। विलक्षण जी संस्कृत हिंदी के विलक्षण विद्वान थे। उन्होंने जमकर छायावाद का विरोध किया। इसके संभवत: आठ अंक निकले थे। इस पत्रिका को अपने व्यंग्य-चित्रों से केदार शर्मा ने तेवर प्रदान किया।

कमला (मासिक)

कमला महिला उपयोगी मासिक पत्र था। इसका प्रकाशन मार्च 1938 में आरंभ हुआ था। इस पत्रिका का उद्देश्य महिला जागरण, परिवार नियोजन और नारी आंदोलन को बढ़ावा देना था। पण्डित बाबू राव विष्णु पराड़कर इसके सम्पादक थे। *कमला* का सिद्धान्त वाक्य डाक्टर गंगानाथ झा ने लिखा था जो इस प्रकार था-

कमला विमला भूयादार्य संस्कार संस्कृता।
सफला सत्कुलीनानां धर्मकल्याण लक्षणे।।

इसका प्रकाशन भार्गव पुस्तकालय, गायघाट से होता था। पंडित शांतिप्रिय द्विवेदी इसके सहायक सम्पादक थे। पराड़कर जी ने इसे सर्वश्रेष्ठ महिला पत्रिका बनाया। इसके लेखकों में महादेवी वर्मा, श्रीमती शिवरानी देवी, हरिऔध जी, माखनलाल चतुर्वेदी, जैनेन्द्र कुमार, बनारसीदास चतुर्वेदी, आदि थे।

इस पत्रिका के माध्यम से पराड़कर जी ने जनविरोध आन्दोलन का शुभारंभ किया था। इस आंदोलन में महिलाओं ने भी साथ दिया। यह पत्रिका एक वर्ष तक चली। फिर पराड़कर जी *संसार* के सम्पादक होकर चले गए। और यह पत्रिका बन्द हो गई।

दैनिक अखबारों की परम्परा

भारतजीवन

काशी में हिंदी दैनिक अखबारों की परम्परा का शुभारंभ दैनिक *भारतजीवन* से आरंभ होता है। इसका प्रकाशन 3 मार्च 1884 से आरंभ हुआ। बाबू रामकृष्ण वर्मा इसके सम्पादक थे। यह साप्ताहिक पत्र था। इसमें समाचारों के अतिरिक्त साहित्यक रचनाएं भी प्रकाशित होती थीं। वैसे समीक्षकों ने *भारतजीवन* को दब्बू अखबार कहा है। पर साहित्य के क्षेत्र में इस पत्र ने उल्लेखनीय कार्य किया था।

जब प्रथम महायुद्ध आरंभ हुआ तो जनता को युद्ध की घटनाओं की जानकारी देने के लिए *भारतजीवन* का दैनिक प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। फलत: रामचंद्र वर्मा के सम्पादकत्व में सन 1914 में इसका दैनिक प्रकाशन होने लगा। पर यह मात्र दो महीने तक ही दैनिक रूप में प्रकाशित हो सका। इस अखबार में अनेक कमियां हो सकती हैं पर काशी से दैनिक प्रकाशित होने वाला यह प्रथम पत्र है।

आज

काशी के प्रख्यात राष्ट्रीय चेतना सम्पन्न तथा हिंदी प्रेमी बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने सन् 1914 में विश्वभ्रमण किया था। विश्वभ्रमण के दौरान लंदन में उन्होंने वहां का विश्वप्रख्यात दैनिक अखबार *द लन्दन टाइम्स* देखा। उससे वे इतने प्रेरित हुए कि उनके मन में यह इच्छा जगी कि हिंदी भाषा में भी इसी तरह का उच्चस्तरीय हिंदी दैनिक का प्रकाशन किया जाए। जब उन्होंने वहां के बड़े-बड़े प्रकाशन संस्थानों को देखा तो उन्हें हिंदी में विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का प्रकाशन करने की भी इच्छा जगी फलत: स्वदेश लौटने पर सबसे पहले उन्होंने 1919 में *ज्ञान मण्डल* प्रकाशन संस्थान की स्थापना की।

उन्होंने अपने मित्रों से विचार-विमर्श कर एक हिंदी दैनिक के प्रकाशन की इच्छा प्रकट की। सभी लोगों से विमर्श करने के बाद *आज* नामकरण किया गया। उन्होंने गुरुधाम में ज्ञानमण्डल कार्यालय की स्थापना की। वहीं उन्होंने *आज* अखबार का दफ्तर स्थापित किया। ज्ञानमण्डल मंत्रालय के मैनेजर प्यारेलाल भार्गव थे। वहीं *आज* के प्रथम सम्पादक श्रीप्रसाद जी और सहायक सम्पादक बाबूराव विष्णु पराड़कर जी के बैठने की व्यवस्था की गई थी। फलत: पहली मार्च 1920 को पराड़कर जी ने *आज* के कार्यालय में कार्यभार स्वीकार कर लिया।

दैनिक *आज* का प्रकाशन 5 सितम्बर सन 1920 (कृष्ण जन्माष्टमी संवत 1866 ई.) को आरंभ हुआ। पराड़कर जी ने आज के प्रकाशन के पूर्व लोकमान्य बालगंगाधर तिलक से मुलाकात थी। उनके निर्देशों के अनुसार *आज* का उद्देश्य स्वराज्य प्राप्त करना, लोगों को उनके स्वाभाविक अधिकार बताना तथा धर्मत: कर्त्तव्य पालन करते हुए यदि विघ्न उपस्थित हो तो उसकी परवाह न करना और ईश्वर के न्याय में विश्वास करना था।

आज प्रारंभ में आठ पृष्ठों का निकला। बाद में कतिपय कारणों से छह पृष्ठों का कर दिया गया। *आज* का 1920 से 1972 तक अत्यन्त संघर्षशील जीवन था। इन्हीं दिनों असहयोग आन्दोलन, सत्याग्रह, स्वदेशी आन्दोलन जैसी महत्वपूर्ण घटनाएं हुईं। *आज* कांग्रेस पार्टी का अखबार नहीं था पर देश की आजादी की लड़ाई के लिए *आज* ने कांग्रेस के विचारों का समर्थन किया। इस कारण *आज* को सरकार के दमन का शिकार भी होना पड़ा। *आज* स्वतंत्रता आन्दोलन के संघर्ष का जीवित दस्तावेज है।

आज ने जहां एक ओर देश की स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी वहीं हिंदी भाषा को नयी दिशा दी। नये शब्द दिए। मुद्रास्फीति, राष्ट्रपति, श्री, आदि शब्द *आज* की देन है। इसने हिंदी की एक वर्तनी दी जो पचास वर्ष से अधिक समय तक हिंदी दैनिक अखबारों में चलती रही।

इसके अतिरिक्त *आज* ने काशी की सांस्कृतिक चेतना को जगाने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई। इस अखबार के साप्ताहिक परिशिष्ट के माध्यम से सन 1950 से 70 के मध्य तक प्रकाशित लेख हिंदी साहित्य, आर्थिक जगत तथा भारतीय सांस्कृतिक चेतना का दस्तावेज हैं।

स्वतंत्रता के बाद *आज* ने नये भारत के निर्माण में भी नयी दिशा दी है। इन दिनों *आज* बारह स्थानों से प्रकाशित होकर जन चेतना जगाने में क्रियाशील है।

आज अखबार के सम्पादकों में श्रीप्रकाश जी, बाबूराव विष्णु पराड़कर, श्रीकान्त ठाकुर, कमलापति, रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर, विद्याभास्कर, सत्येन्द

कुमार गुप्त थे। वर्तमान समय में इस अखबार के प्रधान सम्पादक श्री शार्दुल विक्रम गुप्त हैं।

काशी इन दिनों दैनिक अखबारों के प्रकाशन का प्रमुख केन्द्र बन गया है। इन दिनों यहां से दैनिक *जागरण*, दैनिक *हिन्दुस्तान* और *अमर उजाला* का प्रकाशन हो रहा है। ये सभी पत्र शृंखला अखबार के अन्तर्गत हैं। इन तीनों का क्रमशः दिल्ली, कानपुर और मेरठ मुख्यालय है। यह सभी पत्र राष्ट्रीय और उच्चस्तरीय ढंग से प्रकाशित हो रहे हैं।

संसार

काशी का चौथा और पांचवा दशक हिंदी दैनिक पत्रकारिता की दृष्टि से स्वर्णिम युग था। *आज*, *संसार*, *सन्मार्ग*, *बनारस*, *गाण्डीव* जैसे दैनिक पत्रों के प्रकाशन हुए। इन सभी अखबारों के लक्ष्य और दृष्टि भिन्न थे पर सभी उच्चस्तरीय अखबार थे। इन अखबारों का हिंदी पत्रकारिता में अपना उल्लेखनीय योगदान है।

पांचवें दशक में राष्ट्रीय आंदोलन अपनी चरम सीमा पर था। 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चल रहा था, रेलवे लाइनें उखाड़ी जा रही थीं, यातायात ठप कर दिया गया था। अतः 30 अगस्त 1942 को *आज* अखबार का प्रकाशन स्थगित कर दिया गया। लगभग चार महीनों तक काशी से कोई पत्र नहीं निकला।

आज के व्यवस्थापक बलदेव प्रसाद ने *आज* से असंतुष्ट होकर नया अखबार निकालने की सोचने लगे। उन्होंने *आज* के सम्पादकीय विभाग के अनेक सदस्यों को साथ लेकर *संसार* दैनिक निकालने का निर्णय किया। फलतः बाबूराव विष्णु पराड़कर के प्रधान सम्पादकत्व में पहली जनवरी 1943 से *संसार* का प्रकाशन बेतियाहाता काशीपुरा से होने लगा। *संसार* के सम्पादकीय विभाग में *आज* के अधिक सदस्य शामिल हुए जिनमें मुकन्दीलाल श्रीवास्तव, आर.आर. खाडिलकर, अशोकजी, दूधनाथ सिंह, कमला प्रसाद अवस्थी, कमलापति त्रिपाठी प्रभृति के अन्य लोगों में हरिशंकर उपाध्याय, वंशदेव मिश्र, योगेन्द्रपति त्रिपाठी, लीलाधर शर्मा पर्वतीय, कन्हैयालाल पारिख, मोहनाल गुप्त, रामऋषि शुक्ल, रामनाथ वर्मा, रघुनन्दन प्रसाद शुक्ल अटल, विश्वनाथ सिंह, राजकुमार, मोती बी.ए., श्यामाप्रसाद शुक्ल, प्रदीप, माधव प्रसाद मिश्र तथा व्यंग्य चित्रकार कांजिलाल आदि थे।

यह सायंकालीन पत्र था। यह कम समय में हिंदी के एक श्रेष्ठ हिंदी दैनिक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस अखबार का मेकअप, समाचार, अग्रलेख तथा अन्य लेख उच्चस्तर के थे। इसका मुख्य कारण यह था कि सभी अनुभवी सम्पादक एक स्थान पर आ गए थे तथा उत्साह से कार्य कर रहे थे। *संसार* का अलग से क्राऊन साइज में साप्ताहिक अंक निकलता था। वह पठनीय और संग्रहणीय था। इस सफलता से *संसार* का व्यवस्था विभाग कुछ अधिक उत्साहित हो उठा तथा पत्रकारों की उपेक्षा सी होने लगी। अतः धीरे-धीरे सभी अनुभवी पत्रकार इस अखबार से अलग हो गए। पराड़कर जी 1947 में 15 अगस्त को वापस *आज* में चले गए। पण्डित कमलापति जी पराड़करजी के बाद प्रधान सम्पादक हुए पर वे भी राजनीति में चले गए। अन्ततः पण्डित वंशदेव मिश्र इसके प्रधान सम्पादक हुए। लगभग दस वर्ष सात महीने 14 दिन तक प्रकाशित होने के बाद यह अखबार 14 अगस्त 1954 को सदा के लिए बन्द हो गया।

सन्मार्ग

संसार के बाद दूसरा दैनिक *सन्मार्ग* पण्डित गंगाशंकर मिश्र के सम्पादकत्व में 1946 में प्रकाशित हुआ था। यह पत्र रामराज्य परिषद का था। धर्म संघ इसका संचालक था। पत्र हिन्दुवादी था पर इसकी पत्रकारिता उच्च स्तर की थी। इस अखबार के प्रारंभिक दिनों के सम्पादक मण्डल में लक्ष्मण नारायण गर्दे, शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र', कमला प्रसाद अवस्थी, अशोक, पारसनाथ सिंह, ईश्वरचंद्र सिंहा, रामनारायण, गोविन्द नरहरि बैजापुरकर, मुकुन्ददेव शर्मा, विश्वनाथ त्रिपाठी, उदयकृष्ण नागर, हीरालाल चौबे, आनंद बहादुर सिंह, कलिन्द शास्त्री, दूधनाथ सिंह, महेन्द्रनाथ वर्मा तथा रघुनन्दन प्रसाद शुक्ल जैसे अनुभवी पत्रकार थे। व्यंग्य चित्रकार रामकान्त कंठाले थे।

सन्मार्ग का 1946 से 1952 का समय स्वर्णिम था। इस अवधि में इस पत्र ने हिंदी साहित्य और हिंदी पत्रकारिता दोनों का मानक बनाये रखा। हिंदी पत्रकारिता में उन दिनों अग्रलेख के क्षेत्र में दो धुरन्धर पत्रकार थे : एक बाबूराव पराड़कर और दूसरे पण्डित गंगाशंकर मिश्र। दोनों सम्पादकों के अग्रलेखों ने हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में मानक स्थापित किया। दोनों अग्रलेखों में तेजस्वता थी। उन दिनों भी *सन्मार्ग* सायंकालीन पत्र था।

इस अवधि में दैनिक में प्रकाशित लेख तथा फीचर उच्चस्तरीय थे। *सन्मार्ग* साप्ताहिक छोटे आकार में सचित्र प्रकाशित होता था। उसमें राजनीतिक, साहित्यिक तथा अन्य विषयों पर अच्छे लेख प्रकाशित होते थे। *सन्मार्ग* के अनेक विशेषांक निकले जो संग्रहणीय थे। उसका होली विशेषांक जिसमें पदमाकर की कविता 'आयो लला फिर खेलन होली' पर कंठाले जी का बनाया व्यंग्य चित्र आज भी नहीं भूलता।

सन्मार्ग का प्रकाशन अब भी हो रहा है। इसकी व्यवस्था में अनेक बार फेरबदल हुए। इन दिनों आनंद बहादुर सिंह इसके सम्पादक हैं।

बनारस

काशी पत्रकारिता की नगरी है। यहां सदैव नई उद्भावनाएं होती रहती हैं। *संसार* से अलग हुए पत्रकारों में राजकुमार, माधव प्रसाद मिश्र, काशीनाथ उपाध्याय, बेधड़क बनारसी, हरिशंकर उपाध्याय, जगदीश चन्द्र अरोड़ा आदि के सहयोग से 18 अक्तूबर 1950 को काशी के मध्यमेश्वर मुहल्ले से *बनारस* नामक दैनिक अखबार का प्रकाशन हुआ। इसके सम्पादक-प्रकाशक राजकुमार थे। बड़े अखबार के एक पन्ने के चार पृष्ठों में यह अखबार छपता था।

यह अखबार मुख्य रूप से नगर के लिए था तथा कुछ प्रतियां जिलों में भी जाती थीं। यह अखबार 17 वर्षों तक प्रकाशित हुआ। यह अखबार बहुत कम समय में ही नगर के लोकप्रिय अखबारों में माना जाने लगा। इसमें स्थानीय समाचारों को प्रमुखता के साथ प्रकाशित किया जाता था। काशी के दैनिक पत्रों की परम्परा में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

गाण्डीव

सन् 1950 में काशी से *गाण्डीव* साप्ताहिक का प्रकाशन आरंभ हुआ। डाक्टर भगवानदास अरोड़ा इसके सम्पादक प्रकाशक थे। बाद में यह दैनिक कर दिया गया। यह सायंकालीन पत्र है। यह अखबार अपराध तथा घटना प्रधान स्थानीय समाचारों के प्रकाशन के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। यह अखबार धीरे-धीरे प्रगति की अब अब काशी के प्रमुख अखबारों में है। इस अखबार ने आधुनिक तकनीकों का उपयोग कर अखबार को पठनीय और अधुनातन बना दिया है। इन दिनों इसका सम्पादन राजीव अरोड़ा कर रहे हैं।

चुनावी समाचार पत्र

भारत के स्वतन्त्र होने के बाद जब 1952 में प्रथम आम चुनाव हुए, उस समय जनता को देश, प्रदेश तथा विशेष रूप से स्थानीय चुनावी समाचारों को जनता तक पहुंचाने तथा पार्टी विशेष के चुनाव प्रचार के लिए दो पृष्ठों के दैनिक समाचार पत्र प्रकाशित करने की प्रवृत्ति थी। यह प्रवृत्ति पूरे देश या पूरे उत्तर प्रदेश में थी या नहीं, यह तो आधिकारिक रूप से नहीं कहा जा

सकता किंतु काशी में यह प्रवृत्ति मुखर हुई। प्रथम चुनाव के दौरान *चुनाव बनारसी* और *वोटर* नामक दैनिक चुनावी पत्र प्रकाशित हुए।

चुनाव के सम्पादक एम. भारती (पंडित माधव प्रसाद मिश्र) थे। कांग्रेस समर्थक यह पत्र दो पृष्ठों का था। यह पत्र कांग्रेसी उम्मीदवारों का समर्थन करता था तथा जनमत को उसके पक्ष में करने का आह्वान करता था। यह अखबार सायंकालीन था। शाम को इसकी बिक्री धड़ल्ले से होती थी। इस पत्र में हास्य-व्यंग्य और चुनावी छींटे भी छपते थे।

दूसरा चुनावी पत्र था *बनारसी*। यह जनसंघी अखबार था। यह जनसंघ के उम्मीदवारों का चुनाव प्रचार करता था। यह भी दो पृष्ठों का था। इसमें भी चुनावी कविताएं तथा छींटे प्रकाशित हुए थे। इसके सम्पादक भैयाजी बनारसी थे, पर उनका नाम नहीं छपता था।

तीसरा पत्र *वोटर* था। हिंदी के हास्य रस के कवि और कहानीकार पण्डित शिवमूर्ति शर्मा 'शव' कौतुक बनारसी इस पत्र के सम्पादक थे। यह पत्र राम राज्य परिषद का समर्थक था और परिषद के उम्मीदवारों का चुनाव में समर्थन करता था।

इन तीनों पत्रों के सम्पादक जहां राजनीतिक दृष्टि से तीन विभिन्न विचारधाराओं के पोषक थे, वहीं हास्य व्यंग्य के अच्छे लेखक भी थे। इसलिए इन तीनों पत्रों में चुनावी सामग्री पठनीय होती थी। तीनों सायंकालीन पत्र थे, अतः इन तीनों की शाम को होड़ मच जाती थी। हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में यह अपने ढंग का अनूठा प्रयास था। चुनाव समाप्त होने के बाद यह पत्र भी बन्द हो गए।

हास्य रस की पत्रिकाओं के प्रकाशन के क्षेत्र में भारतेन्दु की भूमि काशी संभवतः सबसे आगे रही। यहां से अनेक साप्ताहिक और मासिक हास्य रस की पत्रिकाएं भी प्रकाशित हुईं।

सन् 1937-38 में हास्य के प्रख्यात कवि पण्डित कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' के सम्पादकत्व में *अलबेला* नामक पत्रिका का प्रकाशन हुआ था। लगभग डेढ़ वर्षों तक यह पत्रिका प्रकाशित हुई। इसमें हास्य रस की कहानियां और कविताएं छपती थीं।

अन्नपूर्णानन्द और कृष्णदेव प्रसाद गौड़ ने 1924 में *भूत* नामक हास्य रस की पत्रिका निकाली थी। यह पत्रिका पाठकों को खूब हंसाने वाली थी, पर यह बहुत कम समय तक ही जीवित रही।

उग्र जी और बेढब जी ने 1924 में दूसरी हास्य पत्रिका *भाड़* निकाली। यह भी दो-तीन अंकों के बाद बंद हो गई। उग्र जी और बेढब जी में मतभेद होने के कारण इसका प्रकाशन बंद हो गया।

बेढब जी ने 1936 में *तरंग* का प्रकाशन किया। यह साप्ताहिक पत्रिका थी। कुछ अंक निकालने के बाद यह पत्रिका बंद हो गई। उन्होंने कुछ दिनों बाद यह पत्रिका काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर' को दे दी गई। भ्रमर जी, मोहनलाल गुप्त और माधव प्रसाद मिश्र ने इसे साप्ताहिक रूप में प्रकाशित किया। यह पत्रिका कई वर्षों तक प्रकाशित हुई। इसमें हास्य रस की कहानियां, लेख, कविताएं और पैरोडी छपा करती थीं। 'कम्बल कैसे चुराया जाता है' जैसे हास्य रस के लेख इसमें छपे हैं। प्रसाद जी की कविता 'बीती विभावरी जाग री' की 'पैरोडी' इस प्रकार छपी :

बीती विभावरी जाग री
छत पर कौवा बोल रहा

खुदा की राह पर (1938)

कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी' ने हास्य रस की 1938 में एक और पत्रिका निकाली। यह पत्रिका थी *खुदा की राह पर*। संभवतः यह पाक्षिक पत्रिका थी। इसका सिद्धान्त वाक्य था-

जिन्दगी भर रह गए प्यासे
तुम्हारी चाह पर
हो भला अब भी तो कुछ
दे दो खुदा की राह पर

सम्पादक का नाम मुंशी खैराती खां था जो बेढब जी का हास्य व्यंग्य लेखन का उपनाम था। वे इसी नाम से *आज* में हास्य व्यंग्य लिखा करते थे। बेढब जी ने इसके दो-तीन अंक ही निकाले। उसके बाद उन्होंने यह पत्रिका पुरुषोत्तम दत्त ऋषि को दे दी। उन्होंने कई वर्षों तक यह पत्रिका निकाली।

काशी से सन् 1952-53 में गोविन्द प्रसाद केजरीवाल के सम्पादन में सचित्र हास्य रस की पत्रिका *करेला* का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसमें हिंदी की उत्कृष्ट हास्य व्यंग्य की रचनाएं छपती थीं। लगभग एक साल बाद पत्रिका बन्द हो गई।

अनियतकालिक पत्रिकाओं में प्रतिवर्ष होली के अवसर पर सेठ केदारनाथ हास्य वार्षिकी *होली* प्रकाशित करते थे। यह पत्रिका चार वर्षों तक नियमित प्रकाशन के बाद बंद हो गयी।

माधव प्रसाद मिश्र ने *बेढब* तथा *शनिचर* पत्रिकाएं निकाली। बलदेव प्रसाद मिश्र ने *अजगर* नाम से हास्य रस की पत्रिका निकाली।

भूमिगत पत्रकारिता

काशी में सन 1930 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन के प्रथम चरण में हिंदी पत्रों के साथ अन्य राष्ट्रवादी पत्रों की भूमिका से राष्ट्रीय चेतना इस प्रकार जागृत हुई कि इससे ब्रिटिश नौकरशाही घबरा गई। ब्रिटिश सरकार ने 26 अप्रैल 1930 को नया इण्डियन प्रेस आर्डिनेंस जारी किया। इसके अनुसार अखबारों से जमानतें मांगी जाने लगीं। उत्तर प्रदेश में 32 छापाखानों तथा 15 समाचार पत्रों से जमानत मांगी गई। अखबारों का प्रकाशन बंद हो गया। काशी में *आज* अखबार का प्रकाशन बन्द होने के बाद साइक्लोस्टाइल से *आज की खबर* नामक पत्र का प्रकाशन होता रहा। पर बाद में साइक्लोस्टाइल पर भी सरकार का प्रतिबंध लग जाने के बाद जनता को समाचार सुलभ करने के लिए गोपनीय ढंग से *रणभेरी* नामक पर्चे का प्रकाशन आरंभ किया गया।

रणभेरी का प्रथम प्रकाशन 1930 में हुआ था। इसका संचालन *आज* अखबार के स्वामी और सम्पादकों की ओर से हुआ था। *आज* कार्यालय में इसकी प्रतियां छापी जाती थीं और लक्खी चबूतरे से इसका वितरण किया जाता था।

रणभेरी के सम्पादन लेखन में पराड़कर जी के अतिरिक्त रामचन्द्र वर्मा, दुर्गा प्रसाद खत्री, दिनेश दत्त झा, उमाशंकर और कालिका प्रसाद जी सहयोगी थे। इस *रणभेरी* की विशेषता थी कि यह लोगों को संघर्ष के लिए प्रेरित करता था। देखते-देखते इसकी प्रतियां बिक जाती थीं। एक प्रति की कीमत एक पैसा था यह फुलस्केप कागज के दोनों पृष्ठों में छापा जाता था। गुप्तचर विभाग ने इसका पता लगाने के लिए अनेक प्रयास किया परन्तु यह पत्र गुप्तचर विभाग की पकड़ में नहीं आया।

इसी तरह जब 1942 में समाचार-पत्रों के प्रकाशन बन्द हो गए थे तो *रणभेरी* का प्रकाशन किया गया था। इस बार इस पत्र का संचालन अन्य लोगों के हाथों में था। यह *रणभेरी* भी लोकप्रिय हुई। यह पत्र भी कभी पुलिस के पकड़ में नहीं आया। □

बनारस में बाल साहित्य सृजन

***बड़ों के साहित्य सृजन में बनारस की छवि चर्चा का विषय रही है / भारतेन्दु हरिश्चंद्र युग प्रवर्तक साहित्यकार थे / उन्होंने बड़ों के साहित्य में आधुनिकता का समावेश किया, हिंदी को गढ़ा तथा बालकों के लिए साहित्य पर भी चिंतन किया / उन्होंने दो नाटकों सत्य हरिश्चन्द्र और अंधेर नगरी की रचना की जो बालोपयोगी हैं / ये दोनों नाटक 19वीं शताब्दी के बनारस में बाल साहित्य की उपस्थिति का परिचय देते हैं / बाल साहित्य के क्षेत्र में बनारस के लेखकों के योगदान की चर्चा कर रहे हैं* डॉ. श्रीप्रसाद**

बालक कभी साहित्य विहीन नहीं रहा है। जब आधुनिक प्रवृत्ति का साहित्य नहीं था, उस समय वह लोग कथाओं और लोक बाल गीतों से अपना अनुरंजन करता था। अपने शैशव में वह लोरियां सुनकर प्रसन्न हो जाता था। ये लोरियां और लोक कथाएं लोक बोलियों में होती थीं। इनमें से अनेक लोक कथाएं *पंचतंत्र* और *कथा सरित्सागर* की कथाओं पर आधारित थीं, पर अनेक कथाएं मौलिक भी थीं। बीती शताब्दियों के बालक का यही साहित्य था।

बनारस इस साहित्य से अलग नहीं था। पर बाल साहित्य का व्यवस्थित प्रमाण भारतेन्दु काल से प्राप्त होता है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र युगप्रवर्तक साहित्यकार थे। उन्होंने बड़ों के साहित्य में आधुनिकता का समावेश किया, हिंदी को गढ़ा तथा बालकों के लिए साहित्य पर भी चिंतन किया। अपने प्रभूत गद्य-पद्य साहित्य में उन्होंने दो ऐसे नाटकों की रचना की जो बालोपयोगी हैं। उनमें एक है *सत्य हरिश्चंद्र* और दूसरा *अंधेर नगरी*। *सत्य हरिश्चंद्र* नाटक उन्होंने बालकों के लिए प्रतिबद्ध होकर लिखा था। इसके मूल में लेखक की परिकल्पना है- बालकों को जीवन मूल्यों और नैतिकता की शिक्षा देना। बच्चों को बाल्यावस्था में शिक्षा देने की परिपाटी प्राचीन काल से चली आ रही है। *पंचतंत्र* और *हितोपदेश* के सृजन के मूल में भी यही दृष्टि रही है। भारतेन्दु ने नाटक रचना के पूर्व 'उपक्रम' में लिखा है- "मेरे मित्र बाबू बालेश्वर प्रसाद बी.ए. ने मुझसे कहा कि आप कोई ऐसा नाटक भी लिखें, जो लड़कों को पढ़ने-पढ़ाने के योग्य हो।" रूपक के माध्यम से नाटककार ने राजा हरिश्चंद्र के चरित्र का विकास अत्यंत कठिन परिस्थितियों के अंतर्गत किया है। नाटक की संवेदनशीलता दर्शक पर गहरी छाप छोड़ती है।

भारतेन्दु का दूसरा नाटक *अंधेर नगरी* है। सन् 1881 में रचा गया यह हास्य-व्यंग्य नाटक है। यद्यपि इसकी रचना बड़ों के लिए हुई थी, पर आज अपने संशोधित रूप में यह बालकों के मनोरंजन का सशक्त माध्यम बन गया है। इसकी हास्यमूलक कथावस्तु और छोटे-छोटे चुटीले संवाद बड़े प्रभावोत्पादक हैं। इसके साथ ही 'चना' और 'चूरन' से संबंद्ध गीत तो बच्चों की ज़बान पर ही अंकित हो जाते हैं। भारतेन्दु चौखंबा मुहल्ले में रहते थे। गीत के बोल आज भी चौखंबे में सुने जा सकते हैं:

चने बनावैं घासीराम, जिनकी झोली में दूकान,
चना चुरमुर-चुरमुर बोलै, बाबू खाने को मुंह खोलै...

इसी प्रकार चूरन का गीत है :

चूरन बना मसालेदार, जिसमें खट्टे की बहार
मेरा चूरन जो कोई खाई, मुझको छोड़ कहीं नहिं जाई...

ये दोनों नाटक उन्नीसवीं शताब्दी में बनारस में बाल साहित्य की उपस्थिति का परिचय देते हैं और आधुनिक बाल साहित्य के प्रस्थान बिंदु भी हैं। इन नाटकों से यह भी सूचित होता है कि बाल साहित्य का मौलिक सृजन भी होना चाहिए। साथ ही पारंपरिक लोक कथाएं भी बाल साहित्य की आधारभूमि बन सकती हैं। *अंधेर नगरी* का आधार लोक कथा ही है।

भारतेन्दु ने जिस *बालबोधिनी* पत्रिका का प्रकाशन किया था, उसमें नीतिपरक बाल कथाओं का भी समावेश रहता था। भारतेन्दु सोद्देश्य साहित्य सृजन को महत्त्व देते थे। यह उनके बाल साहित्य में भी दिखाई देता है। भारतेन्दु ने अपने साहित्य सृजन से बालकों के लिए साहित्य की आवश्यकता रेखांकित कर दी थी।

बाल साहित्य का बाल शिक्षा से गहरा संबंध है। भारतेन्दु के समय में समाज बदल रहा था। बाल शिक्षा में आधुनिकता का समावेश हो रहा था और नई शिक्षा नीतियां बन रहीं थीं। इससे आधुनिक बाल साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी, जिसे बड़ों के लिए साहित्य सृजन करते हुए प्रेमचंद ने भी पहचाना। उन्होंने बाल जीवन के स्वस्थ विकास के लिए *हंस* (अप्रैल 1930) में एक लेख लिखा 'बच्चों को स्वाधीन बनाओ।' उन्होंने लिखा- 'लड़कों की स्वाभाविक रचनाशीलता को जगाना चाहिए। लड़का खिलौने बनाना चाहे, नाटकों में अभिनय करना चाहे, या कविता लिखना चाहे उसे बाधा मत दो।' इसी दृष्टि के चलते उन्होंने बालकों के लिए- 'परीक्षा', 'मंत्र', 'ईदगाह', 'बड़े भाई साहब', 'नमक का दारोगा', 'कजाकी', 'दो बैलों की कथा', 'गुल्ली डंडा', 'रामलीला' तथा 'नादान दोस्त' जैसी बालोपयोगी कहानियां लिखीं। *रामचर्चा* जैसी *रामायण* पर आधारित पुस्तक लिखी और *कुत्ते की कहानी* जैसा उपन्यास लिखा। ये बाल साहित्य के अंतर्गत किशोर वर्ग की कृतियां हैं, जबकि 'शेर और लड़का', 'वनमानुष की दर्दनाक कहानी', 'गुब्बारे पर चीता' और 'पागल हाथी' बाल वर्ग की कथाएं हैं।

प्रेमचंद की कहानियों में मानवीय संवेदना और सामाजिक यथार्थ की सटीक पकड़ है। 'गुल्ली डंडा' और 'ईदगाह' प्रेमचंद की अत्यंत उच्चकोटि

की कहानियां हैं, जिनमें समाज का कटु यथार्थ झलकता है। 'ईदगाह' का हामिद गरीब परिवार का है। उसकी बूढ़ी दादी अमीना और हामिद एक दूसरे की छाया में जीते हैं। तभी ईद का त्यौहार आता है सभी बच्चे ईद के मेले में जाते हैं। हामिद भी जाता है। माता-पिता से पाए पैसों से बच्चे मिठाई और खिलौने खरीदते हैं। हामिद अपनी दादी के लिए चिमटा खरीदता है। यह चिमटा तीन पैसे का है। उसकी दादी के पास हामिद को देने के लिए इतने ही पैसे थे। बच्चे ने चिमटा इसलिए खरीदा था कि रोटी सेंकते समय उसकी दादी का हाथ न जले। लेखक बच्चे की संवेदना को चरम सीमा पर पहुंचाता है। यह संवेदना दैवी गुण है, यह मानवता का उत्कृष्टतम रूप है। पर इसके साथ ही पाठक सामाजिक यथार्थ से भी दो-चार होते हैं जो गरीबी के रूप में दिखाई देता है। अमीना इतनी गरीब है कि उसके पास एक चिमटा खरीदने भर का भी पैसा नहीं है। गरीबी का यह भयावह रूप है।

जब हामिद चिमटा लेकर घर आता है और अपनी दादी को देता है तो अमीना छाती पीट लेती है- "ये कैसा बेसमझ लड़का है कि दोपहर हुआ, कुछ खाया न पिया। लाया क्या चिमटा। "... "सारे मेले में तुझे और कोई चीज न मिली जो यह लोहे का चिमटा उठा लाया।" हामिद ने अपराधी भाव से कहा- "तुम्हारी ऊंगलियां तवे से जल जाती थीं, इसलिए मैंने इसे लिया।"

संत्रासों के बीच में एक रोशनी जगमगाती है। बाल चरित्र की यह ऊंचाई बाल साहित्य को दिशा प्रदान करती है। अमीरों के बच्चों का एक गरीब बच्चे को दिखा-दिखाकर मिठाई खाना और अपने खिलौने दिखाना सामाजिक वर्ग-भेद की ओर एक इंगित है जिसके कारण समाज आज भी दुखी है।

'गुल्ली डंडा' प्रेमचंद की दूसरी अत्यंत श्रेष्ठ कहानी है। दो बालक बचपन में समान रहते हैं और उनमें अत्यधिक आत्मीय भाव रहता है। पर जब एक शिक्षित होकर अधिकारी बन जाता है और दूसरा उसका नौकर बनता है तो सामाजिक व्यवस्था के नाते उनकी आत्मीयता का भी अर्थ बदल जाता है। बचपन की स्मृति के रूप में दोनों गुल्ली डंडा का खेल खेलते हैं। 'गया' अपने मित्र को बचपन में पदा देता था। आज अधिकारी मित्र को कैसे पदाये। वह हारता रहता है। सामाजिक यथार्थ उसकी खेल कुशलता को दबाता है। व्यक्ति महत्त्वहीन हो जाता है और पद महत्त्वपूर्ण बन जाता है। प्रेमचंद की गरीबों के प्रति सर्वत्र सहानुभूति दिखाई देती है। 'रामलीला' के अभिनेता अपनी श्रेष्ठ अभिनय कला के बावजूद पुरस्कार के रूप में एक पैसा भी नहीं पाते। वे निर्धन हैं। पैदल लीला खेलने आते हैं और पैदल ही चले जाते हैं। गांव का मुखिया राह खर्च तक नहीं देता। इन कथाओं में नए सामाजिक निर्माण की ललक झलमला रही है, जो व्यंग्यवत् है। कहानियां जितनी करुण हैं, उतनी ही स्फूर्तिदायक भी। 'दो बैलों की कथा' में दो बैल हिंदू-मुसलमानों के प्रतीक हैं। दोनों मिलकर अवांछित व्यक्ति को पराजित करते हैं। यह कहानी परतंत्रता के काल में रची गई थी, जिसका संदेश था कि हिंदू-मुसलमानों की एकजुटता विदेशी सत्ता को मिटा सकती है।

'रामचर्चा' में प्रेमचंद कर्त्तव्य पर बल देते हैं और 'कुत्ते की कहानी' में अबोले प्राणियों के प्रति सहानुभूति का ताना-बाना बुना है। कुत्ता 'कुत्ता' नहीं, वह मानवीय भावों से परिपूर्ण है। लेखक बालक को प्राचीन संस्कृति से भी परिचित कराता है और आधुनिक जीवन के यथार्थ से भी। वह बाल्यावस्था में बच्चे में ऐसे भाव जगा देना चाहता है कि वे सामाजिक बदलाव में अपनी भूमिका निभा सकेंगे। संवेदनाएं और चिंतन दोनों का मनोरंजन के धरातल पर समन्वय हुआ है। चीनी समालोचक शान युन के शब्दों में प्रेमचंद की अधिकांश बाल कथाओं में बच्चे न सिर्फ नायक हैं, बल्कि उनके व्यापक कथानक बाल मनोवृत्तियां भी उजागर करते हैं और तरह-तरह के व्यक्तित्वों वाली जीती जागती बाल प्रतिभाएं भी निर्मित हुई हैं।" (*चीनी समालोचकों की नजर में प्रेमचंद*, पृ. 87)।

बनारस का बाल साहित्य के लिए प्रभूत अवदान है। रमापति शुक्ल ने अपने बाल काव्य साहित्य से बच्चों का भरपूर अनुरंजन किया। *शैशव, अंगूरों का गुच्छा* और *हुआ सबेरा* आदि इनकी कृतियां है। इनकी बाल कविताओं में नवीनता रहती थी। सरल भाषा और सधे छंद में कही गई चमत्कारिक बात से बालक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता :

कंघी के हैं दांत, मगर वह, चबा नहीं सकती खाना
गला सुराही का है पतला, किंतु न गा सकती गाना।
होता है मुंह बड़ा घड़े का, पर वह बोल नहीं सकता
चार पांव टेबुल के होते, पर वह डोल नहीं सकता...

(सबसे बड़ा मनुष्य क्यों)।

कविता में छांदिक सौंदर्य भी द्रष्टव्य है। कविता की पंक्तियों की लयात्मकता बड़ी तीव्र है। इधर की बाल कविताओं में यह लयात्मकता टूटी है।

बाल साहित्य भारती पुरस्कार से प्रतिष्ठित डा. श्यामलाकांत वर्मा लंबे अरसे से साहित्य के क्षेत्र में तल्लीन हैं। समीक्षक और बड़ों के लिए साहित्य सृजन के साथ ही कुछ वर्षों से वे बच्चों के लिए भी लिख रहे हैं। आपने बालकों के लिए कविताएं भी लिखी हैं, कहानियां भी और नाटक भी। आपकी कृतियां हैं- *चंदा से कुट्टी, रंग-रंग के पक्षी आए, गाओ गीत बजाओ ढोल, कहानी और कहानी* तथा मुहावरों पर कहानियां। पर वर्मा जी कवि के रूप में ही अधिक जाने जाते हैं। कहानियां लोक-कथापरक ही हैं, कविताओं में शिशुगीतों की रचना ही विशिष्ट है :

डमक-डमक डम डमरू बोला
भालू दादा आए हैं
तुमक-तुमक कर नाच रहे हैं
हाथों को फैलाए हैं
छम-छम-छम-छम घुंघरु बोला
ताली लगे बजाने वे
छन छन छन छन पैसा बरसा
पेट लगे सहलाने वे।

(*रिमझिम*, भा. 1, पृ. 11)

मोहन लाल गुप्त 'भैया जी बनारसी' ने बाल साहित्य में दो प्रकार से योगदान किया। उन्होंने सीमित मात्रा में साहित्य सृजन भी किया, बालकों के लिए देशप्रेम प्रधान काव्य नाटक की रचना की, जो मंचित भी हुआ और उन्होंने प्रसिद्ध दैनिक *आज* में *बाल संसद* के नाम से बाल साहित्य पृष्ठ का आरंभ किया। *आज* हिंदी का पहला पत्र है, जिसमें बालकों का अपना पृष्ठ आरंभ हुआ। *आज* की प्रेरणा से ही अन्य पत्रों में बाल पृष्ठ शुरू हुए। यह बाल साहित्य में संदर्भ में बनारस की ऐतिहासिक उपलब्धि है। 'बाल संसद' के माध्यम से हिंदी को उच्चस्तरीय बाल साहित्य प्राप्त हुआ और रचनाकारों को सृजन की प्रेरणा मिली। भैया जी बनारसी का यह स्मरणीय कार्य था।

इस क्षेत्र में गोपाल दास नागर भी लंबे अरसे से सक्रिय हैं। उन्होंने बच्चों के लिए सैकड़ों कहानियों की रचना की है। *जंगल का न्याय* नाम से उनका एक बाल कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ है। गुजराती बाल साहित्य का हिंदी में सर्वाधिक रूपांतर नागर जी ने ही किया है। मुख्यतः जोवराम जोशी की गुजराती बाल कथाओं का। 'मियां फुस्कहो' की शृंखला तो बहुत पढ़ी गई

थी। नागर जी की मौलिक कहानियां पुरानी शैली की अधिक हैं- "एक ब्राह्मण था। वह बहुत ही गरीब था। अपने और अपने परिवार के लिए जैसे-तैसे एक समय का भोजन जुटा पाता था।... *सियार की सीख*।" उनकी कहानियां सरल भाषा में लिखी गई है। इन नैतिकता प्रधान कहानियों में पठनीयता भरपूर है। हिंदी में ऐसे शिल्प की कहानियों का भी अपना महत्त्व है।

बाल साहित्य परम्परा में डा. श्रीप्रसाद का भी अपना स्थान है जो पिछले पचासेक वर्षों से अनवरत् बाल साहित्य सृजन कर रहे हैं। बालकों के लिए इन्होंने प्रभूत काव्य रचना की है। कविताओं की भी और शिशुगीतों की भी। प्रकाश मनु ने इनके विषय में लिखा है- "डा. श्रीप्रसाद ने बाल कविता में अपनी खास पहचान बनाई है और भाषा और लय के मामले में उसे समृद्ध करनेवाले कवियों में जिनका नाम बड़े ही सम्मान से लिया जाता है।" (*हिंदी बाल कविता का इतिहास*, पृ. 75)। इन्होंने अनेक बाल कहानियों की भी रचना की है। बाल साहित्य का शोध अध्ययन किया है तथा बाल साहित्य सृजन के लिए सर्वोच्च बाल साहित्य सम्मान 'बाल साहित्य भारती' भी प्राप्त किया है। स्वीडिश भाषा के विश्व बाल काव्य संग्रह में भारत से इन्हें सम्मिलित किया गया है। इस संग्रह में एक देश से एक कवि संकलित किया गया है और सतहत्तर देशों की बाल कविताओं का यह संग्रह है। संग्रह में प्रस्तुत कविता ली गई है जो बाल पाठकों में बहुत लोकप्रिय है :

बिल्ली बोली, बड़ी जोर का
मुझको हुआ जुकाम
चूहे चाचा, चूरन दे दो
जल्दी हो आराम
चूहा बोला, बतलाता हूं
एक दवा बेजोड़
अब आगे से चूहे खाना
बिलकुल ही दो छोड़।

बिल्ली चूहे की तुलना में हमेशा बाजी मारती रही है। पर यहां बिल्ली चूहे के आगे नतमस्तक है। यह नई सामाजिक चेतना की ओर संकेत है।

बाल समाज में इनके गीत और कविताएं लोकप्रिय हैं। कविताओं का फलक भी बहुत व्यापक है और शिशुगीतों का भी। अब तक इनकी पचास से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें उपन्यास और नाटक संग्रह भी हैं। इनकी प्रमुख कृतियां हैं- *मेरा साथी घोड़ा, फूलों के गीत, गुड़िया की शादी, ढोल बजा, गीत बचपन के, रिक्शावाला, आंगन के फूल, खिड़की से सूरज, आ री कोयल, फ्लोरेंस नाइटिंगेल, शाबाश श्यामू और मीठे-मीठे गीत* आदि।

इधर कुछ समय से नई ताजगी के साथ बाल साहित्य में आए डा. अमिताभ शंकर राय चौधरी अपनी गहरी संवेदनशीलता की विविध आयामी बाल कहानियों के चलते चर्चित बाल साहित्यकार हो गए हैं। डा. राय चौधरी की कहानियों में पारिवारिक जीवन की अच्छी पकड़ है। कहानियों की भाषा बाल पाठक को बांधती है तो नाटकीयता कहानियों को स्वाभाविकता प्रदान करती है। पौराणिक विषयों को आज के परिवेश में प्रस्तुत करते हुए भी आपने कई रोचक कहानियां लिखी हैं। इन कहानियों में मानवीय मूल्य भी संकेत रूप में है। पत्र-पत्रिकाओं में इनकी अनेक कहानियां अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें प्रमुख हैं- 'दीदी का भैया', 'गुल्ली डंडा', 'लालची', 'कागज की नाव', 'विदाई', 'भैयादूज', 'पता' और 'पीपल का पेड़' आदि। काव्यात्मक भाषा इनकी कहानियों में विशेष सौंदर्य पैदा करती हैं। पौराणिक पृष्ठभूमि पर रची कहानी 'भैयादूज' का एक अंश है- "कौशल्या बोलीं- बहन नहीं है तो क्या हुआ? तुम चारों भाई तो हम तीनों के जनम-जनम की तपस्या का फल हो। सपनों के आकाश से जो तारे हमारे आंचल में आ गिरे-तुम वही फूल हो।" (*बाल भारती*, नवंबर 2005, पृ. 9)।

उषा विमलांशु ने भी बाल कहानियों के क्षेत्र में विशेष पहचान बनाई है। बालिकाओं के जीवन का चुलबुलापन इनकी ही कहानियों में दिखाई दिया, जो 'खोटी चुअन्नी' और 'परांदा' जैसी कहानियों में है। भाषा की सरलता और नाटकीयता इनकी बाल कहानियों में भरपूर है। कहानियों के कथानक आत्मीय परिवेश से लिए गए हैं :

"सावनी आज बहुत खुश थी।

कुंतों, कुंतों, मेरे घर चलो।

क्यों, मैंने कहा।

मेरे बाबाजी, मेरे लिए एक चीज लाए हैं।"

(*सांवली*, पृ. 1)

उषा विमलांशु की कुछ महत्त्वपूर्ण बाल कहानियां हैं- 'रामलीला', 'रग्घू चाचा', 'समाधान', 'क्रिसमस', 'जन्मदिन', 'परांदा' और 'होमवर्क' आदि। इनकी कहानियों में पहाड़ी अंचल की भी सुंदर छाप है।

धर्मेन्द्र कुशवाहा और राजशेखर भी बच्चों के लिए साहित्य सृजन कर रहे हैं। पर धर्मेंद्र की कविताएं पारंपरिक विषयों पर अधिक हैं। जैसे :

मेरे घर में आती चिड़िया
क्या संदेशा लाती चिड़िया
सुबह-सुबह छत पर आ जाती
मीठे-मीठे बोल सुनाती ....

(*हिंदुस्तान*, 12 नवंबर 2005)

इसी प्रकार डा. शोभनाथ लाल ने भी बनारस के बाल साहित्य सृजन में अपना स्थान बनाया है। उन्होंने कविताएं भी लिखी हैं और कहानियां भी। उनकी कृतियां हैं- *ता ता थैया, गुलाब और चंपा, हंसते फूल तथा प्रेरक कथाएं* आदि। उनकी बाल कविताओं में विषय की नवीनता भी है और चुटीलापन भी। बच्चों की मनोभूमि पर उनकी कविताएं खरी उतरती हैं :

रंग बिरंगी प्यारी तितली
उड़कर पहुंची एक शहर में
बड़े-बड़े मंसूबे उसने
बांधे थे, जब चली डगर में।
काले धुएं उगलती चिमनी
पहले पहल देख घबड़ाई
घुटने लगा तुरत दम उसका
जाए कहां कुछ समझ न पाई...

(*तितली लौट आई*)

बड़ों के साहित्य सृजन में बनारस की छवि चर्चा का विषय रही है। बाल साहित्य सृजन में भी बनारस कम विशिष्ट नहीं है, पर बड़ों का साहित्य बड़ों का होता है और बच्चों का साहित्य बच्चों का। बनारस ने इस अंतर को समझा है तथा बाल साहित्य की परम्परा में महत्वपूर्ण योगदान किया है।□

काशी की अनूठी संगीत–साधना

संगीत के हर क्षेत्र में काशी की अनूठी परम्पराएं हैं / यहां के गायक, वादक और नृत्य–कलाकार पूरे देश में कला–प्रदर्शन के लिए आमंत्रित होते हैं / काशी का एक मुहल्ला कबीरचौरा है जहां कबीर का मठ है / कबीर इसी मुहल्ले में रहते थे / इस मुहल्ले के हर घर में गायन, वादन और नृत्य के सुविख्यात कलाकार हैं / वे 'कथक' कहे जाते हैं / तबले का 'बनारसी घराना' इसी मुहल्ले में जन्मा / सुप्रसिद्ध तबला वादक किशन महाराज इसी मुहल्ले की देन हैं काशी की अनूठी संगीत साधना का परिचय दे रहे हैं **पारसनाथ सिंह**

पौराणिक कथानुसार महादेव शिव ने काशी में तांडव नृत्य किया और नटराज रूप में काशी को अपना धाम बनाया इसलिए काशी नगरी अनादि है। इसका रूप-रंग, नियम-उपनियम और परम्पराएं अतीत से अनुबद्ध हैं। संगीत, साहित्य और कला का इसका इतिहास अति प्राचीन काल से निबद्ध है। *स्कंदपुराण* के अंतर्गत काशी खण्ड में इसकी परम्पराओं का उल्लेख है। यहां की संगीत-साधना भी काल-प्रवाह में आधुनिकता को ग्रहण करती रही है, लेकिन व्यवस्थित इतिवृत्त सुलभ नहीं है, जनश्रुति एवं लोकमानस में बहुत-कुछ जीवित है।

शक्तिपीठ होने से यहां मुख्य रूप से धार्मिक कार्य होते रहे हैं। वेदों की ऋचाओं का गायन होता था। उपासना-स्थानों तथा मन्दिरों में भजन और कीर्तन होते रहे हैं। रामलीला, कृष्णलीला और वामनलीला का प्रचलन रहा है जिसका प्राण संगीत होता था। लय और स्वरबद्ध गायन-वादन से काशी नगरी का लोकजीवन में प्रशंसनीय स्थान माना जाता है। समय के थपेड़ों में परंपराओं में नई-नई चीजें शामिल होती रहीं। इससे संगीत में निखार भी आता गया। समय-समय पर बाहर के सर्वोत्तम तत्व इसमें और आत्मसात होते रहे। इसलिए प्राचीनकाल से काशी संगीतज्ञों, साहित्यकारों और कलाकारों का मान्य केंद्र बना रहा। इसकी पाण्डित्य परम्परा, कला-साधना और संगीत में नई-नई उपज ग्रहण होती रही।

संगीत क्षेत्र में काशी की अपनी विशेषता है। यहां नए-नए प्रयोग हुए, बाहर की अच्छी से अच्छी चीजें परम्परा में शामिल की गईं। राजा-महाराजों के दरबारों में तथा रईसों की महफिलों में यहां के कलाकार अपने कला प्रदर्शन के लिए सादर आमंत्रित और पुरस्कृत होते रहे हैं। पास-पड़ास तथा सुदूर नगरों के कलाकार प्रशिक्षण के लिए यहां आते थे और लौट कर अपने नगरों को गौरवान्वित करते थे। जौनपुर का संगीत घराना और अवध के नवाबों के दरबार काशी के कलाकारों से खुशनुमा होते रहे हैं। धार्मिक समारोहों के कारण काशी में संगीत की सुदीर्घ परम्पराएं निरंतर बिखरती रही हैं। शास्त्रीय संगीत से लोकगीत तक इसके दायरे में उत्तरोत्तर विकसित होते रहे हैं। धार्मिक समारोह के अलावा राज-दरबारों का आश्रय भी इनके विकास में बल प्रदान करता रहा है। हवेली-संगीत, भजन और सत्संग में संगीत की आवश्यकता होती थी।

काशी नरेशों ने शास्त्रीय संगीत के संवर्धन में कलाकारों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्रदान किया। 18वीं और 19वीं शताब्दियों में उपर्युक्त दरबारों से कलाकारों को अपनी साधना के विकास में प्रोत्साहन मिला। काशी नरेश महाराज बलवंत सिंह के दरबार में चतुरविहारी मिश्र, जगराजदास शुक्ला और कुशहाल खां जैसे गायकों ने अपने कला-प्रदर्शन से काशी की संगीत-परम्परा को समृद्ध किया। राजा चेतसिंह (1770-1781) के दरबार में दुलारी, किशोरी रज्जन, रुक्मिणी और चिंतनबाई गायिकाओं से दरबार का संगीत-समारोह दूर-दूर तक चर्चित होता था। मुगल बादशाहों के ढलते शासन से दो दरबारी गायक जीवन साह और प्यारे खां वाराणसी आए। उन्हें काशी नरेश महीपनारायण सिंह (1781-1795) ने आश्रय प्रदान किया। इससे स्पष्ट है कि काशी की संगीत परम्परा में बाहरी कलाकारों का अत्यधिक आकर्षण रहा है। सभी काशी नरेश शास्त्रीय संगीत के परम अनुरागी और संरक्षक रहे हैं।

संगीत के हर क्षेत्र में काशी की अनूठी परम्पराएं हैं। यहां के गायक, वादक और नृत्य कलाकार पूरे देश में कला प्रदर्शन के लिए आमंत्रित होते हैं। उनकी कलाओं का विवेचन इस छोटे आलेख में संभव नहीं। फिर भी संगीत की काशी परम्पराओं का निचोड़ दिया जा रहा है। यहां ठुमरी के भारत-प्रसिद्ध गायक पंडित जगदीप की चर्चा अत्यधिक प्रासंगिक है। जगदीप काशी के कबीरचौरा मुहल्ले के निवासी थे। किसी संगीत समारोह में आमंत्रित थे। देर रात में जब वे घर लौटे तब दरवाजा बंद था। उन्होंने दरवाजे की सिकड़ी देर तक खटखटाई। कोई जाग न सका। तब उन्होंने सिकड़ी बजा-बजाकर 'बादशाह की ठुमरी' गाना शुरू किया। उससे ऐसा शमा बंधा कि लोग जग गए। सिकड़ी की आवाज़ स्वर-ताल में निबद्ध थी। सुनने के लिए भीड़ इकट्ठी हो गई। वे बहुत देर तक गाते रहे। लोगों का कहना है कि ऐसी ठुमरी उन्होंने कभी नहीं सुनी थी।

ठुमरी के पंजाबी अंग के भारत प्रसिद्ध गायक उस्ताद मौजुद्दीन खां (1840-1990) वाराणसी की संगीत परम्परा से प्रभावित होकर वाराणसी आ गए। लखनऊ के नवाब उनकी ठुमरी सुनकर उनको मुंहमांगा इनाम देते थे।

पं. राम सहाय

लेकिन वाराणसी के गायकों के प्रति उनका बहुत ऊंचा ख्याल था। वे वाराणसी के कलाकारों को जीतना चाहते थे। उन्होंने दो घंटे तक ठुमरी गाकर सुबुद्ध श्रोताओं का मन जीत लिया। तारीफ करने वालों की भीड़ इकट्ठी हो गई। इससे वे बहुत खुश हुए। उन्होंने कहा कि सुनने और समझने वालों की ऐसी भीड़ हमने वाराणसी में ही देखी। लेकिन जगदीप की ठुमरी सुनकर वे उनके पैरों पर गिर पड़े। जगदीप की ठुमरी के बोल थे-

ठाढ़ी गोरी चितवत बदरिया की ओर ।

वे ठुमरी की बोल-बनावट पर घंटों श्रोताओं को रिझाते रहे। उस्ताद मौजुदीन खां काशी की उच्चतम संगीत-परम्परा से प्रभावित होकर मृत्युपर्यन्त काशी में रह गए।

काशी का एक मुहल्ला कबीरचौरा है जहां कबीर का मठ है। कबीर इसी मुहल्ले में रहते थे। उस मुहल्ले के हर घर में गायक, वादक और नृत्य के देश में सुविख्यात कलाकार हैं। वे 'कथक' कहे जाते हैं। तबले का 'बनारसी घराना' इसी मुहल्ले में जन्मा। तबले के एक-से-एक उस्ताद हुए। वर्तमान में पद्मविभूषण किशन महाराज इसी मुहल्ले की देन हैं। पंडित कंठे महाराज, अनोखे लाल, गोदई महाराज प्रभृति अनेक कलाकार हुए। कुछ तबला-वादक विदेशों में जाकर बनारस घराने के सिरताज हैं। ठुमरी-गायकों में बड़े रामदास, छोटे रामदास की कीर्ति आज तक संगीतकारों को प्रोत्साहित करती है। नृत्य में शुकदेव महाराज अनूठे कलाकार थे। उनके पूरे परिवार ने नृत्य की दुनिया में अपना स्थान बना लिया है।

तबला-वादन में 'बनारस घराना' सारे देश में सुप्रसिद्ध है। इस घराने के प्रवर्तक पंडित रामसहाय थे जिन्होंने लखनऊ के नवाब की महफिल में लगातार रात-दिन तबला-वादन कर ऐसा कीर्तिमान स्थापित किया कि आज तक उस स्तर तक कोई पहुंच नहीं सका।

सिद्धेश्वरी देवी

उस्ताद रामसहाय ने तबला-वादन का जो घराना कायम किया वह 'बनारसी बाज' के नाम से प्रचलित है। इस बाज की अपनी खास विशेषता है। गायन, वादन और नृत्य में इसका तालमेल अनूठा स्वीकार किया जाता है। गायन में अनोखे लाल, वादन में पण्डित कंठे महाराज और नृत्य में पण्डित किशन महाराज की संगत बेमिसाल मानी जाती है। इस घराने की शिष्य परम्परा आज संगीत क्षेत्र में अत्यंत प्रशंसित हैं। इस घराने में लड़ंत की भी कला है। पण्डित शामता प्रसाद उर्फ गोदई महाराज इस कला में माहिर थे। बड़े-बड़े संगीत सम्मेलनों में उन्होंने 'बनारस बाज' की कलाकारी का प्रशंसनीय स्तर स्थापित किया था। इस घराने के अनेक कलाकार विदेशों में आज कीर्ति पताका फहरा रहे हैं।

पं. कंठे महाराज

शास्त्रीय संगीत की प्रचलित सभी विधाओं में वाराणसी का अपना अनुकरणीय स्थान है। जब प्रबंध संगीत और ध्रुपद का युग था तब भी बनारस के कलाकारों का स्थान था। काशी की संगीत परम्परा को जीवित रखने के लिए महामना मदनमोहन मालवीय ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय में संगीत महाविद्यालय की स्थापना की। उस महाविद्यालय के आचार्य थे पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर। उन्होंने संगीत साहित्य का निर्माण कर भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर प्राचीन और नवीन पद्धतियों का मूल्यांकन किया। हिंदुस्तानी संगीत की गिरती हुई स्थिति को उठाने में पण्डित विष्णु दिगम्बर की देन इतिहास का अमोल धरोहर है। पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर, विनायक राव पटवर्धन प्रभृति उसी गुरु परम्परा में संगीत के चमकते सितारे थे। ओंकारनाथ ठाकुर ने काशी में रहकर अपनी गुरु परम्परा के अनुकूल हिंदू विश्वविद्यालय में शास्त्रीय संगीत का स्तरोन्नयन करने में जो योगदान किया, वह इतिहास की गरिमा है।

बनारस में सियाजी, सुमेरुजी, शम्भूजी आदि अन्यतम सारंगी-वादक हुए हैं। मगर कहा जाता है, सारंगी का बनारस घराना पण्डित गोपाल मिश्र के खानदान से ही शुरू हुआ। गोपालजी के परदादा थे पण्डित रामबख्श मिश्र और उनके दो पुत्र- पण्डित गणेश प्रसाद मिश्र और पण्डित शीतल प्रसाद मिश्र सारंगी वादन में दक्ष थे। गोपाल जी के बड़े भाई पण्डित हनुमान मिश्र भी सारंगी वादक हैं। इस घराने की वादन शैली ही अलग है। इस शैली की विशेषता यह है कि पहले सारंगी में विलम्बित, जोड़, झाला, ठोंक बजता था, फिर खयाल। बनारस की खास चीज थी टप्पा, जो यहां से शुरू हुआ। पंद्रह अगस्त 1921 को बनारस में जन्मे गोपाल मिश्र ने 22 जनवरी 1977 को हमेशा के लिए आंखें मूंद लीं।

भारतीय संगीत के अध्येता और गायन के साथ ही विचित्र वीणा, तबला, सितार, सरोद, जलतरंग, नलतरंग, तबला तरंग, काष्ठ तरंग आदि वाद्य-यंत्रों के निष्णात वादक डॉ. लालमणि मिश्र का जन्म 11 अगस्त 1924 को कानपुर में हुआ, लेकिन उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग बनारस में ही बिताया डॉ. लालमणि मिश्र काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में वाद्य संगीत विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष रहे। 17 जुलाई 1979 को उन्होंने इस संसार से हमेशा के लिए विदा ले ली।

बिस्मिल्ला खां

संगीत साधना के लिए काशी में अनेक संगठन और समितियां कायम हैं जो युवाओं को प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान करते हैं। काशी की 'संगीत परिषद' ने शास्त्रीय संगीत को बल प्रदान करने तथा उसकी जीवंतता कायम रखने में प्रशंसनीय प्रयास किया है। उसके प्रयास, प्रोत्साहन और सहयोग से अनेक कलाकार कलाजीवी बने। परिषद वर्ष में एक बार भारतीय स्तर पर संगीत सम्मेलन का आयोजन करती थी। उसमें देश के नामी-गिरामी कलाकार कला-प्रदर्शन के लिए आमंत्रित होते थे। भारत के प्राय: सभी क्षेत्रों के यशस्वी कलाकार उसमें भाग लेते थे। पण्डित रविशंकर और उस्ताद विलायत खां (सितार) की युगलबंदी जिन संगीत-प्रेमियों ने देखी होगी, उसकी सुखद स्मृति आज भी आनन्दित करती होगी। ऐसा देखा गया है कि बड़े-बड़े कलावन्त अपनी संगीत साधना की परीक्षा देने के लिए काशी के संगीत सम्मेलनों में भाग लेने के लिए उत्सुक रहे हैं। यदि यह कहा जाए कि काशी उभरते संगीतज्ञों के लिए प्रोत्साहन और परीक्षा-भूमि है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

गिरजा देवी

मंगलामुखियों का भी यह क्षेत्र रहा है। विद्याधरी की प्रतिभा युगान्तकारी मानी जाती थी। उसने 'गीत गोविन्द' गाकर राजा-महाराजों को विमोहित किया था। उसकी कला और गायन-पद्धति का सारे देश में सम्मान था। उसी प्रकार रसूलन बेगम की संगीत की दुनिया में ख्याति थी। खयाल, टप्पा और ठुमरी में उसका स्थान अपने समय में निराला था। उसकी स्मृति-रक्षा में डाक्यूमेंट्री बनाई जा रही है। देश के बड़े-बड़े संगीत-सम्मेलनों में उसने काशी की गायकी-पद्धति, खासकर ठुमरी की बोल-बनावट का जो ठाट प्रस्तुत किया था, उसको आज भी संगीत के प्रेमी याद कर दाद देते हैं।

बेजोड़ ठुमरी गायिका सिद्धेश्वरी देवी को सुप्रसिद्ध गायक उस्ताद फयाज़ खां ने 1940 में ठुमरी-सम्राज्ञी की संज्ञा दी थी। सिद्धेश्वरी देवी को संगीत वस्तुत: विरासत में मिला। उनका जन्म बनारस में 8 अगस्त 1908 को संगीतज्ञों के घराने में हुआ। उनके नाना बदरी राय तत्कालीन काशी नरेश के दरबार में तबला-वादक थे और दादी मैनाबाई अपने समय की प्रसिद्ध गायिका थीं। देश का शायद ही ऐसा कोई कोना बचा हो जहां सिद्धेश्वरी ने संगीत का कार्यक्रम न दिया हो। जब वह एक कान पर हाथ रखकर स्वर और काव्य का समन्वित रूप खड़ा करती, तो लगता स्वयं वाग्देवी उन्हें वरदान दे रही हैं। उन्होंने अपनी दानेदार बुलंद और रसीली आवाज से ठुमरी, दादरा, टप्पा, पूर्वी, कजरी, चैती, होली आदि बनारसी ढंग की गायकी को नया आयाम प्रदान किया।

एक बार मुंबई के संगीत सम्मेलन में देश के बड़े-बड़े कलाकार आए थे। सबसे पहले बनारस की शान बिस्मिल्ला खां ने सवेरे शहनाई से सम्मेलन की शुरूआत की। इसके बाद ही सिद्धेश्वरी का कार्यक्रम था। उन्होंने उस दिन भैरवी में ठुमरी 'काहे को डारी गुलाल रे ब्रजलाल कन्हाई' कुछ इस तरह से गाई कि फैयाज़ खां ने गद्गद होकर कहा- ''गौहर जान और मलका के बाद ठुमरी पर हक सिद्धेश्वरी का ही है।''

एन. राजम्

संगीत परम्परा में जिन महिला साधकों ने बनारस का नाम ऊंचा किया है उनमें गायन में गिरजा देवी और वायलिन वादन में डॉ. एन. राजम् प्रमुख हैं।

काशी का बुढ़वा मंगल संगीत-माधुरी से ओत-प्रोत था। पूरे देश में यह अपने ढंग का संगीत-संगम था। गंगा नदी के वक्षस्थल पर नावें सजतीं और उन पर संगीत की लहरियां उठतीं। नावों पर सजावट होती, रईस-रजवाड़े थैलियां खोल देते और चांद की चांदनी में रस-विभोर हो जाते। यद्यपि वह बहार अब समाप्त हो गया तथापि संगीत की मादकता और मधुरिमा से काशी आज भी मस्तमौला है। तुलसीदास ने कहा था 'सेई कासी सेई कसन' अर्थात् उस काशी का सेवन क्यों नहीं करते जहां शिव-पार्वती का निवास है। काशी परम्परा पालकों की भूमि है, इसे आनन्दवन कहा जाता है इसीलिए कि यहां रसमाधुरी है। □

लोकरंजन की अनूठी परम्परा : 'लाखवा' मेले

***काशी के धार्मिक स्थलों एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ ही सुप्रसिद्ध मेलों का अपना ही आकर्षण है। इन्हीं मेलों में से कुछ ऐसे हैं जिनमें लाखों की भीड़ एकत्र होती है। तुलसीघाट का 'नागनथैया मेला' हो या चेतगंज की 'नक्कटैया' का मेला या 'नाटी इमली का भरत मिलाप' या 'बुढ़वा मंगल'। इन मेलों में दर्शनार्थियों की संख्या एक लाख से अधिक हो जाती है। इसलिए इन सभी मेलों को लक्खी मेला का दर्जा प्राप्त है। काशी के लाखवा मेलों का वर्णन कर रहे हैं* प्रो. रामmोहन पाठक**

परम्परागत माध्यमों का सूचना, शिक्षा और मनोरंजन के क्षेत्र में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वस्थ मनोरंजन से 'लोक' को जोड़ने के अद्‌भुत प्रयास के रूप में काशी के विख्यात 'लक्खी' मेले जो पर्व-उत्सव के रूप में काशी की बहुरंगी सांस्कृतिक परम्परा के अटूट अंग हैं, प्रतिवर्ष एक विशेष संदेश लेकर आते हैं। आमजन के विशेष उमंग-उत्साह और सक्रिय सहभागिता का वातावरण तैयार करते हैं। कृत्रिमता और आधुनिकता से कहीं दूर लोक रस-रंग से सराबोर इन मेलों-उत्सवों में आमजन से लेकर 'भद्रजन' तक की समान सहभागिता इन मेलों की अपनी विशिष्टता है। खासकर काशी के पारम्परिक, सामाजिक, पारिवारिक परिवेश में आमतौर पर पहले भी महिलाएं घर की ड्योढ़ी से निकलकर इन मेलों में उल्लास के साथ सम्मिलित होती थीं और इन आयोजनों को बहुविध भव्यता प्रदान करती थीं। लगभग तीन-चार सौ वर्षों के इतिहास की आधारभूमि पर निर्मित इन मेलों की भावभूमि और निरंतरता सभी को आकर्षित तथा चकित कर देती है। आधुनिक चकाचौंध वाले माध्यमों की बढ़ती पहुंच और प्रचार-प्रसार के बावजूद इन मेलों का आकर्षण बने रहना इनकी अक्षय सांस्कृतिक ऊर्जा का आभास कराता है।

काशी के धार्मिक स्थलों एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ ही सुप्रसिद्ध मेलों का अपना ही आकर्षण है। इन्हीं मेलों में से कुछ ऐसे हैं जिनमें लाखों की भीड़ एकत्र होती है। इन मेलों को काशी में 'लक्खी मेले' के नाम से अभिहित किया गया है। तुलसीघाट का 'नागनथैया मेला' हो या 'चेतगंज' की 'नक्कटैया' का मेला या 'नाटी इमली का भरत मिलाप' या 'बुढ़वा मंगल'। इन मेलों में दर्शनार्थियों की संख्या एक लाख से अधिक हो जाती है। इसलिए इन सभी मेलों को लक्खी मेला का दर्जा प्राप्त है। कृष्णलीला या रामलीलाएं तो देश भर में विभिन्न राज्यों में यहां तक कि विदेशों में भी आयोजित की जाती हैं, लेकिन काशी की रामलीलाएं अपनी परम्परागत रूप-शैलियों के कारण लाखों दर्शकों को अपनी ओर खींचती हैं। इसी तरह 'बुढ़वा मंगल' के मेले की भी देश ही नहीं विदेशों तक ख्याति रही है।

नाटी इमली भरत मिलाप

नाटी इमली का भरत मिलाप काशी की प्रसिद्ध चित्रकूट रामलीला का अंग है। इस प्रसिद्ध रामलीला के प्रवर्तक मेघा भगत थे। मेघा भगत का नामकरण स्वयं गोस्वामी तुलसीदास ने किया था। वैसे उनका नाम नारायण दास था। जनश्रुति के अनुसार जब तुलसीदास महाप्रयाण की तैयारी कर रहे थे, मेघा भगत व्याकुल हो उठे। वे तुलसीदास के पहले ही आत्महत्या के लिए प्रस्तुत हो गए। तुलसीदास जी ने उनको समझाया और सान्त्वना दी। अंततः तुलसीदास ने अपने इस भक्त को हनुमान जी के श्री विग्रह के पास बैठाकर कहा कि इनका ध्यान अपने हृदय में संचित करो। यह जो प्रेरणा दें, वही करो। अपनी संपूर्ण निष्ठा इन्हीं को अर्पित कर दो। गोस्वामी जी ने महाप्रयाण के बाद भी मेघा भगत अन्न-जल त्यागकर विलाप करते रहे। गोस्वामी जी की श्राद्ध क्रिया बीत जाने पर एक दिन-अर्द्धरात्रि में सहसा उनको ऐसा आत्मबोध हुआ कि मारुति मूर्ति अयोध्या जाने का आदेश दे रही है। मेघा भगत उसी अर्द्धरात्रि में अयोध्या की ओर चल पड़े। अयोध्या पहुंच कर सरयूतट पर बैठकर ध्यानमग्न हो गए। उसी समय दो सुंदर बालक खेलते हुए वहां आए और अपने धनुष-बाण इनको सहेजकर चले गए कि हम अभी आकर ले लेंगे। मेघा भगत दोनों बालकों के धनुष-बाण की रखवाली करते रहे। सुबह से शाम हो गई लेकिन बालक धनुष-बाण लेने नहीं लौटे। रात आई, लेकिन मेघा भगत धनुष-बाण लौटाने की चिंता में न तो कहीं जा पाए और न ही सो पाए। कुछ झपकी-सी आई तो स्वप्न में किसी ने कहा कि कलिकाल में भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन दुर्लभ है। तुम काशी चले जाओ और वहां रामलीला का आयोजन करो। भरत मिलाप के समय तुमको दर्शन होंगे।

स्वप्न भंग होते ही मेघा भगत काशी की ओर चल पड़े और दोनों धनुष-बाण भी निधि के रूप में साथ लेते आए। काशी आकर इन्होंने 'रामलीला' प्रारंभ की। मेघा भगत द्वारा प्रचलित यही रामलीला 'चित्रकूट' की रामलीला के नाम से प्रसिद्ध है। इस रामलीला का 'भरत मिलाप' नाटी इमली नामक स्थान पर होने के कारण इस मेले को नाटी इमली का 'भरत मिलाप' मेला भी कहा जाता है। मान्यता है कि इसी दिन मेघा भगत को भरत मिलाप में भगवान राम-लक्ष्मण के दिव्य दर्शन हुए। लीला के सम्मान में काशी की सारी लीला बंद रहती हैं। स्वयं काशी नरेश स्वर्गीय डा. विभूति नारायण इस झांकी के दर्शन के लिए हाथी पर सवार होकर उपस्थित रहते थे। उनके निधन के बाद राज परिवार के कुंवर अनंत नारायण सिंह इस परम्परा का निर्वहन करते हैं।

नाटी इमली का 'भरत मिलाप' अब भी होता है। इस लीला का विमान काशी के यादव बंधु अपनी विशेष वेश-भूषा (लाल पगड़ी) में उठाते हैं। अपार जनसमूह की लहरों के बीच जब विमान लहराता हुआ चलता है तो

इसकें वाहक भीड़ में छिप जाते हैं। उस समय ऐसा लगता है कि यह विमान जनसमूह के ऊपर स्वयं संचालित रूप में जनसमुद्र की लहरों पर लहराता हुआ आग बढ़ रहा है।

लाखों की भीड़ संतृप्त भाव से भरत मिलाप की छवि को आंखों में संजोए हुए लौटती है। पूरा क्षेत्र विशाल मेला क्षेत्र का रूप धारण कर लेता है। स्त्री-पुरुष सभी विशेष उल्लास के रस में सराबोर दिखाई पड़ते हैं। काशी में आश्विन शुक्ल एकादशी का यह दिन (विजयादशमी का अगला दिन) महोत्सव का दिन बन जाता है।

चेतगंज नक्कटैया

काशी की सभी रामलीलाओं में 'नक्कटैया' को विशेष महत्त्व प्राप्त है। चेतगंज की 'नक्कटैया' काशी में दूसरे लक्खी मेले के रूप में प्रसिद्ध है। इस लीला के प्रति लोगों का, जिनमें बाल, वृद्ध, नर-नारी सभी होते हैं, विशेष आकर्षण रहता है। इसमें खरदूषण और शूर्पणखा युद्ध के जुलूस पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस लीला की प्रसिद्धि के पीछे एक ऐतिहासिक तथ्य छिपा है। बताया जाता है कि 1857 के गदर के बाद अंग्रेजों के अत्याचारों से जनजीवन आक्रांत हो उठा था। अपने ही नगर में लोग अपमानित किए जाते। काशी के राजपरिवार और मुखिया चेतसिंह के साथ जैसा व्यवहार अंग्रेजों ने किया, जनता उससे क्षुब्ध थी। अपने क्रोध को प्रकट करने के लिए काशीवासियों ने 'नक्कटैया' को माध्यम बनाया। इस जुलूस के 'स्वांग' से अंग्रेजों के विदेशी स्वरूप को उजागर किया गया और 'स्वांगों' और 'लोगों के माध्यम से उनकी खूब खिल्ली उड़ाई गई। उस युग की 'नक्कटैया' में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के 'लाग' और 'विमान' निकाले जाते थे। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के दृश्य, काशी में चेतसिंह के साथ अंग्रेजों की लड़ाई, हाथी पर जोन, घोड़े पर हौदा आदि दृश्यों के साथ ही कुशासन, अत्याचार का विद्रूप जनमानस की भावना उद्घाटित करता था।

वाराणसी में नक्कटैया का यह क्रम 1920 में महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन के समय बदला। उन दिनों नक्कटैया में नमक सत्याग्रह, विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार आदि के दृश्य स्वांग, लाग आदि के रूप में प्रदर्शित किए जाने लगे। उस युग में नक्कटैया को जनचेतना, राष्ट्रभक्ति और राजनीतिक चेतना के प्रसार का औजार बनाया गया। सुखदेव, भगत सिंह, राजगुरु की फांसी के दृश्य दिखाए गए। साथ ही सामाजिक बुराइयों को भी प्रदर्शित किया गया, जैसे बाल विवाह, हरिजन समस्या, दहेज की बुराइयां आदि। इस तरह के स्वांगों और लागों का प्रयोग चेतगंज की नक्कटैया में किया गया, तभी से इसका आकर्षण बढ़ा। राष्ट्रीय चेतना के इस युग में राष्ट्ररत्न शिवप्रसाद गुप्त, प्रो. रामदास गौड़ डा. भगवान दास, डा. संपूर्णानन्द, श्री श्रीप्रकाश, आचार्य नरेन्द्र देव जैसे लोगों ने 'नक्कटैया' को नया-नया रूप प्रदान करने में बौद्धिक सहयोग और मार्गदर्शन किया।

चेतगंज की 'नक्कटैया' करीब एक शताब्दी पूर्व बाबा फतेराम ने प्रारंभ की थी। उन्होंने चेतगंज रामलीला समिति की स्थापना की तथा अपनी सारी संपत्ति रामलीला समिति को दे दी। बाबा ने अपने समय में लीला चलाने के लिए चंदे की व्यवस्था की। बाद में काशी के रईसों तथा सेठ-साहूकारों ने इस लीला में उत्साह से भाग लेना प्रारंभ किया।

चेतगंज की 'नक्कटैया' में विमानों का विशेष महत्त्व था। नगर के महाजन इस नक्कटैया में अपने 'विमान' निकालते थे। विमानों की सजावट में रईसों की आपसी प्रतिस्पर्धा चलती थी। पूरे नगर में विमानों की चर्चा होती थी। जिस विमान को अधिक सराहना मिलती थी, उसी को सर्वोत्तम माना जाता था। विमानों को सोना, चांदी, हीरे-मोती से भी सजाया जाता था। विमान झाड़-फानूसों से भी सजाए जाते थे। विमान पर घर के लड़कों को 'राजकुमार' बनाकर बैठाया जाता था।

विमान के बाद 'लाग' भी आकर्षण की चीज थे। उन दिनों 'लाग' भी पचास-साठ से अधिक रहते थे। 'लागों' की करामात 'ट्रिक' पर निर्भर रहती थी। इस क्रम में 'स्वांग' प्रायः बैलगाड़ियों पर रहते थे। कुछ स्वांग वाले पैदल भी रहते थे। राष्ट्रीय आंदोलन के समय 'स्वांग' में राष्ट्रीय चेतना से संबंधित 'स्वांग' निकाले जाने लगे थे। 'नक्कटैया' में काली जी की वेशभूषा में काली जी का चेहरा लगाए जवान व बच्चे पटा-बनौटी और तलवारबाजी का करिश्मा दिखाते हुए चलते थे।

चेतगंज की नक्कटैया के प्रति लोगों मे आकर्षण अब भी बना हुआ है। करवा चौथ की आधी रात्रि से प्रारंभ होने पर नक्कटैया के दर्शकों की संख्या में कमी नहीं हुई है। यह नक्कटैया प्रति वर्ष कार्तिक चतुर्थी (करवा चौथ) को ही होता है। पहले नक्कटैया कबीरचौरा स्थित एक बगीचे से प्रारंभ होती थी, अब नगर के मध्य स्थित मलदहिया से उठने लगी है। जनसमुद्र सारी रात पूरे मेला क्षेत्र में लहराता रहता है।

नागनथैया

रामलीला के साथ-साथ गोस्वामी तुलसीदास जी ने कृष्णलीला भी प्रारंभ की। काशी की कृष्णलीला तुलसीघाट (भदैनी) पर होती है। घाट के किनारे बने प्लेटफार्म पर लीला होती है और सीढ़ियों को जनता अपने बैठने का स्थान बनाती है। इस लीला के वर्तमान संचालक महंत डा. वीरभद्र मिश्र हैं। कृष्णलीला में कार्तिक शुक्ल चतुर्थी को 'नागनथैया' लीला होती है। काशी का यह तीसरा लक्खी मेला है जिसमें लाखों लोग श्रीकृष्ण को गंगा में कूदते और कालिया नाग को नाथते देखते हैं। नागनथैया लीला के दिन कृष्ण नाग पर खड़े होकर बांसुरी बजाते हुए नृत्य करते हैं।

तुलसीघाट की नागनथैया की झांकी केवल पांच मिनट की होती है। ग्वाल-बाल के साथ खेलते समय गेंद श्रीकृष्ण हाथों से उछलकर कालीदह (यमुना) में गिर जाती है। उनके साथी गेंद मांगते हैं। श्रीकृष्ण कदंब के पेड़ पर चढ़कर यमुना में कूद पड़ते हैं। कृष्ण के बाल साथियों मे हाहाकार मच जाता है। थोड़ी देर बाद श्रीकृष्ण कालिय नाग पर बांसुरी बजाते हुए निकलते हैं। यद्यपि ब्रजभूमि में होने वाली कालिय दमन लीला काशी में उस स्थान पर होती है जहां यमुना के स्थान पर गंगा बहती है और कदंब के स्थान पर विशेष प्रकार के कदंब के पेड़ का प्रयोग में लाया जाता है। लेकिन इस नयनाभिराम दृश्य को देखने के लिए उमड़ी भीड़ में यह दृश्य नितांत स्वाभाविक और वास्तविक लगने लगते हैं। आज के भौतिक युग में यह लीला काशी की जनता की श्रद्धा और विश्वास की चरम स्थिति का दर्शन कराती है। इस 'नाग नथैया' मेले में काशी नरेश स्व. डा. विभूति नारायण सिंह भी उपस्थित रहते थे और श्रीकृष्ण को भेंट स्वरूप स्वर्ण मुद्रा चढ़ाते थे। अब उनकी परम्परा को उनके पुत्र कुंवर अनंत नारायण सिंह उसी श्रद्धा के साथ निभाते हैं।

'नागनथैया' मेले में भगवान श्रीकृष्ण की यह झांकी ही लोगों के आकर्षण का केंद्र होती है। गंगा के गर्भ में जो कालिय नाग प्रकट होते हैं, वह लकड़ी के बने हुए होते हैं लेकिन असली कालिय नाग जैसे ही दिखाई पड़ते हैं। लीला इतने स्वाभाविक रूप में होती है कि उस क्षण घाटों पर एकत्र लाखों नर-नारी लोग कृत्रिमता की बारात भूल जाते हैं, और इतना अभिभूत हो उठते हैं कि उनके सामने बाल कृष्ण का रूप साकार हो उठता है।

शेष पृष्ठ ३६ पर जारी

काशी की नाट्य परम्परा

नाट्यशास्त्र के अनुशासन के बावजूद भारत की नाट्य परम्पराएं मूलतः आंचलिक और स्थानीय रही हैं। शायद नाट्य कला की मूल पद्धति ही उसे आंचलिकता से बांधे रहती है। वाराणसी की नाट्य परम्परा को खोजने की कोशिशों का जायजा इसी संदर्भ में लिया जाना चाहिए। यह जितना एकेडेमिक महत्व का है, इसका उतना ही महत्व नाट्यकर्मियों के लिए भी है। काशी की जननाट्य परम्पराओं की विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं **कुंवरजी अग्रवाल**

अलग-अलग शहरों की नाट्य परम्पराओं का जिक्र आने पर वाराणसी का स्थान संभवतः सबसे महत्वपूर्ण साबित होगा। महज इसलिए नहीं कि वाराणसी की नाट्य परम्परा बहुत पुरानी और अटूट सिलसिलों वाली है, बल्कि इसलिए भी कि वाराणसी की नाट्य परम्परा में सामान्य जनता के बृहत्तर कल्याण के प्रति जवाबदेही की भावना भी रही है।

आज अपनी परम्पराओं पर हमारा ध्यान नाट्य के संदर्भ में जितना गया है उतना शायद किसी दूसरी कला के संदर्भ में नहीं। पिछली लगभग डेढ़ शताब्दी से हम जिस नाट्य को अपने जीवन में स्थापित करने की पुरजोर कोशिशों में लगे हुए थे, वह अपनी सम्पूर्ण अवधारणा में विदेशी था। आज हम अपने समकालीन जीवन मूल्यों के संदर्भ में नाट्य की प्रासंगिकता नए सिरे से तलाश रहे हैं और इस खोज का एक महत्वपूर्ण आयाम पारम्परिक नाट्य है।

नाट्यशास्त्र के केंद्रीय अनुशासन के बावजूद भारत की नाट्य परम्पराएं मूलतः आंचलिक और स्थानीय रही हैं। शायद नाट्य कला की मूल पद्धति ही उसे आंचलिकता से बांधे रहती है। वाराणसी की नाट्य परम्परा को खोजने की कोशिशों का जायजा इसी संदर्भ में लिया जाना चाहिए। यह जितना एकेडेमिक महत्व का है, उतना ही महत्वपूर्ण नाट्यकर्मियों के लिए भी है।

वरुणा और गंगा के तट की यह भूमि, जिस पर आज वाराणसी बसी हुई है, शायद लाखों साल पहले ही मानव जाति से आबाद होती चली आई होगी? क्योंकि इसकी भौगोलिक परिस्थितियां आदि मानव के निवास के अनुकूल पड़ती थीं। वाराणसी के आस-पास के पहाड़ी इलाकों की प्राकृतिक गुफाओं और शिलाश्रयों में पाए जाने वाले आदि मानवों द्वारा उकेरे गए चित्र इस बात की पुष्ट गवाही देते हैं।

नाट्य भी अपने बीज रूप में आदिम चित्रों की भांति आदि मानव की ऐसी क्रियाओं से प्रस्फुटित हुआ है, जिन्हें हम आज रिचुअल की संज्ञा से पहचानते हैं। आदि मानव अपने शिकार में सफलता पाकर उसे अपनी गुफा में ले आते थे और वहां सोचते थे कि शिकार ने कृपा करके अपने आपको उन्हें सौंप दिया है ताकि वे अपनी भूख मिटा सकें। इसीलिए वे खाने के पहले उसके प्रति शुक्रिया अदा करते थे ताकि भविष्य में भी उन्हें शिकार मिलते रहें। वे उसे बीच में रखकर उसके चारों ओर घूमते हुए नृत्य-नाट्यमूलक गतियां करते थे, जिसमें शिकार की क्रियाओं का अभिनयन होता था। इसमें वे अक्सर शिकार की खाल और उसके सिर को ओढ़ भी लेते थे। इन्हीं क्रियाओं से नाट्य का रिचुअल वाला रूप बनता चला गया जो सारी दुनिया में अलग-अलग तरह के विकसित मानव समुदायों में तरह-तरह के लोकनाट्यों और पूजा-पाठ, जन्म-मरण, शादी-ब्याह के अवसरों पर रूढ़िगत तौर पर प्रस्तुत होता रहा।

वाराणसी में आर्येतर जनसमुदायों के बीच इस तरह के अनेक रूप प्रचलित रहे होंगे लेकिन यह कहना आज मुश्किल है कि शास्त्रीय नाट्यों पर इनका क्या प्रभाव पड़ा होगा; फिर भी नाट्य के जन्म के संदर्भ में नाट्यशास्त्र तथा अन्यत्र भी जो मिथक हमें उपलब्ध हैं उनके अनुसार नाट्य के स्वरूप विकास के संदर्भ में शिव का अन्यतम योगदान है। बल्कि इसीलिए वे नटराज भी कहे जाते हैं। और काशी का एक नाम 'अविमुक्तेश्वर' इसीलिए है कि शिव उसे छोड़कर कभी नहीं जाते। तब इस कल्पना को एक आधार जरूर मिलता है कि नाट्यशास्त्र और संस्कृतनाट्य के विविध रूपों में कहीं न कहीं काशी का महत्वपूर्ण योगदान होना चाहिए।

वह जमाना आद्य नाटकों का था। यह नाट्य कहीं तो नृत्यपरक था और कहीं गायनपरक। कहीं इसमें पुरुषों के युद्ध कौशल का प्रदर्शन था तो कहीं स्त्रियों की शृंगारिक लीलाओं का। इन्हीं में से नाट्याचार्य धीरे-धीरे संस्कृत के क्लासिकी नाट्य का विकास कर रहे थे और उसके लिए सिद्धांतों, नियमों, तकनीकों आदि का शास्त्र बना रहे थे। वाराणसी में राजघाट की खुदाई से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री और जातक कथाओं में आए संदर्भों में हमें इनके संकेत मिलते हैं।

कणवेरु जातक में काशी की श्यामा नामक गणिका अपने पलायित प्रेमी का पता लगाने के लिए नटों से सहायता लेती है। नटों का बहुत-सा धन देकर वह उनसे कहती है "तुम्हारे लिए कोई स्थान अगम्य नहीं है। इसलिए तुम गांव-गांव नगर-नगर में जाना और समज्य मंडल में लोगों की भीड़ इकट्ठी कर इस आशय का गीत गाना कि श्यामा जी रही है और केवल तुम्हारे लिए ही जी रही है। वह तुमसे प्रेम करती है और बस तुम्हीं से प्रेम करती है।"

राजघाट की खुदाई में दूसरी शती ई.पू. की पत्थर में उकेरी हुई स्त्री

की एक ऐसी प्रतिमा मिली है जो हाथ में दर्पण लेकर अपना शृंगार कर रही है। उसकी वस्त्र-भूषा, अंग-भंगिमा, मुख-मुद्रा सब कुछ उसके अभिनेत्री नर्तकी होने का प्रमाण दे रहे हैं। यहीं से मिली कुछ मृण्मूर्तियों में नाट्य की आनुषंगिक कलाओं जैसे गायन, वादन के कलाकारों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। किन्नर युगल की मृण्मूर्तियों तथा पार्श्वनाथ की प्रस्तर प्रतिमा के ऊपर नागफण पर उकेरी गई गायकों, वादकों की मूर्तियों द्वारा भी ऐसे ही प्रमाण मिलते हैं।

शृंगाररत नटी (ईसापूर्व दूसरी शती)
राजघाट, काशी से प्राप्त

संस्कृत के क्लासिकी शास्त्रीय नाट्य की परम्परा भी वाराणसी में खूब फली-फूली। उज्जयिनी, विदिशा, पाटलिपुत्र आदि की ही तरह वाराणसी में भी संस्कृत नाट्य की समृद्धि के सारे उपकरण मौजूद थे। प्रशिक्षित नाट्यकर्मी, कलाविलासी नागरिक, राजन्य और श्रेष्ठि वर्ग का धन ऐश्वर्य, बड़े-बड़े प्रासादों के प्रांगण और विशाल मंदिरों के नाट्य मंडप वाराणसी में नाट्य प्रयोक्ताओं को सहज सुलभ थे जिससे वे निश्चिंत होकर धीरललित नायकों और मुग्धा नायिकाओं को अनेकानेक भावों से भावित करते हुए शरीर, मन और बुद्धि से आरंभ होने वाले अनुभवों के सहारे आहार्य, आंगिक, वाचिक और सात्विक अभिनयों द्वारा रस सृष्टि कर विदग्ध प्रेक्षकों को उसमें आकंठ निमज्जित कर देते थे।

संस्कृत नाट्य के चरम विकास की वाराणसी गुप्त युग के बाद शेष भारत की तरह धीरे-धीरे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक बड़े परिवर्तनों के दौर से गुजरी। इस दौर में संस्कृत की क्लासिकी शास्त्रीय नाट्य परम्परा क्रमशः छीजती चली गई। उसके अंतिम दौर का एक उदाहरण हमें आठवीं शती की काशी पर आधारित *कुट्टनीमतम्* नामक ग्रंथ में मिलती है:

> महाराष्ट्र का एक युवा राजकुमार समर भट्ट काशी विश्वनाथ का दर्शन करने वाराणसी पहुंचा। दर्शन के बाद वह मंदिर के सभागार में अपने स्वागत में इकट्ठे सेठों, महाजनों, पुजारियों, पण्डितों के बीच बैठा। स्वागत की बहुत-सी औपचारिकताओं के बाद उसने नर्तकों, वंशीवादकों, गायकों और गणिकाओं के दल के बीच बैठे नृत्याचार्य से कहा अब कहिए आपका सांगीतिक कैसा है? तब नाट्याचार्य जो कुछ कहते हैं, उससे संस्कृत नाटक की पतनशील अवस्था का पूरा खाका खिंच जाता है:
>
> 'अब नाटक की हालत बड़ी पतली हो गई है। अब तो गुण ग्राहक राजाओं की जगह मोल भाव करने वाले बनिए ही नाटक चला रहे हैं। दूसरी ओर नर्तकियां ढीठ और धूर्त हो गई हैं। ऐसे में नाटक में सौष्ठव कहां से आ सकता है? अब तो नाटक करने के लिए नर्तकियां मिलती ही नहीं क्योंकि हम उन्हें पूरी जीविका दे नहीं पा रहे हैं। इसीलिए वे देह विक्रय की ओर ज्यादा झुकती जा रही हैं। वे अपना घर छोड़कर हटना ही नहीं चाहतीं और यदि रंगशाला में पहुंच भी जाती हैं तो जैसे ही यह सुनती हैं कि घर पर कोई आया है, भाग खड़ी होती हैं। अक्सर वे पूर्ण युवती होने के पहले ही दिल दे बैठती हैं। इसलिए अभिनय में अन्यमनस्क बनी रहती हैं। इससे चित्त एकाग्र नहीं होता और बिना एकाग्रता के अभिनय में रमणीयता नहीं आती। महाराज श्री हर्ष का स्वर्गवास होने पर मैं तीर्थ समझकर आजीविका के लिए वाराणसी चला आया और यहां इस मंदिर में आश्रय पाकर ठहर गया। अब तो बिना किसी उत्साह के *रत्नावली* नाटिका का अभिनय करने के लिए हाथ पैर चलाना भर रह गया है।'

इस तरह संस्कृत नाटक की प्रस्तुतियां तो काशी में धीरे-धीरे निःशेष हो गईं, लेकिन संस्कृत नाटकों और नाट्यशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन, टीका तथा व्याख्या की परम्परा बराबर चलती रही। पंद्रहवीं शताब्दी में राघव भट्ट ने *अभिज्ञानशाकुन्तल* की प्रसिद्ध अर्थद्योतनिक टीका काशी में ही लिखी। इस टीका की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अभिनय निर्देश के संकेत भी हैं। राघवभट्ट का जन्म और स्वर्गवास काशी में ही हुआ था।

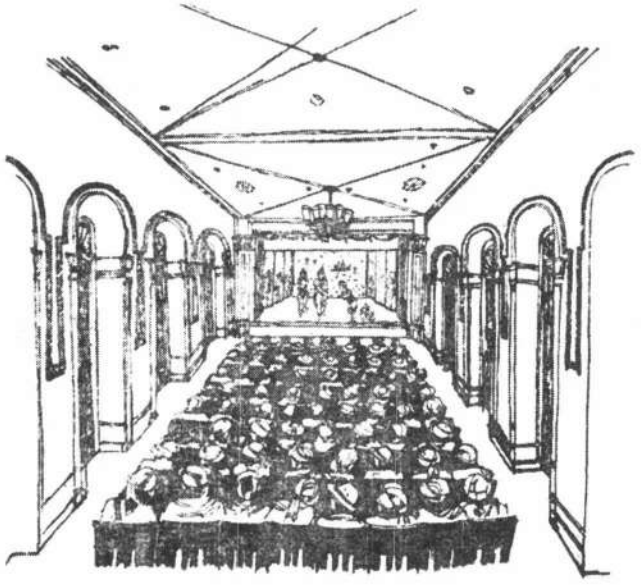

बनारस थियेटर
(आधुनिक हिंदी के प्रथम नाट्य 'जानकीमंगल' की प्रस्तुति का साक्षी)

काशी की नाट्य परम्परा के सदर्भ में जैन और बौद्ध नाट्य परम्पराओं का उल्लेख भी बहुत महत्वपूर्ण है। इन दोनों ही धर्मों का काशी के साथ ढाई हज़ार साल पुराना संबंध रहा है। और दोनों ही धर्मों में नाटक महत्वपूर्ण रहा है। जैन धर्म में तो नाट्य को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। श्रावक के कर्तव्यों में नाटक, प्रेक्षणक अभिनीत करना भी महत्वपूर्ण माना गया है। इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि काशी में भी जैन और बौद्ध परम्पराओं के नाटकों का अभिनय होता रहा होगा। अवश्य ही इनकी भाषा संस्कृत न होकर पालि, प्राकृत या अपभ्रंश रही होगी।

वस्तुतः काशी की सबसे समर्थ परम्परा जननाट्यों की ही थी जिसके सबसे प्रारंभिक उदाहरण का संकेत हम *कणवेर जातक* के प्रसंग में पहले ही कर आए हैं। जन नाटकों की भाषा प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट से लेकर

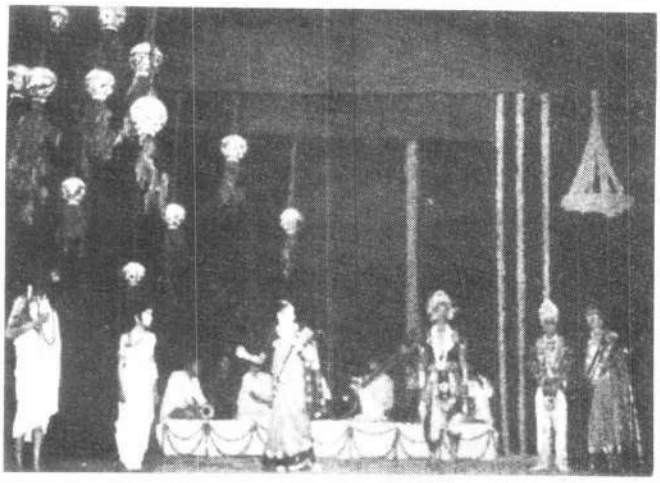

अरे मायादी सरोवर की नाट्य संरचना का एक दृश्य

आधुनिक आर्य भाषाओं– हिंदी, भोजपुरी– इत्यादि के रूप में क्रमश: विकसित होती रही। यह परम्परा भी ढाई हज़ार वर्ष से कम पुरानी नहीं है। संस्कृत नाट्य का कमल इसी निरंतर प्रवहमान जलाशय में खिला था। इस परम्परा के प्राचीन प्रमाण बहुत विरल और परोक्ष हैं:

बारहवीं शती के राजा गोविंदचंद्र ने वाराणसी को ही अपनी राजधानी बनाया था। उनके सभा पंडित दामोदर शर्मा ने राजकुमारों को तत्कालीन काशी की जन भाषा सिखाने के लिए *उक्ति व्यक्ति प्रकरण* नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें एक उद्धरण आया है– 'पूत करें बधावें नाच' अर्थात पुत्र जन्म पर बधावे और नाच हुआ करते थे। यह कार्य आज भी यहां गौनहारिनें और किन्नर किया करते हैं। नकल इनके प्रदर्शन का प्रमुख अंग है। *पुतली खेलाव* से मालूम होता है कि उस समय यहां कठपुतली के खेल भी होते थे। 'नटाव बेटी नचाव' अर्थात् नट अपनी बेटियों को नचाते थे। 'भांडु भंडा अवरहु भंडाव' यानी काशी में उस समय बड़े ढीठ भांड़ हुआ करते थे जो डांटने पर और भी ज्यादा भंड़ैती करते थे।

प्रसिद्ध नाट्य इतिहासकार डा. दशरथ ओझा ने लिखा है– ''शंकरदेव की भाषा बारहवीं शताब्दी में प्राप्त बनारस के आस-पास की भाषा से बहुत कुछ साम्य रखती है। अभी शोध द्वारा बारहवीं शताब्दी की बोलचाल की भाषा का परिचय प्राप्त हुआ है। आज भी बनारस जिले के पूर्वी भाग की भाषा प्राय: वही है जो शंकरदेव के नाटकों के गद्य भाग में पाई जाती है।'' शंकरदेव असम के अंकिया नाट्य के बहुत प्रसिद्ध नाटककार हैं जिनके नाटक आज भी खेले जाते हैं। अवश्य ही उन्होंने काशी में प्रवास करते हुए यहां परम्परागत चले आ रहे किसी नाट्य रूप से प्रभाव ग्रहण किया होगा, जिसके साथ यहां की भाषा भी उनकी रचनाओं में चली गई होगी।

राजा गोविंदचंद्र के समय में काशी में जन भाषा के साहित्यिक और बोलचाल वाले दोनों रूपों का काफ़ी प्रचलन हो गया था और जन भाषा में जननाट्य के विविध रूपों का भी बहुत विकास हो चला था। भंड कला जिसे अब भांड या भंड़ैती कहते हैं, वह भी जननाट्य का ही एक रूप है जिसकी ओर नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध टीकाकार अभिनव गुप्त ने भी संकेत किया है। इस कला का काशी और आस-पास के क्षेत्रों में निरंतर बनारसी दास ने अपनी आत्मकथा *अर्धकथानक* में उल्लेख किया है कि व्यापार का दिवाला निकलने पर उन्होंने भी भंडकला सीखी और उसके प्रदर्शन द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने की कोशिश की।

वस्तुत: लगभग अठारहवीं शताब्दी तक काशी में जननाट्यों के अनेक रूपों का काफ़ी विकास हुआ और 'सात वार नौ त्यौहार वाली' काशी का कोई कोना ऐसा नहीं था जहां निरंतर कुछ न कुछ रंग कार्य न होता हो। काशी पूर्वांचल की नाट्य राजधानी हो चली थी। यहां नाट्यकर्मियों, उनके पोषक संरक्षक नाट्य दर्शकों और नाट्यमर्मज्ञों की सजीव परम्परा विकसित हो गई थी। उस समय नाटकों का सबसे प्रचलित और प्रसिद्ध वह रूप था जो दोहे, चौपाइयों के रूप में लिखा जाता था और प्रस्तुतियों में गाने, नाचने, अभिनय करने और आशुसर्जित संवाद बोलने की प्रथा थी। ऐसा ही एक नाटक लछीराम ने *करुणाभरण* नाम से लिखा था और इस नाटक की परीक्षा करने के लिए उन्होंने काशीवासी कवींद्राचार्य सरस्वती को चुना:

लछीराम प्रभु इह बिधि कही, सुधि बुधि सुनत न काहू रही।
तहं कवींद्र सुरसती संन्यासी पंडित ग्यानी कासी वासी।।
शास्त्र बेद पुराण बखाणै अर्थ उपनिषद् अनुभय जानें।
कृष्ण कथा जिन नीकैं सुनि प्रश्न करि तिन ग्यानी गुनी।।

लछीराम ने अपना पूरा नाटक कवींद्र सरस्वती को सुनाया। उन्होंने कई प्रश्न किए और लछीराम के उत्तर से संतुष्ट हुए। तब लछीराम ने लिखा:

श्रीनाट्यम द्वारा प्रस्तुत विजय तेंदुलकर के नाटक 'अमीर' का एक दृश्य (1972)

''जब कवींद्र यूं लई परोच्छया तब जाहन सतगुरु की सिच्छया।''

इसके बाद इस नाटक का पूरे साजोसामान के साथ अभिनय प्रस्तुत किया गया:

लछीराम नाटक कह्यौ दीनौ गुनितु पढ़ाय।
भेख रेख नर्तन निपुन लीनौ नरीन सधाय।।
सुहृदमंडली जोरि कै कीनो बड़ो समाज।
जो उनि नाच्यौ सो कह्यौ कविता में सुख साज।।

खेद की बात है कि अभी तक हिंदी साहित्य में मध्यकाल के ऐसे नाटकों का ठीक से मूल्यांकन नहीं किया गया है।

काशी में जननाट्यों की दर्जनों परम्पराएं आठारहवीं शती के अंत तक पूरे दमखम के साथ मौजूद थीं, जिनका विस्तार से वर्णन विवेचन करने का यहां अवसर नहीं है।

लेकिन मध्यकाल में गोस्वामी तुलसीदास ने अपने महान महाकाव्य *रामचरितमानस* के आधार पर जो रामलीला चलाई वह लगभग चार सौ वर्षों से चली आ रही है और आज यह विश्वप्रसिद्ध हो गई है। इसकी जीवन्तता के पीछे छिपे रहस्यों को खोजने के लिए और इसमें निहित नाट्य के मूल तत्वों को समझने की कोशिश में यूरोप अमरीका तथा विश्व के और भी दूसरे भागों से बड़े-बड़े नाट्यकर्मी और विशेषज्ञ यहां प्रतिवर्ष सितंबर-अक्टूबर में आते रहते हैं और इसे लेकर तरह-तरह के मिथक भी गढ़ते रहते हैं। वस्तुत: काशी ने रामलीला के रूप में एक ऐसा सर्वथा विलक्षण नाट्य रूप विकसित किया जो संपूर्ण भारत में अपनी तरह का बिल्कुल अकेला है।

दरअसल तुलसी ने अपना *रामचरितमानस* मुख्यत: पढ़ने वाली पोथी की तरह नहीं लिखा था। जितने विशाल जनसमुदाय तक तुलसी पहुंचना चाहते थे उस निरक्षर जनसागर तक तब पोथी की पहुंच कहां संभव थी, इसीलिए व्यापक जनसंपर्क के तत्कालीन साधनों जैसे (मास मीडिया) कथा वाचन, गायन नाट्याभिनय आदि के उपयोग की दृष्टि तुलसी में मानसलेखन के आरंभ से ही थी। उसका रूपबंध भी इसी दृष्टि से चुना गया था। वस्तुत: *रामचरितमानस* का रचना विधान बहुत कुछ मध्यकालीन पारम्परिक हिंदी नाट्य के आलेखों जैसा ही है लेकिन इसके बावजूद तुलसीदास नहीं चाहते थे कि मानस का अभिनय तत्कालीन लोकप्रचलित नाट्य परम्परा में हो। कारण वह परम्परा भोंड़े हास्य, नैतिक पतन और कामुकता का शिकार होकर बेहद भ्रष्ट हो चुकी थी। उसके व्यावसायिक नाट्यकर्मी भी सामाजिक सम्मान से रहित थे। ऐसी स्थिति में उनके हाथ मानस की क्या गति होती, इसे तुलसी अच्छी तरह समझ रहे थे। इसीलिए मानस की अपनी रचना के उद्देश्यों के अनुकूल अभिनय के लिए किसी सार्थक नाट्य रूप की तलाश में वे बराबर लगे रहे। इसके लिए वे नाट्यशास्त्र के गहरे अनुशीलन के साथ ही अपने व्यापक भारत भ्रमण के नाट्यानुभवों को टटोलते भी रहे। एक बार वे गंगा के तट पर बैठे हुए *वाल्मीकि रामायण* ध्यान से सुन रहे थे। रामराज्य का प्रसंग था। सहसा वे अन्यमनस्क हो उठे और गंगा की लहरों को देखने लगे। उनकी चेतना में नाट्यशास्त्र और हनुमन्नाटक साकार हो उठा। तभी उन्होंने असी घाट के निकट शरत्पूर्णिमा की संध्या के समय रामराज्य की लीला का समारंभ किया। (संदर्भ *गौतमचंद्रिका*)

इस तरह उन्होंने रामलीला का अपना नया नाट्यविधान पा ही लिया। तुलसी द्वारा वाराणसी में प्रवर्तित रामलीला भारत में प्रचलित सैकड़ों पारम्परिक नाट्यरूपों में से बस एक रूप भर नहीं है। न ही वह राम नाट्यों और लीलाओं की बहुत सारी शैलियों में से महज एक और शैली मात्र है, जैसा कि रामनाट्य पर अनुसंधान करने वाले बहुत से लोगों ने प्रमाणित करने की कोशिशें की हैं। यह तो सामाजिक बदलावों से गहरा सरोकार रखने वाले एक ऐसे युगपुरुष की सम्पूर्ण कलात्मक रचनाधर्मिता का सबूत है जो अपनी बात कहने के लिए प्रचलित कला रूपों को मनचाहे तरीकों में ढाल सकता है। तुलसी की रामलीला के जरिए वाराणसी की नाट्य परम्परा ने अपनी एक खास पहचान बना ली। भक्तिकाल की वाराणसी में और भी कई लीलाएं विकसित हुईं जिनमें वामनलीला, नृसिंहलीला और कृष्णलीला प्रमुख हैं।

उन्नीसवीं शती में जब आधुनिक युग की शुरूआत हुई तब मध्यकालीन पारंपरिक नाट्य के रूप में इन लीलाओं के अलावा वाराणसी के नाट्य परिवेश में भांड़ों के तमाशे, गोनहारिनों की नकलें, जुगीड़े आदि तथा गायिका नर्तकियों के भावाभिनय नाट्य की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहे थे।

ब्रितानी उपनिवेशवादियों के भारत आगमन के साथ ही यहां आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में जो अनुक्रिया-प्रतिक्रिया आरंभ हुई, उससे नाट्य भी अछूता न रहा। बल्कि नाट्य के क्षेत्र में तो ब्रितानी माडल कुछ ज्यादा ही निर्णायक साबित हुए और एक प्रकार से संपूर्ण पारम्परिक नाट्य को नकारता एक नया नाट्यान्दोलन भारत में शुरू हो गया। नये नाट्यान्दोलन की यह लहर बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र होती हुई। हिंदी के हृदयस्थल वाराणसी में उन्नीसवीं शती के छठे-सातवें दशक तक पहुंच गई।

उन दिनों बनारस हिंदी माध्यम से बौद्धिकता और राष्ट्रीय चेतना का केंद्र बन रहा था। यहां की परंपरराशीलता आधुनिकता के तेज दबाव से बचने की कोशिश में कहीं बीच का रास्ता ढूंढ रही थी। ऐसे परिवेश में यहां के बुद्धिविलासियों और सांस्कृतिक उन्नायकों का ध्यान इस नये नाट्यान्दोलन की संभावनाओं पर भी केंद्रित हुआ और वाराणसी में आधुनिक रंगमंच की स्थापना के उपाय सोचे जाने लगे। ऐसे लोगों की अगुवाई की तत्कालीन काशी के महाराज श्री ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह ने। नाट्य कला के उद्धार की सद्इच्छा से उन्होंने उन्नीसवीं शती के छठे दशक के अंत के आसपास अपने दरबारी कवि गणेश कवि से इस प्रकार संकेतित किया है:

भूपमौलि श्री ईश्वरी नारायण महाराज।
लखि मेरे गुन रिझिकै आयुस दिए दराज।।
गए बीति अनगन बरस नाटक विधि व्योहार।
भये गुप्त तेहिं प्रगट करि दरसावों सुखसार।।

गणेश ने जो नाटक लिखकर तैयार किया वह बिल्कुल पारम्परिक और छंदबद्ध था। इससे नाट्य की पुनर्स्थापना की महाराज की इच्छा पूरी नहीं हो सकती थी। वह तो कोई ऐसी हिंदी नाट्य प्रस्तुति की परम्परा स्थापित करना चाहते थे जो सामान्य जन को शिष्ट मनोरंजन के साथ चरित्र निर्माण की प्रेरणा दे सके और साथ ही नए ढंग की अंग्रेजी नाट्य प्रस्तुति से कहीं टक्कर भी ले सके।

इस तरह का नाट्यालेख तैयार करने की जिम्मेदारी उन्होंने पंडित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी को सौंपी। त्रिपाठी जी ने क्लासिकी संस्कृत नाटक, पारंपरिक रामलीला और यूरोपीय नाट्य प्रस्तुति के तत्वों को लेकर *रामचरितमानस* के आधार पर *जानकी मंगल* नाटक लिखकर तैयार कर दिया। इसकी प्रस्तुति का उत्तरदायित्व बाबू ऐश्वर्यनारायण प्रसाद सिंह को सौंपा गया। उन्होंने मुख्य रूप से रामलीला के अभिनेताओं को लेकर रिहर्सल शुरू कर दिया। नवागत नाट्य प्रस्तुति की शैली के अनुसार चित्रित पर्दों को भी तैयार कराना था। उस समय महाराज के दरबार में कंपनी शैली के कुछ महत्वपूर्ण चित्रकार मौजूद थे। उन्होंने तीन-चार पर्दे तैयार कर दिए। संगीत वृंद (आर्केस्ट्रा) के लिए दरबार के संगीतज्ञों से तैयारी करायी गई।

अब प्रश्न था नाट्य प्रस्तुति के लिए स्थान कौन-सा चुना जाए। उस समय सबसे महत्वपूर्ण संभावित दर्शक अंग्रेज सैनिक और नागरिक अधिकारी थे जो मुख्य रूप से कैंटोनमेंट क्षेत्र और उसके आसपास रहते थे। अंग्रेज अधिकारियों के मनोरंजन के लिए पचीस-तीस वर्ष पहले काशी के एक प्रतिष्ठित नागरिक महाराज विजयानगरम ने एक भवन यहीं बनवा दिया था जिसमें एक बड़ा हाल और कई कमरे तथा एक अहाता था। यहां अंग्रेज अधिकारी सपरिवार इकट्ठे होते, नाचते-गाते और शौकिया छोटे-मोटे नाटक भी कर लेते। इसीलिए इस इमारत का नाम 'असेंबली रूम्स एंड थियेटर' रखा

गया। लेकिन साधारण जनता ने इसका टकसाली नामकरण किया 'नाचघर'। *जानकी मंगल* की प्रस्तुति के बाद भारतेन्दु ने इसे बनारस की नाट्यक्रियाओं के केंद्र के रूप में देखा और अपनी ओर से इसका नामकरण किया 'बनारस थियेटर' लेकिन पंडित शीतलाप्रसाद ने इसके सरकारी संबंधों और अपनी राजभक्ति के कारण इसे 'थियेटर रॉयल' कहा। महाराज बनारस ने फैसला किया *जानकी मंगल* का अभिनय यहीं होगा। तिथि निश्चित की गई चैत्र शुक्ल एकादशी संवत् 1925 वि. तदनुसार 3 अप्रैल 1868 ई.।

उस दिन बनारसियों के ऊपरी तबके में बड़ी गहमागहमी थी। बड़े-बड़े रईस, बुद्धिविलासी, कुछ महत्वपूर्ण महिलाएं, देशी और विलायती हाकिम, सैनिक अधिकारी, पहुंच वाले पंडित, ब्राह्मण, सबके बग्घी, फिटिन, इक्के, घोड़े, हाथी तामझाम कैंटोनमेंट के असेंबली रूम्स की ओर मुखातिब थे। सब महाराज बनारस द्वारा आयोजित 'नया तमाशा थियेटर' देखने को उतावले।

लेकिन वहां जुटी महफिल में तब खलबली मच गई जब यह मालूम हुआ कि लक्ष्मण बनने वाला लड़का बीमार पड़ गया। अब नाटक किसी दूसरे दिन के लिए स्थगित हो गया। तभी वहां अठारह साला हरिश्चंद्र आ पहुंचे। उन्हें नाटक का स्थगित किया जाना पसंद नहीं आया और बड़े उत्साह, साहस और आत्मविश्वास के साथ उन्होंने स्वयं लक्ष्मण की भूमिका में उतरने की पेशकश की- ''मैं लक्ष्मण बनूंगा, पोथी मुझे दीजिए, पाठ देखूं।'' महाराज ने कहा इस समय याद होना कठिन है। हरिश्चंद्र ने कहा- ''गुस्ताखी माफ हो। मैं एक पाठ क्या संपूर्ण *जानकी मंगल* स्मरण कर लूंगा। एक बार देखना भर चाहिए।'' महाराज ने पुस्तक दी और भारतेन्दु ने घंटे भर के भीतर महाराज के हाथ में वह पुस्तक देकर ज्यों का त्यों अक्षर-अक्षर जानकी मंगल सुना दिया। तब महाराज बहुत प्रसन्न हुए। हरिश्चंद्र लक्ष्मण बने और नाटक खेला गया।

प्रेक्षक के रूप में समवेत सांस्कृतिक नेतृत्व करने वाले काशी के विशिष्ट और प्रभावशाली नागरिकों ने सूत्रधार के मुंह से नाट्यकला के नवीन अवतार की स्पष्ट घोषणा सुनी। यह प्रस्तुति सिर्फ वाराणसी के आधुनिक नाट्य युग की ही शुरूआत नहीं थी बल्कि पूरे हिंदी क्षेत्र में आधुनिक नाट्य का समारंभ था।

इस घटना के बाद भारतेन्दु के मन में हिंदी नाटक लेखन और उनके अभिनय के प्रति बेहद उत्साह जग गया और शीघ्र ही उन्होंने नाटक लिखना आरंभ कर दिया। लेकिन उससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि वाराणसी में ही उन्होंने अपना एक नाट्य दल बना लिया जिसके प्रमुख कार्यकर्ता राधाकृष्ण दास, रविदत्त शुक्ल, दामोदर शास्त्री, पं. चिंतामणि, पं. माणिक लाल जोशी और उनकी मित्र मंडली के कई सदस्य थे। इसके द्वारा उन्होंने ने न केवल वाराणसी में बल्कि बलिया के मेले में जाकर भी नाट्य प्रस्तुतियां कीं। उनके एक अभिनय का आंखों देखा विवरण अभी भी उपलब्ध है। गोपाल राम गहमरी ने एक संस्मरण में लिखा है:

> काशी के बाबू हरिश्चंद्र ने बलिया में *सत्य हरिश्चंद्र* नाटक स्वयं हरिश्चंद्र बनकर खेला था, जिसमें हिंदी के सुलेखक बाबू राधाकृष्ण दास सरीखे हिंदी सेवक और रविदत्त शुक्ल जैसे कवियों ने पार्ट लिया था। उस समय पर्दा और सीनों का जमाव नहीं था, लेकिन जो कुछ स्टेज उस समय बना था- बजाज के कपड़े तानकर जो काम भारतेन्दु ने दिखाया था उसकी महिमा यूरोपियन महिलाओं तक ने गायी थी। उस समय के कलक्टर साहब की मेम ने आंसुओं से भरा रुमाल निचोड़कर जब साहब की मार्फत भारतेन्दु जी से आग्रह किया था कि रानी शैव्या का श्मशान में विलाप अब धीरज छुड़ा रहा है, सीन बदला जाए तो इस पर सत्य हरिश्चंद्र बने हुए भारतेन्दु ने स्वयं ओवर एक्ट किया था और दर्शक मंडली में करुणा के मारे त्राहि-त्राहि मच गई थी।

भारतेन्दु के इस रंग कार्य ने काशी ही नहीं, पूरे हिंदी क्षेत्र के साहित्यकारों और अन्य प्रतिष्ठित बुद्धिवादियों के मन में रंग कार्य के प्रति ऊंचा भाव पैदा किया और उन्हें रंग कार्य करने की ओर प्रेरित किया, जिससे सोद्देश्य सार्थक और जन कल्याणकारी नाट्य लेखन और प्रस्तुति की बड़ी समर्थ परम्परा सिर्फ काशी में ही नहीं बल्कि पूरे हिंदी क्षेत्र में चल पड़ी।

भारतेन्दु की ही प्रेरणा के फलस्वरूप काशी में नाटक करने के लिए नाट्य संस्थाओं का बनना आरंभ हो गया। ऐसी जिस पहली संस्था की सूचना हमें मिलती है उसका नाम 'द इंडियन नैशनल थियेटर' था। आगे चलकर बीसवीं शताब्दी में काशी में जो पहली महत्वपूर्ण नाट्य संस्था बनी, उसका नाम श्री नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्तक मंडली (1906 ई.) था। यही संस्था आगे चलकर दो संस्थाओं में बंट गई- भारतेन्दु नाटक मंडली और नागरी नाटक मंडली। इन दोनों ही मंडलियों ने काशी में रंग कर्म की बड़ी ही शक्तिशाली परम्परा कायम की जिससे सैकड़ों की संख्या में अभिनेता तैयार हुए। इन संस्थाओं ने नाट्य प्रस्तुतियों के लिए काशी में एक जीवंत परिवेश रचा, जिसके तहत यहां के विद्यालयों, क्लबों और अनेक तरह की संस्थाओं द्वारा नाटक खेले जाने लगे और काशी में समय के अनुकूल नाट्य प्रस्तुति का इन्फ्रास्ट्रक्चर तैयार हो गया।

बीसवीं शताब्दी के तीस के दशक तक नाट्य प्रस्तुतियों का सिलसिला काफी अच्छा और भरा पूरा था और इसका मॉडल पूरी तरह से पारसी व्यावसायिक रंगमंच था। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात जो उस समय के रंगमंच के विश्लेषण से ज्ञात होती है, वह यह कि यहां नाट्य की दो समानान्तर धाराएं बनने लग गई थी। एक धारा तो पूरी तरह से पारसी व्यावसायिक रंगमंच का अंधानुकरण और नकल थी जिसमें ज्यादा सफल होने वाले पारसी रंगमंच के नाटकों का थोड़ा हिंदीकरण करके और कुछ बदलकर नाटककार अपना नया नाटक तैयार कर उसे खेलने खिलाने की कोशिशों में जुट जाते थे। लेकिन दूसरी धारा नाटक लेखन के स्तर पर भारतेन्दु की ही परम्परा में गंभीर, सोद्देश्य और सरस ऐसे नाटक लिखने की थी जो हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि कर सके और साथ ही हिंदी का अपना स्वतंत्र रंगमंच बनाने के लिए प्रेरणा दे सके।

दूसरी धारा के रंगकर्मी साहित्यिक नाटक और पारसी व्यावसायिक प्रस्तुति शैली के बीच किसी तरह का समझौता करने की कोशिश के साथ आगे बढ़ रहे थे क्योंकि प्रस्तुति शैली का दूसरा विकास उन्हें मिल नहीं रहा था।

काशी को इस बात का गर्व है कि भारतेन्दु के अलावा उसने जयशंकर प्रसाद के रूप में हिंदी के महान साहित्यिक नाटककार और आगा हश्र के रूप में पारसी व्यावसायिक शैली के महान नाटककार को जन्म दिया। इतना ही नहीं शायद यह काशी के समृद्ध नाट्यपरिवेश की ही करामात थी कि प्रेमचंद जैसे महान उपन्यास और कहानीकार ने भी मौलिक नाटक लिखे और नाटकों के अनुवाद भी किए।

काशी के नाट्य परिवेश ने हिंदी के माध्यम से नाट्य के सैद्धांतिक और शास्त्रीय अध्ययन तथा अभिनीत नाटकों की समीक्षा की भी सुदृढ़ परम्परा आरंभ की।

बीसवीं शती के चौथे दशक के शुरू में ही बोलती फिल्मों का निर्माण आरंभ हो गया। इसने व्यावसायिक सफलता का नया दरवाजा खोल दिया। इस नए व्यवसाय में पूंजी की तुलना में मुनाफा कई गुना ज्यादा होने की संभावना नजर आई। इससे नाट्य व्यवसायियों का दल तुरंत इस ओर झुकने लगा। नाटक कंपनियां बंद होने लगीं और नाट्यशालाएं सिनेमाघरों में रूपांतरित की जाने लगीं। आगा हश्र ने 1933 ई. में स्पष्ट कह दिया- "अब थियेटर नहीं चलेगा। उसका स्थान फिल्म लेगी।" इसी समय जयशंकर प्रसाद भी इस बात को लक्ष्य करते हैं: "हिंदी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलने वाले चित्रों का अभ्युदय हो गया। और फलत: अभिनयों का रंगमंच समाप्त-सा हो गया।"

इसी चौथे दशक के उत्तरार्ध में आगा हश्र (1935 ई.) और जयशंकर प्रसाद (1937 ई.) दोनों महान नाटककार भी रंगमंच की जगमगाती दुनिया को उजड़ती देखकर दूसरी दुनिया के लिए कूच कर गए। इस तरह ब्रिटिश औपनिवेशिक युग में अंग्रेजों के साथ आने वाले हलचल से भरे एक नाट्य युग का अंत हो गया।

इस घटना का असर काशी के नाट्यपरिवेश की नियति पर पड़ना ही था। यहां की नाट्यशालाएं भी धड़ाधड़ सिनेमाघरों में बदल गईं। व्यावसायिक रंगमंच के अनुकरण पर चलने वाली काशी की शौकिया नाट्य संस्थाएं दम तोड़ने लगीं। जैन नाटक मंडली बंद हो गई। नागरी नाटक मंडली की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी और यह अपना पक्का रंगमंच बनवा रही थी। तब भी 1835 ई. से 1947 ई. के बीच यह बस तीन नाटक मात्र खेल सकी। पहले से ही लड़खड़ाती हुई चलने वाली भारतेन्दु नाटक मंडली का भी कोई पुरसाहाल न रहा। छोटी-मोटी इस तरह की और दूसरी संस्थाओं का तो कहीं पता भी न चला। नाटकों का अभिनय अब किन्हीं स्कूल और कॉलेजों या दूसरी तरह की संस्थाओं के समारोहों पर यदा-कदा होने वाली प्रस्तुतियों तक ही सीमित रह गया।

इस तरह भारत की स्वतंत्रता के पूर्व तक के काशी के रंगमंच के इतिहास की कहानी पूरी हुई। स्वतंत्रता के बाद की काशी के रंगमंच का इतिहास मेरे रंग अनुभवों से प्रत्यक्षत: जुड़ा हुआ है जिसकी कहानी फिर कभी। □

लोकरंजन की अनूठी परम्परा : 'लारवा' मेले

पृष्ठ ४० से आगे

बुढ़वा मंगल

'सात वार नौ त्यौहार' वाली काशी नगरी तीनों लोकों से न्यारी शायद इसलिए कही जाती है क्योंकि यहां हर दिन कोई न कोई उत्सव होता रहता है। ऐसा नहीं है कि इन उत्सवों मेलों में सिर्फ हिंदू लोग ही शिरकत करते हों हर वर्ग और संप्रदाय के लोग इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं। परम्परानुसार चैत्र कृष्ण पक्ष के आखिरी मंगल को लोग नौका यात्रा करते थे। पंचगंगा से असी घाट पहुंचते हैं और वहां से दुर्गाजी व संकट मोचन दर्शन करने जाते हैं।

मीर रुस्मत अली ने इस धार्मिक यात्रा को एक बड़ा ही रंगीन रूप दे डाला और बनारस का लक्खी मेला 'बुढ़वा मंगल' आरंभ हो गया। पहले मेला मंगल से बुध की शाम तक होता था, फिर चार दिन का होने लगा दो दिन 'मंगल', तीसरे दिन 'दंगल' और चौथे दिन 'झिलंगा।' होली के बाद 'मंगल' को लोग अपने बजरे सजाते और उस पर गाने बजाने की बनारसी महफिलें जमतीं। यात्रा पंचगंगा घाट से आरंभ होती और इसमें स्वयं महाराज काशी नरेश, स्व. डा. विभूति नारायण सिंह भी शामिल होते थे। महाराज की नौकाएं 'मोरपंखी' और 'घुड़दौड़' मेले की शान होती थीं। नावों पर ही दुकानें लगतीं, गंगा की लहरों पर एक अच्छा बाजार खेलने लगता। यह मेला रामनगर पहुंचकर शेष होता था। लगता है संगीत के इस अनूठे मेले पर किसी की कुदृष्टि पड़ गई। असामाजिक तत्वों ने इस मेले के सौंदर्य को नष्ट कर दिया। अब छोट-मोटे प्रयास होते हैं, पर पुराना 'बुढ़वा मंगल' करने का साहस कोई नहीं कर पाता।

'बुढ़वा मंगल' के इतिहास के बारे में कई मत-मतांतर हैं। यह मेला कब प्रारंभ हुआ, यह बतलाना संभव नहीं रह गया है। पहली बार 1920 में जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड के विरोध मे काशी के नागरिकों ने यह समारोह नहीं मनाया। 1921 में मेला पुन: चालू करने की बात प्रकाश में आई लेकिन इसमें भी मतभेद है। बताया जाता है कि बहुत उहापोह के बाद 1924 में मेला चालू तो हुआ लेकिन पुराने रासरंग में नहीं आ पाया। उल्टे मेले में छिछोरापन, लफंगई औ गुंडागर्दी बढ़ती गई। बाद में काशी नरेश और नगर के रईसों ने मेलों में सम्मिलित होना बंद कर दिया। बाहर के लोगों का आना भी कम हो गया। 1935-36 तक 'बुढ़वा मंगल' मेले के नाम पर हुड़दंग होता रहा। बनारस के लोगों को अंतिम बुढ़वा मंगल की यादें 'मार डाला, मार डाला, मार डाला रे' गाने से जुड़ी हैं। यह गाना उस समय की प्रसिद्ध गायिका अनवरी बाई ने गया था। यह गाना सबकी जुबान पर चढ़ गया था। आज भी लोग पूरी शिद्दत से इसे याद करते हैं।

हाल के वर्षों में 'बुढ़वा मंगल' की इस सांस्कृतिक शानो-शौकत वाली परम्परा को पुनर्जीवित करने के छोटे-मोटे प्रयास हुए परंतु 'बुढ़वा मंगल' का प्रारंभिक स्वरूप केवल किंवदन्ती बनकर रह गया है। न कोई औपचारिक निमंत्रण, न कोई पत्र, सूचना, बैनर या प्रचार, फिर भी काशी के इन लक्खी मेलों की निर्धारित तिथियों पर जन सैलाब उमड़ पड़ता है। खासकर इन सभी मेलों में स्त्रियों की आस्थापूर्ण भागीदारी के सुदृढ़ आयाम दिखाई पड़ते हैं। आधुनिक मनोरंजन के साधनों के इर्द-गिर्द बंद कमरों या प्रेक्षागृहों को छोड़ मुक्ताकाश के नीचे एकत्र दर्शकों को एक वैचारिक सूत्र में बंधा देखा जा सकता है। ये दर्शक केवल निष्क्रिय दर्शक ही नहीं बल्कि इन मेलों में पूर्ण मानसिक एवं भौतिक तादात्म्य के साथ सम्मलित होते हैं।

आधुनिकता की चकाचौंध भी आस्था और विश्वास से जुड़े इन 'लक्खी मेलों' को बहुत अधिक या पूर्णत: बदल नहीं पाई है और कई सौ सालों से निरंतर आयोजित होते चले आ रहे इन मेलों का आकर्षण तथा सम्मोहन निरंतर बरकरार है। □

काशी की रामलीला

काशी में तीन प्रमुख रामलीलाएं हैं– चित्रकूट, असीघाट और रामनगर की / रामनगर की विश्वप्रसिद्ध रामलीला भी 175 वर्ष पुरानी है / (आरंभ 1830 में) चार सौ से अधिक वर्षों से चल रही इन लीलाओं की लंबी तथा अलिखित कथाएं हैं / कालान्तर में दर्जनों रामलीला मंडलिया बनीं, बिगड़ीं और पुनः गठित हुईं / बनारस में रामलीलाओं की लोकप्रियता और उनकी विशेषता का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं **भानुशंकर मेहता**

काशी की एक दर्शनीय कला है 'रामलीला'। दशरथनन्दन राम, अवध के राजा थे, उन्हें विष्णु का अवतार भी माना गया है और उनके जीवनवृत्तांत की कथा है *रामायण*। दो हज़ार से अधिक वर्ष पूर्व वाल्मीकि ने आदर्श मानव चरित्र पर जो महाकाव्य लिखा और जो संस्कृत भाषा का आदिकाव्य कहा जाता है, उसका नाम हुआ *रामायण*। कालान्तर में विभिन्न भाषाओं में इस कथा पर आधारित सैकड़ों *रामायण* लिखी गई और इनमें एक अति प्रसिद्ध ग्रंथ है *रामचरितमानस*। सोलहवीं सदी में, अकबर के शासन-काल में हिंदी (अवधी) भाषा में तुलसीदास ने यह महाकाव्य लिखा जो आज एक पूजनीय ग्रन्थ बन गया है।

अब अगला शब्द है 'लीला'। 'लीला' एक धार्मिक, आध्यात्मिक विषय है पर जब यह प्रदर्शन के रूप में व्यक्त होती है तो नाटक के विद्वान सहज ही विचार करने लगते हैं क्योंकि यह अत्यन्त लोकप्रिय प्रदर्शन है। चूंकि 'रामलीला' का विशेष रूप काशी में स्थापित हुआ अस्तु 'काशी की रामलीला' पर विशेष चर्चा हुई है। देश-विदेश से लोग 'रामलीला' देखने काशी पधारते हैं। खासकर विदेश के विद्वान। भारतीय संस्कृति से अपरिचित विद्वान तो हैरान होते हैं कि यह कैसा नाटक है, न शास्त्रीय है, न लोक! उनमें से कुछेक के विचार रोचक हैं।

जेम्स प्रिंसेप ने अपनी अनूठी पुस्तक *बनारस इलस्ट्रेटेड* में दो लेख रामलीला के बारे में लिखे हैं- 'फेस्टिवल ऑफ रामलीला' तथा 'भरत मेलाओ'। वे कहते हैं- ''महाराजा के संरक्षण में लगभग सम्पूर्ण रामायण का पाठ होता है और बीस से तीस दिन में जो दिखाने लायक घटनाएं होती हैं या जो अभिनय होता है उन्हें पाठ के साथ दिखाया जाता है।''

जबकि डेविड नील का कहना है कि सम्पूर्ण पाठ विशेष वर्षों में ही होता है।

नार्मन हीन अपने ग्रन्थ *मिरेकल प्लेज ऑफ मथुरा* में दो अध्याय रामलीला के ('रामलीला' तथा 'रामलीला का उद्भव') शामिल करते हैं। हीन लिखते हैं-'' इस अवधि में कई बार पेजेण्ट तथा प्रोसेशन (शोभायात्रा), नाटक के स्थान पर तमाशा- सड़कों पर या सार्वजनिक स्थलों पर होता है।'' साथ ही हीन यह भी कहते हैं– ''तुलसी की अनुराग भरी भक्ति भावना दर्शक और नाटक (प्ले) दोनों को आवृत्त कर लेती है।'' यह तुलसी का ही प्रभाव है कि कहीं भी अभद्रता या अश्लीलता का स्पर्श तक नहीं होता। तुलसी ने ही लोकोत्तर और मर्यादित रामलीला की कौशलपूर्ण, सद-असद की स्पष्ट संघर्षमयी कथा प्रदान की है।

तुलसी के *मानस* का अंग्रेजी अनुवाद करने वाले फेडरिक ग्राउज लिखते हैं, ''इसमें कोई बौद्धिक या मन बहलाने वाली कहानी जैसे 'घोंघा,

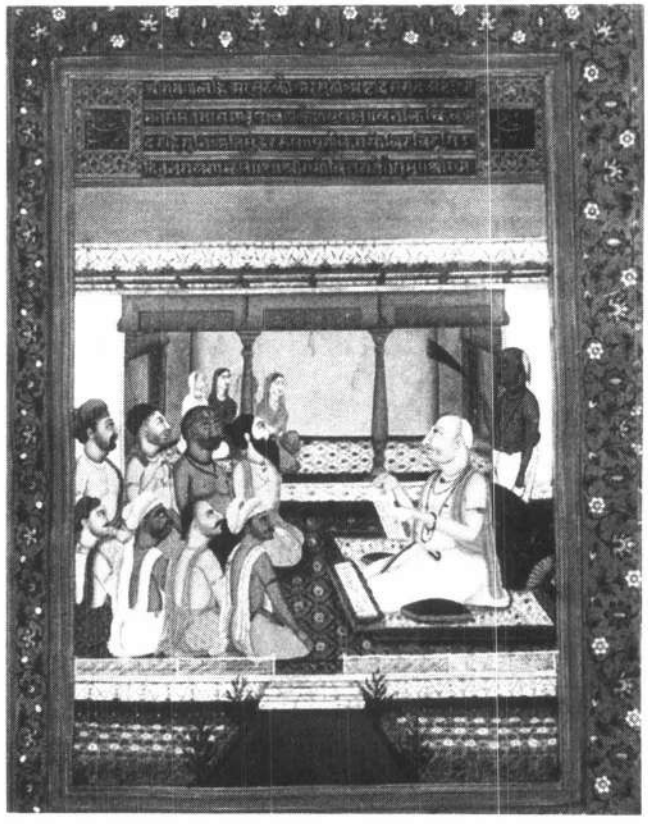

रामनगर की सचित्र रामायण में तुलसीदास का चित्र

---

* हाल ही में रामलीला को 'विश्व हेरिटेज' का दर्जा दिया गया है।

रामनगर की रामलीला का दृश्य

मढ़क और पानी पर फैली काई' या 'कामुक कौवा और लालची सारस' नहीं है और इस दृष्टि से इसे देखने आने वाले को निराश होना पड़ेगा।''

राबर्ट नीडहम कस्ट का 'राष्ट्रीय भावना और रामलीला' का यह वक्तव्य अवलोकनीय है (यह आलेख सवा सौ वर्ष पूर्व लिखा गया था): ''आश्चर्य तब होता है जब हम विचार करते हैं कि जिनकी कोई राष्ट्रीयता नहीं है, जो देशभक्ति का अर्थ भी नहीं जानते, शताब्दियों से जो भी शासन रहा है उसके आगे सिर झुकाते रहे हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए भी कभी एकजुट नहीं होते, वे इस अवसर पर जयकारे लगाते हैं (हारे हुए हैं), कर्म की एकता प्रदर्शित करते हैं (यद्यपि बुरी तरह बिखरे हुए हैं) और देखने में बड़े देशभक्त लगते हैं (यद्यपि वे हैं नहीं)।''

इन अप्रिय विवरणों, 'अंधे के हाथी' जैसे वक्तव्यों में एक मिथ्या, भ्रमपूर्ण, विद्वेष भरा वक्तव्य और जोड़ लें। बीबीसी ने एक टेलीफिल्म बनाई 'स्पिरिट ऑफ एशिया : स्टोरी ऑफ राम'। इसमें काशी की रामलीला के अनेक अंश हैं। फिल्म में एक दृश्य है जिसमें स्वरूप भोजन कर रहे हैं, नरेटर डेविड अटेनबरो कहते हैं, ''यह इनका आखिरी भोजन है, इन्हें विष दे दिया जाता है।'' इतना बड़ा सफेद झूठ, जब कि आज भी रमेश कृष्ण नागर, राममोहन पाठक (पत्रकार) जैसे व्यक्ति विद्यमान हैं जिन्होंने पचास वर्ष पूर्व लीला में 'स्वरूप' की भूमिका निभायी थी। (जब हमने और डा. सुरेश अवस्थी ने डायरेक्टर माइकल मैकेण्टायर से इस वक्तव्य का स्रोत पूछा तो उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया)।

यह तो हुई पाश्चात्य विद्वानों की लीला। भारतीय दर्शन 'लीला' की विशद व्याख्या करता है। दुख का विषय है कि हमारे टेम्स में नहाये, 'आक्सन' के विद्वान भी रामलीला को देहाती नाटक या 'फोक प्ले' ही मानते हैं। वे कभी लीला-स्थल तक नहीं जाते। वे कहते हैं, ''वहां है क्या? न कायदे का मंच, न सुगठित कथानक, न ठिकाने के संवाद। अभिनय अपढ़ कलाकार क्या करेंगे? तिस पर से मुख्य भूमिका बच्चों से कराते हैं- तब नाटक बचकाना तो होगा ही। वेशभूषा फूहड़, वल्गर और भड़कीले रंगों वाली होती है, 'मेकअप' करना वे क्या जानें, गेरू-चूना पोत देते हैं। सेटस् भी बचकाने होते हैं, प्रकाश और ध्वनि की तो चर्चा ही व्यर्थ है।'' जी हां ठीक फरमाते हैं फिर भी रामलीला तथा रासलीला में दर्शक संख्या हजारों में होती है जो अच्छे से अच्छे नाटक को नसीब नहीं। तब 'रामलीला' का जादू रंगकर्मियों को यह शब्द भुनाने को प्रेरित करता है और वे रामकथा पर आधारित किसी भी प्रदर्शन को 'लीला' कह देते हैं।

सच तो यह है कि भारत के लाखों लोग श्रद्धापूर्वक लीला देखते हैं। विद्वान लोग। इस लोकप्रियता का कारण ढूंढते हैं। कहते हैं कि देश के पिछड़ेपन, अपरिष्कृत रुचि और गंवारपन का यह द्योतक है। ये लोग उच्चकोटि के नाटक देखने नहीं जाते पर रामलीला जरूर देखते हैं क्योंकि इनमें सौन्दर्य बोध का अभाव है और नाटक इनकी समझ से परे हैं। इन क्रूड रुचि वाले लोगों के कारण ही भारत नाट्य क्षेत्र में इतना पिछड़ा है और धर्म की अफीम खाकर सोए लोगों को कैसे जगाया जाए यह इनकी चिंता है।

'लीला' जब भी नाटक के तराजू पर तौली जाएगी तो यही होगा। वैसे 'लोक नाट्य' आज के लोगों की प्रिय विधा बन गया है। (जबकि वे इन विधाओं को आधुनिकता का जामा पहनाकर अनजाने ही समाप्त करने में संलग्न हैं)। वे बड़े गर्व से यात्रा, नौटंकी अथवा यक्षगान शैली में आधुनिक नाटक करते हैं। तृतीय विश्व नाट्य कान्फ्रेंस भारत में हुई तो उसमें आए सदस्य बनारस 'रामलीला' देखने पधारे। स्पेन से आए अधिवेशन के अध्यक्ष ने मुझे बताया कि स्पेन में वे पिरंडालो के नाटक आधुनिक मंच पर देखते थे पर जब ग्रामीण अंचलों में इन नाटकों का मंचन देखा तो अवाक् रह गए। इसी कारण वे प्राचीन नाट्य विधाओं की तलाश कर रहे हैं। बनारस की रामलीला देखकर वे भाव-विभोर हो गए- 'ऐसा तादात्म्य तो दुनिया में कहीं नहीं होता'।

अब आप पूछेंगे 'लीला' है क्या? तो आपको कैसे बताएं कि 'लीला' में नाटक मत ढूंढ़ो। यह तो 'वृत्तांत दर्शन' है, लोक वृत्तानुकरण है, धार्मिक अनुष्ठान है, जीवन का अनुदर्शक है और सर्वोपरि, 'भावानुकीर्तन' है।

लीला में पात्र अभिनय नहीं करते- भूमिकाएं जीते हैं। उनके साथ पूरा समाज प्रभु की लीला में डूबता है। अभिनयहीन सपाट लीला में लक्ष्मण शक्ति लगने पर राम विलाप करते हैं तो लाखों भक्त भी रोते हैं। चित्रकूट लीला का रावण कहता है, ''प्रभु का तीर लगने पर मैं वास्तव में मर जाता हूं और प्रभु मेरे मुख में तुलसी दल डाल देते हैं तो प्राण लौट आते हैं।'' प्रतीक रूप से जो परोसा जाता है उसे समझने के लिए भारतीयता की घुट्टी पीनी होगी।

लीला एक अनुष्ठान है। संकल्प, मुकुट पूजन, कर्मकांड तथा विसर्जन सब लीला के अंग हैं। जब लीला नहीं होती रहती तब भी पात्र अपनी भूमिका में बसे रहते हैं। स्वरूप लीला अवधि में धरती पर पैर नहीं रखते या मेकअप

उतारकर कलाकार नहीं बन जाते।

लीला का दर्शक स्वयं भी एक पात्र है और लीला से पूर्णरूप से जुड़ा रहता है। 'लीला' का स्पष्ट अर्थ है- "जाको अर्थ जहां है जैसा, लीला ललित लखावति तैसा"। हर वर्ष दर्शक वही लीला देखता है पर हर बार नया अर्थ, नया ज्ञान लेकर लौटता है। लीला के आयोजक हों या भक्त दर्शक, सब मानते हैं- "यत् कृत्वा चाऽथ दुष्टवाहि मुच्यते पातकैर्नर:" या भागवत पुराण की बात मानें तो "लीला विदधत: स्वैरम् ईश्वरस्य-आत्मायया"।

'लीला' अरूप को रूपायित करने की गूढ़ कला है। लीला का तत्व विमर्श बताता है- 'ली' मान हृदय से लगाना और 'ला' मान ग्रहण करना, अर्थात भगवान का जिसके माध्यम से मिलन हो जाए वह लीला है। हलायुध कोश कहता है- "वियोगावस्था में अपने चित के विनोद के लिए प्रिय की वेशभूषा, गतिगमन, दृष्टि, हंसी और कथोपकथन आदि का अनुकरण किया जाए उसे लीला कहते हैं।" परमानन्द स्वरूप प्रभु की अचिन्त्य आह्लादिनी सार-सर्वस्वभूता माया योग से विविध रूपों में अभिव्यक्ति प्रीति तथा प्रवृत्ति लीला है। प्रिय जो आंखों से ओझल है, उसके कृत्यों का अनुकरण करके विरहाग्नि का शमन करने का एक उपचार है लीला। यहां समय और स्थिति (टाइम एंड स्पेस) का कोई महत्त्व नहीं। भारतीय ऋषि 'क्षण' की कल्पना करते हैं जिसमें भूत-वर्तमान-भविष्य तीनों विद्यमान रहते हैं। जो 'लीला' भाव में डूबता है वह दिव्यभाव लोक में प्रतिष्ठित हो जाता है। यहां जड़ चेतन हो जाता है और चेतन जड़ हो जाता है- इस स्थाणु गतिशीलता को सिद्ध ही पकड़ पाते हैं। वे अनुवाद करके लीला को 'गॉड का स्पोर्ट' (क्रीड़ा) कहते हैं। बालमुकुंद क्रीड़ारत हैं- हर क्षण जो होता है वह उनकी 'नित्य लीला' है, जब 'इच्छामय नर वेष' संवार वे अवतार लेते हैं तो वह **अवतरित लीला** होती है और भक्त जब उस अवतार लीला का अनुकरण करता है तो वह **अनुकरण लीला** होती है। लीला राम की, कृष्ण की, वामन या नृसिंह की और दशावतार आदि की हो सकती है। भारतीय दर्शन में प्रभु की लीला में 'सृष्टि-स्थिति-संहार' की चर्चा की जाती है। प्रभु को स्वयं उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। वे अपनी आनंदमय क्रीड़ा में बिना लिप्त हुए खेलते रहते हैं। लीला का दर्शन तो होता है पर सूत्रधार का नहीं। कहा है- 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' -सृष्टि लीला उसका विलास मात्र है। नित्य लीला यथार्थ है, अवतरित लीला वास्तविक है और अनुकरण लीला व्यवहारिक।

रामलक्ष्मण हनुमान के कंधों पर

'लीला' कर्मकांड है। दार्शनिक, धार्मिक, मार्गीय, लोकरंजन प्रतीक कर्म है, इसमें भावलोक की पूर्णता है। प्रभु सूत्रधार बनकर मर्केट की नाईं सबको नचाते हैं और उस सूत्रधार स्वामी को जान लेने पर 'माया के विकट कपट खग' से बचाव होता है। वैष्णवों की पांच रात्र संहिता में भगवान विष्णु की पूजन विधियों में नृत्य, संगीत, शोभा यात्रा, पंचायतन झांकी की पूजा, सभी कुछ आता है। एक विद्वान बोले, तुलसी साहित्यकार कवि थे तो उनकी कृति के प्रदर्शन में कर्मकांड क्यों?" तुलसी की रामकथा का नाट्य रूप में मंचन करें तो कर्मकांड की कोई आवश्यकता नहीं पर जब 'लीला' करेंगे, धार्मिक अनुष्ठान करेंगे तो ये सब उसका अंग है। फिर आपको 'नाटक' करने से किसने रोका है!

'लीला' को कुछ लोग लोक नाट्य, फोक ड्रामा में शामिल करते हैं, पर लीला में जो साम्प्रदायिक और परम्परागत अनुशासन है, नैतिक मर्यादा है वह 'फोक प्ले' में ढूंढ़े नहीं मिलेगी। लीला जैसी दर्शक सहभागिता भी वहां नहीं मिलेगी।

लीला का उद्भव 'कथा-गायन' से माना जाता है जो उसे अलग अस्मिता देता है। लीला में रामायण पाठ अनिवार्य होता है। लीला में झांकी का विधान है जो थियेटर में फ्रीज जैसा बताते हैं ; पर यह भूलकर, कि लीला की झांकी वास्तव में चाक्षुष यज्ञ है और घंटों तक चलने वाली झांकी का प्रभाव अमिट होता है, क्षणिक नहीं।

तुलसी ने कहा, "हरिलीला ही रामचरित मानस है और रामावतार की लीला ही रामलीला है।" आधुनिक हिंदी के संस्थापक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र कहते हैं-

सचित्र रामायण में फुलवारी प्रसंग

राम–सीता की सवारी

हरि लीला सब विधि सुखदायी
कहत, सुनत, देखत जिय आवत
देति भगति अधिकाई।
प्रेम बढ़त, अघ नसत, पुण्य रति
जिय में उपजत आई

'लीला' का अनूठा पक्ष है उसका उद्देश्य, प्रयोजन! *श्रीमद्भागवत* के अनुसार-

जीवस्य य: संसरतो विमोक्षणं
न जानतोऽनर्थ वहच्छरीरत:
लीलावतारै: स्वयश प्रदीपकं
प्राज्चालयत्वा तमहं प्रपद्ये।

लीला का उद्देश्य है समाज-कल्याण, मानव मात्र का कल्याण, सबके लिए सुख-समृद्धि, सुख-शांति के लिए आयोजित अनुष्ठान।

आधुनिक नाटक में अवसाद है, त्रासदी है, कैथार्सिस है, नहीं है तो सर्वमंगल, सर्वेभवन्तु सुखिन: की कामना। दुख सत्य है, भाव विसर्जन को नाटक दर्पण में दिखाना ही अभिप्रेत है जबकि लीला का प्रयोजन है दर्शक को अन्नमय कोश से उठाकर आनन्दमय कोश की ओर ले जाना। अस्तु यदि आपके अन्दर आस्था है, श्रद्धा और विश्वास है तो ही लीला देखें अन्यथा आधुनिक बनकर 'ड्रामा' देखें। दोनों ही मार्ग हैं, एक ही नदी के दो तट हैं, चयन आपको करना है।

'लीला' के बाद आइए 'रामलीला' की चर्चा करें और उसमें भी विशेष रूप से 'काशी की रामलीला' की।

वैष्णव परम्परानुसार नारायण दास 'मेघाभगत' काशी में वाल्मीकि *रामायण* पर आधारित रामलीला का शुभारंभ करते हैं। इलाहाबाद हाईकोर्ट के फैसले को मानें तो मेघा भगत संवत् 1600 में लीला करते थे अर्थात सन् 1543 में और *मानस* की रचना 1574 में हुई। रामलीला की प्रस्तुति का दूसरा संदर्भ *गौतम चन्द्रिका* में मिलता है जिसके अनुसार गोस्वामी तुलसीदास ने *मानस* की रचना पूरी होने के बाद शरद पूर्णिमा की रात तुलसीघाट पर राजगद्दी की लीला की। इसका मतलब यह हुआ कि काशी में वर्तमान रूप की रामलीला 462 वर्ष पुरानी है। यह भी ज्ञातव्य है कि आदि रामलीला (चित्रकूट, लाट) का आरंभ वैष्णवों ने काशी, अयोध्या तथा चित्रकूट में 462 वर्ष पूर्व एक साथ किया था पर अयोध्या और चित्रकूट की लीलाएं बंद हो गईं जबकि काशी की रामलीला आज भी चल रही है। प्रदर्शनकारी कला का शायद यह विश्व रिकॉर्ड है।

काशी में तीन प्रमुख रामलीलाएं हैं- चित्रकूट, असीघाट और रामनगर की। रामनगर की विश्वप्रसिद्ध रामलीला भी 175 वर्ष पुरानी है। (आरंभ 1830 में) चार सौ से अधिक वर्षों से चल रही इन लीलाओं की लंबी तथा अलिखित कथाएं हैं। कालान्तर में दर्जनों रामलीला मंडलिया बनीं, बिगड़ीं और पुन: गठित हुईं। ऐसा प्रतीत होता है कि आरंभ में केवल एक रामलीला मंडली स्थापित हुई जो प्रसंगानुसार विभिन्न स्थलों पर लीला करती थी। बाद में आपसी विवाद के कारण मंडलियां टूटीं और नई मण्डलियां बनीं।

इस समय काशी में पचास से अधिक मंडलियां लीला करती हैं। मुझे इन सभी लीलाओं में तीन विधाएं दिखीं जिसकी आगे चर्चा करेंगे। उत्तर प्रदेश (उत्तरांचल), दिल्ली, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, उड़ीसा आदि में रामालीला की विभिन्न शैलियां दिखती हैं। बिहार में रामजी दामाद हैं अस्तु वे सम्पूर्ण रामलीला नहीं करते, केवल 'दूलह सरकार' का परब मनाते हैं और कहते हैं कि विवाह के बाद सीता-राम कोहबर में गए और आज भी वहीं हैं।

लीला के बारे में एक और तथ्य जानने लायक है। वह यह कि यह शृंखला प्रदर्शन है और इसकी अवधि पांच से तीस दिन तक की होती है। मूलत: जैसा कहा गया, वाल्मीकि ने पांच ही कांड लिखे- अयोध्या से युद्धकांड तक। अर्थात् रामलीला आरम्भ होती है 'आदौ राम तपोवनादि गमनं' से और शेष होती है 'रावण-कुम्भकरण हननं' पर! आज भी चित्रकूट और असी की रामलीलाएं 22 दिन की होती हैं जबकि रामनगर की लीला 30 दिन में रावण जन्म से पुरजनोपदेश पर समाप्त होती है। कुछ मण्डलियां अति संक्षिप्त लीला- 'रामजन्म, फुलवारी, धनुषयज्ञ, भरत मिलाप और राजगद्दी' लीलाएं ही करती हैं।

कुछ बातें जो सभी लीलाओं में एक जैसी हैं वे हैं- पात्र चयन, संकल्प, मुकुट पूजन, आरती, विसर्जन। पात्र चयन में महत्त्वपूर्ण है स्वरूपों (देव चरित्र) का चयन। इसका आधार शिव संहिता में दिया है-

द्विजराज कुलोद्भूतं सुरूपं सुमुखादिकम्
सुवर्णे सुभगं चारुचेष्टं मधुर भाषिणम्।
दृष्टि चित्तहरं पुंसां शिक्षादत्त सुलक्षणम्,
कुमारं वा किशोरं वा रोग दोष विवर्जितम्।।

अन्य पात्रों के चयन की विशेषता है कि वे क्षेत्र विशेष (जिस मुहल्ले

में लीला होती है) के होते हैं और बहुधा एक परिवार के सदस्य ही भूमिका विशेष करते हैं। सभी पात्र पुरुष होते हैं, यहां तक की 'सीता' भी। स्वरूप छोटे बालक होते हैं (6 वर्ष से 12 वर्ष तक के) और इसका तर्क यह है कि भगवान निर्मल देह में ही लीला अवधि में वास कर सकते हैं। महर्षि अरविन्द 'सावित्री' में कहते हैं, ''यह मांसल देह वह अपना आवास बनाता है, मानव देह रचना में वह अपनी प्रतिमूर्ति स्थापित करता है जिससे हम उसके दिव्य स्तर तक ऊपर उठ सकें और देवपद पाने के योग्य बन सकें।'' यहां स्थल चयन की बात भी आती है और अधिकतर मंडलियां स्थल परिवर्तन के साथ लीला करती हैं। अनेक वर्षों तक लीला स्थल बने रहने के कारण मुहल्लों के नाम लीला के अनुरूप हो गए हैं जैसे चित्रकूट, अवध, लंका। यहीं क्यों, वंशगत पात्रता के लोग भी अपना नाम विस्मृत कर हनुमानजी, दशरथ, सुग्रीव, बाली, अंगद बन गए हैं।

रामनगर की रामलीला में रावण का पुतला

अब आइए, काशी की कुछ रामलीलाओं को उनकी शैली की विशेषताओं की दृष्टि से देखें। ये मुख्यत: तीन विधाओं में प्रदर्शित होती हैं– (1) झांकी लीला (2) घटित लीला और (3) तुलसी की चार घाट लीला। झांकी लीला चित्रकूट, लाट, मौनीबाबा आदि की लीलाओं में देख सकते हैं। घटित लीला केवल रामनगर में दृष्टव्य है। तुलसी लीला– तुलसीघाट के अलावा नगर की सभी लीलाओं में देखी जा सकती है। इनके अलावा भी लीला की अन्य शैलियां हैं पर काशी में ये ही तीन रूप दिखते हैं।

(1) झांकी लीला– *रामचरितमानस* से पहले भी काशी में रामलीला होती थी और यदि उच्च न्यायालय (प्रयाग) के फैसले को (इलाहाबाद लॉ जर्नल, 1910) मानें तो ज्ञात होता है कि वैष्णव मेघाभगत संवत् 1600 (1543) में लीला करते थे। फैसले के अनुसार लीला एक शोभायात्रा है और उसका किसी मन्दिर से संबंध नहीं है। हम अनुमान कर सकते हैं कि मेघाभगत की लीला *वाल्मीकि रामायण* पर आधारित थी और पांचरात्र पूजा विधान के अनुसार होती थी। आज भी वैष्णव मन्दिरों में अवसर के अनुसार झांकी सजाई जाती है और भक्तगण बहुत देर तक रूप माधुरी का नेत्रों से पान कर (चाक्षुष यज्ञ) जीवन धन्य करते हैं। अस्तु, मेघाभगत इसी परम्परा में प्रतिदिन लीला के प्रसंगानुसार एक झांकी का दर्शन कराते थे। उनकी लीला संभवत: 22 दिन की होती थी– आश्विन कृष्ण नवमी से आश्विन शुक्ल पूर्णिमा तक और आज भी यही क्रम चल रहा है।

सन् 1811 की एक घटना विशेष रूप से उल्लेखनीय है केवल इसलिए नहीं कि इससे लीला की महिमा प्रकट होती है बल्कि इसलिए भी कि इससे ज्ञात होता है कि करीब 250 वर्ष तक एक ही झांकी लीला होती थी और बाद में किन्हीं कारणों से यह कई मंडलियों में विभक्त हो गई। घटना यह थी कि चित्रकूट नामक स्थान पर अंग्रेज अधिकारियों के बंगले थे और लीला का शोर उन्हें सुहाता नहीं था। अत: पादरी मैकफर्सन ने आयोजकों से कहा कि महाकाव्य के अनुसार हनुमान सौ योजन समुद्र लांघ गए थे, तुम्हारा हनुमान यह वरुणा नदी कूद जाए तो हम मानेंगे नहीं तो लीला बंद कर दी जाएगी। हनुमान बने पं. टेकराम भट्ट रामजी की अनुमति पाकर 27 हाथ चौड़ी वरुणा कूद गए। उस पार गिरकर संभवत: उनका निधन हो गया (एक अन्य विवरण के अनुसार वे भरत-मिलाप तक जीवित रहे)। बाद में उनका मुखौटा और वेशभूषा गाड़कर एक समाधि बना दी गई और चित्रकूट में आज भी उनकी समाधि, राममन्दिर तथा हनुमान मन्दिर है।

लाट रामलीला समिति कहती है कि हम ही आदि रामलीला करते हैं और हमारे हनुमान ही वरुणा कूदे थे। आज भी चित्रकूट और लाट का भरत-मिलाप एक ही दिन होता है। तीसरे मौनी बाबा हैं वे चित्रकूट लीला के समानान्तर वहीं लीलाएं करते हैं और उनका 'भरत मिलाप' नाटी इमली स्थल पर अगले दिन होता है। किंवा चित्रकूट लीला को बहुत प्रसिद्धि और समृद्धि मिली और उनका भरत मिलाप नगर का विश्व प्रसिद्ध मेला बन गया।

इन झांकियों का एक संक्षिप्त विवरण भी देख लें। पहले दिन बड़ा गणेश के पास स्थित रामलीला भवन में मुकुट पूजन होता है, *मानस* का पहला मंगल श्लोक पढ़ा जाता है, मुकुट तथा तुलसी माला धारण करके स्वरूप सिंहासन पर बैठते हैं और आरती होती है। दूसरे दिन वहीं राज्याभिषेक का आयोजन होता है (लीला आयोध्याकांड से आरंभ होती है)। तीसरे दिन उसी स्थल पर 'कोपभवन' की लीला होती है। दशरथ की गोद में राम, लखन, जानकी विराजे हैं, इसी झांकी के साथ लीला सम्पन्न होती है। चौथे दिन झांकी सचल होती है और 'वनगमन' करते स्वरूप लीला भवन से जागेश्वर महादेव तक जाते हैं। पांचवें दिन ईश्वरगंगी तालाब में राम के गंगा पार करने की झांकी होती है और यहां से प्रभु चित्रकूट आते हैं। छठे दिन उसी ईश्वरगंगी तालाब में भरत जी गंगा पार करते हैं। सातवें दिन भरतजी ईश्वरगंगी से चित्रकूट की यात्रा करते हैं। आठवें दिन चित्रकूट में भरत सभा होती है और नौवें दिन जनक सभा। दसवें दिन भरत बिदाई होती है और वे चित्रकूट से लीला भवन लौट आते हैं। ग्यारहवें दिन लीला चित्रकूट से पिशाचमोचन आती है जहां जयन्त लड़ाई और धूलिया राक्षस वध की झांकी होती है। बारहवें दिन पिशाचमोचन पर ही नाक-कटैया होती है। (सीताहरण लीला)। तेरहवें दिन सेवरी मंगल (पिशाचमोचन) की भव्य झांकी और वहां से चित्रकूट जाते हनुमान मिलन होता है। चौदहवें दिन चौकाघाट में बाली-सुग्रीव युद्ध और लंकादहन की लीला होती है। पंद्रहवें दिन चित्रकूट में रामेश्वर पूजन और गिरि सुवेल की झांकी होती है। काशी में इसका बहुत महत्त्व है और सभी अभिजात्य परिवार इस झांकी का दर्शन करते हैं। सोलहवें दिन चौकाघाट के मैदान में चारों फाटक की लड़ाई तथा लक्ष्मण शक्ति (राम विलाप की

झांकी) की लीला होती है। सत्रहवें दिन रावणवध-विजयादशमी होती है। यह काशी का एक जमाने में प्रमुख मेला था (अब दुर्गा मूर्ति विसर्जन के कारण इसका महत्त्व घट गया है)।

अट्ठारहवें दिन विश्व का सबसे बड़ा और सबसे छोटा मेला होता है- भरत मिलाप नामक लाखा मेला। यह नाटी इमली के मैदान में होता है जिसमें काशी नरेश स्वयं पधारते हैं। इसका वर्णन कुछ पंक्तियों में नहीं हो सकता। काशी की आकाशवाणी इसकी रनिंग कमेंटरी करती है।

उन्नीसवें दिन आत्मा वीरेश्वर मन्दिर में धनुष-बाण की झांकी होती है। (यह धनुष-बाण अयोध्या में स्वयं भगवान ने मेघा भगत को दिया था ऐसी कथा है)। बीसवें दिन विश्राम की झांकी तथा सायंकाल राजगद्दी की भव्य झांकी लीला भवन में होती है। इक्कीसवें दिन सनकसनन्दन की लीला भी लीला भवन में होती है। बाइसवें दिन चित्रकूट में दशावतार की झांकी होती है और लीला सम्पन्न होती है।

लाट की आदिलीला- यह लीला घनेश्वर मठ से संबद्ध है। कहते हैं अपने जीवन काल में तुलसीदासजी पास ही में हनुमान फाटक पर रहते थे। और कहते हैं उन्होंने रामलीला यहीं आरम्भ की। काशीखण्ड में ये दोनों लीलाएं *वाल्मीकि रामायण* पर आधारित थीं (बाद में *मानस* पाठ ले लिया गया) और केदार खंड में तुलसी की लीला होने लगी। लाट की लीला बीस दिन की होती है और इनका लंकादहन वरुणा तट पर होता है। ये लोग मानते हैं कि इसी स्थल से हनुमानजी वरुणा पार कूदे थे। लीला अश्विन कृष्ण अष्टमी से आरंभ होकर कार्तिक पंचमी और छठ को वानर बिदाई, सनकसनंदन लीला के साथ सम्पन्न होती है। मुकुट पूजन, राज्याभिषेक की तैयारी, कोपभवन, वनगमन, निषाद मिलन, राम घंडैल, भरत घंडैल, नंदी ग्राम, जयन्त लीला, पंचवटी वास, विराध वध, नक्कटैया, सीताहरण, बाली वध, लंकादहन, सेतुबंध, सुवेल पर्वत की झांकी, अंगद विस्तार, लक्ष्मण शक्ति, कुम्भकरण-मेघनाद वध, रावण वध, सीता-अग्निप्रवेश, भरतमिलाप तथा राज्यभिषेक लीलाएं होती हैं। इस लीला में संवाद गद्य में होते हैं। पात्रों में हनुमान का विशेष महत्त्व है। वेषभूषा पर पारसी रंगमंच का प्रभाव होता है। अभिनय स्थल विश्वेश्वरगंज से वरुणा संगम तक और भरतमिलाप की सवारी वरुणा संगम से निकलती हैं। मुकुट पूजन, कूप पूजन आरती और रामकलेवा के दिन चढ़ावा होता है।

(2) घटित लीला- रामनगर में यह लीला महाराज उदितनारायण सिंह के समय 1830 से राजाश्रय में आई। बाद में महाराज ईश्वरीनारायण सिंह और उनके नौरत्न- भारेन्दु हरिश्चन्द्र, रीवां नरेश रघुराज सिंह, काष्ठजिह्वा स्वामी, बाबा खराबदास तथा पं. हरिहरप्रसाद 'प्रकाश' ने मिलकर इसे आधुनिक रूप दिया। कहते हैं उदितनारायण सिंह (1795-1835) हर वर्ष तुलसीघाट पर लीला देखने आते थे पर एक वर्ष युवराज की बीमारी के कारण न जा सके और दुर्ग में ही लीला करवायी।

दूसरी कथा है- संकटमोचन मन्दिर के तेजस्वी महात्मा रामप्रसादजी रामायनी ने रामलीला कराने का निर्देश दिया और फलस्वरूप राजा को पुत्र (ईश्वरीनारायण सिंह) प्राप्त हुआ। रामनगर की यह लीला पहले मिर्जापुर के भीटी गांव में होती थी और साहू लोग कराते फिर लीला किले में होने लगी। ईश्वरीनारायण सिंह के जमाने में जब बड़े पैमाने पर लीला कराने का विचार हुआ तो विद्वत् मण्डली ने तय किया कि समूचे रामनगर में लीला हो।

महाराज विभूति नारायण सिंह ने वाराणसी में विभिन्न स्थलों पर होने वाली लीलाओं के नक्शे देखकर मुझसे कहा कि शायद सारे नगर में एक ही लीला होती थी जो बाद में अनेक मण्डलियों में बंट गई। और सम्भवत:

महाराजा बनारस विभूतिनारायण सिंह (स्वर्गीय)
रामनगर किले से निकलते हुए

इसी पैटर्न को ध्यान में रखकर रामनगर रामलीला का रूप तय किया गया। काष्ठजिह्वा स्वामी ने समूचे रामनगर में लीला स्थल तय किए : जैसे रामनगर दुर्ग के पास नन्दीग्राम तथा अवध, गुलाबबाग फाटक के पास क्षीरसागर तथा रावण जन्म की लीलाएं, कोर्ट भवन के पास जनकपुर तथा सामने बाग में फुलवाड़ी, किले से वाराणसी जाते मार्ग पर वनगमन, आगे निषाद आश्रम, गंगा, रामबाग के पास चित्रकूट, सगरा पोखरा पर सुतीक्ष्ण आश्रम, आगे पंचवटी, लंका, पंपासर, टीले पर किष्किंधा, रामेश्वर मन्दिर के नीचे समुद्रातट, मन्दिर के पास सुरसा, दुर्ग (रामबाग) के उत्तर फाटक पर लंकिनी, ईशान कोण में विभीषण की कुटी, लंका में रावण का महल और दरबार, टीले पर सुवेल पर्वत, रामनगर चौराहे पर भरत मिलाप, और रामनगर दुर्ग के अन्दर कोट बिदाई। यदि आप रामनगर आवें तो समझ सकेंगे कि यह बीस वर्ग किलोमीटर में फैला मंच कितना विशाल है। हरिहर प्रसाद ने विद्वानों के सहयोग से *मानस* परिचर्या परिशिष्ट लिखा जिसे आज की भाषा में लीला की स्क्रिप्ट कह सकते हैं।

रामनगर की यह विशिष्ट लीला श्रावण कृष्ण चतुर्थी को गणेश पूजन तथा स्वरूप चयन से आरम्भ होती है। उन्हें वर्णी दी जाती है और नामकरण होता है। आगे भादो सुदी 4 को मुहूर्त देखकर *रामचरितमानस* पाठ आरम्भ होता है। पहले दिन सात दोहे पढ़ते हैं, गणेश, वाद्य और स्वरूप पूजन होता है। पाठ में पहले *विनय पत्रिका* की गणेश वंदना- 'गाइए गणपति जग वंदन'

और उसके बाद 'वर्णानाम अर्थ संघानाम' से *मानस* पाठ आरम्भ होता है। भादो सुदी 13 तक पाठ चलता है और रावण जन्म पर आकर रुकता है। अनंत चतुर्दशी को रावण जन्म से लीला आरम्भ होती है और पहले दिन क्षीरसागर की झांकी (विष्णु द्वारा अवतार लेने का आश्वासन) के साथ समापन होता है। आश्विन शुक्ल की पूर्णिमा को उपवन विहार तथा पुरजनोपदेश के साथ 30 दिन की लीला शेष होती है। 31वें दिन एक अनूठी लीला होती है जिसे कोट बिदाई कहते हैं। इसमें स्वरूप रामनगर दुर्ग में पधारते हैं, उनका काशिराज पूजन करते हैं, उन्हें भोजन कराते हैं और बिदा करते हैं।

रामलीला प्रतिदिन नियत स्थल पर सांयकाल पांच बजे आरंभ होती है और पौन घंटे बाद संध्या वंदन का अवकाश होता है। इस अवकाश की अवधि में राजा संध्या-वंदन करने चले जाते हैं और दर्शकों के लिए लीला स्थल मेले में परिवर्तित हो जाता है। इसमें लोग घूमकर कुछ खरीददारी करते हैं, खाते-पीते हैं, संतों के सान्निध्य में कीर्तन में शरीक होते हैं अथवा स्वरूपों के पास बैठते हैं। कुछ लोग *मानस* पाठ करते हैं। अवकाश के बाद गैस बत्ती की रोशनी में लीला पुनः आरम्भ होती है और अंत में आरती होती है जो अपने आप में रामनगर लीला की विशेषता है। बहुत से लोग तो केवल आरती के दर्शन करने आते हैं।

यहां एक बात बता दें कि लीला से पूर्व बालकाण्ड का पाठ स्वरूपों के सामने नहीं होता। यह पाठ चौराहे के पास एक भवन में होता है। राज्याभिषेक के बाद उत्तरकांड का शेषांश अयोध्या भवन में स्वरूपों के समक्ष पूरा किया जाता है। सभी दिन लीला 5 से 6 तथा रात 7 से 10 बजे तक होती है, पर भरतमिलाप रात 9 से 12 बजे तक होता है। राज्याभिषेक लीला रातभर चलती है और आरती सूर्योदय के समय होती है। उस रात रामनगर में दिवाली मनाई जाती है। सभी लीलाओं में धोती कुर्ता पहने और पीला साफा बांधे रामायणी पाठ करते हैं। इनके दो दल होते हैं और आमने-सामने बैठकर स्पर्धा के साथ पाठ करते हैं। प्रतिदिन लीला में काशी नरेश हाथ में लीला आलेख लिए, हाथी पर विराजमान हो दर्शक समूह के ठीक पीछे बैठकर लीला देखते हैं (लीला और दर्शक दोनों पर दृष्टि रहती है जिससे अभूतपूर्व अनुशासन बना रहता है)। हाथी के सामने रामायणी ढोल-मंजीरा- झांझ-करताल उत्तर-प्रत्युत्तर के साथ मशाल की पीतरोशनी में पाठ करते हैं। महाराज दो लीलाएं नहीं देखते। एक सीताहरण और दूसरी रावण-वध की। राजा की सवारी राम विजय के बाद राम के कैम्प में जाकर विजय की बधाई देती है।

इस प्रकार आप देखेंगे-वर्तमान को अतीत से जोड़ा जाता है, नाटक की भाषा में समय और अवकाश की टेलीस्कोपिंग होती है। रामलीला के संवादों में रामचंद्रिका, सियाराम पच्चीसी, गीतावली, रामलला नहछू, जानकी मंगल और लोकगीतों का उपयोग किया जाता है। रामलीला से पूर्व एक सारिणी छपती है जिसमें किस तिथि को कौन-सी लीला होगी यह जाना जा सकता है। रामनगर लीला की विशेषता है उसके दर्शक और उनकी निष्ठा। ऐसा तादात्म्य आपको कहीं भी देखने को नहीं मिलेगा। रामलीला की शैली है कि पहले *मानस* के कुछ दोहों का पाठ होता है। अभिनय अंश आने पर पाठ रुक जाता है। सूचक पुकार कर कहता है 'चुप रहोऽऽ' और तब केवल एक पात्र का संवाद होता है (नाटक की तरह उत्तर-प्रत्युत्तर नहीं)। इसके बाद पात्र चुप हो जाता है और यदि वह स्वरूप हुआ तो जोर का जयकारा लगता है। अब व्यासजी जो पात्र के निकट खड़े होते हैं, आवाज़ देते हैं 'रामआसरे भैया'- और रामायणी पाठ पुनः आरम्भ करते हैं और अंश पूरा होता है तब दूसरे पात्र का संवाद होता है।

इसमें जब संवाद आरम्भ होता है तो दर्शक वृंद (खड़े और बैठे) एकदम चुप हो जाते हैं, प्रबल सन्नाटा छा जाता है अस्तु बिना ध्वनि विस्तारक के संवाद आसानी से सुनाई देता है। संवाद समाप्ति के बाद पाठ आरम्भ होता है तो आप बात कर सकते हैं। बहुत से लोग तो रामायणी के साथ स्वयं भी पाठ करते हैं। अनुशासन की सीमा यह है कि यदि संवाद की अवधि में आप बोले तो बगल में खड़ा दर्शक आपको रोक देगा।

दर्शक भी यहां तीन श्रेणी के होते हैं- (1) नेमी जो नित्य नेम के अनुसार बिना नागा लीला देखते हैं (इनमें बहुत संख्या में साधु-संत होते हैं) और नेमी दर्शक की विशेष प्रतिष्ठा है और उनके लिए विशेष स्थान नियत होता है। नेमी अपने साथ रामायण की पोथी तथा बैठने का पीढ़ा लेकर चलते हैं और कैसी भी डगर हो, नंगे पांव ही चलते हैं। दूसरे दर्शक 'प्रेमी' हैं जो लीला विशेष देखने आते हैं, कुछ तो आरती में ही आते हैं। तीसरे दर्शक 'सामान्य' हैं जो यदा-कदा कौतूहलवश लीला देख लेते हैं विशेषतः बाहर से आए लोग।

अब मैं कहूं कि रामनगर रामलीला में दर्शक होते ही नहीं तो आपको आश्चर्य होगा। यहां आने वाले प्रत्येक दर्शक लीला का पात्र बन जाता है : बारात में बराती तो दरबार में दरबारी, वनगमन में वनवासी और पूजन के समय भक्त। सबको कथा ज्ञात है, संवाद याद हैं। रामजी मन्दिर में पूजन कर रहे हैं, दिख नहीं रहे हैं (मन्दिर में केवल पांच-छह लोगों के बैठने का स्थान है) फिर भी दर्शक मन दृग रघुपति लीला देखता है। कल्पना करें, अशोक वाटिका में सीता बैठी हैं, भक्तस्त्रियों से घिरी, कई फर्लांग दूर रावण का दरबार है, एक फर्लांग दूर रावण की रंगशाला है और अन्य दिशा में बहुत दूर सुबेल पर्वत पर रामजी विराजते हैं। एक स्थल से दूसरा नहीं दिखता। फिर भी हर स्थल पर निष्ठा भरे दर्शक बैठे हैं। नाटक में निर्देशक कहते हैं, दर्शकों को देख डॉयलॉग बोलो, यहां अलग ही नियम है। पात्र अपनी भूमिका जीता है उसे कोई देखता सुनता है इसकी चिंता नहीं है। इसी से मैंने इसे 'घटित लीला' कहा है।

रामनगर लीला का विस्तृत विवरण यहां संभव नहीं है। केवल कुछ विशेषताएं ही गिनाए जा सकते हैं। रामलीला को शोभायात्रा कहा गया है पर रामनगर में इस पर विशेष जोर नहीं। केवल रामजी की बारात और दशहरे का जुलूस निकलता है। संवाद में लक्ष्मण-परशुराम संवाद, अंगद-रावण संवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। संवाद की शैली विशिष्ट है, जोर से एक-एक शब्दांश पर जोर देकर बोलते हैं। वेश-भूषा और सिंगार में रामनगर की अपनी तर्ज है- मखमली चोंगा, रेशमी पीताम्बर, कमर पटुका, उत्तरीय, मुकुट, हार, बाजूबंद, धनुष-बाण और मुख-सज्जा में चेहरे पर चमकी से फूल-पत्ती बनते हैं। सीता को बनारसी साड़ी पहनाते हैं। वनवास की लीला में स्वरूप मुकुट पहने रहते हैं सिर्फ उस पर एक काली डोरी लगा देते हैं। (राम प्रभु बने रहते हैं, काली रेखा वनवास में मुकुट को निरस्त करने की प्रतीक है)। हनुमानजी लाल, अंगद-सुग्रीव पीली, नल-नील हरी झालरदार स्कर्ट पहनते हैं।

राक्षसों की पोशाक काली होती है। मुखौटे भव्य होते हैं विशेष रूप से रावण का कपड़े का जरी के काम का और हनुमान का भारी (7 किलो) मुखौटा, अंगद-सुग्रीव आदि के विशाल मुखौटे होते हैं (पीतल का मुख)। राक्षसों के मुखौटे कपड़े के होते हैं पर कुछ राक्षसों की मुख-सज्जा रंग और रेशों से करते हैं। मुखौटे कपड़े, पीतल और कागज की लुगदी के होते हैं। प्रकाश केवल गैस बत्ती, मशाल और महताबी का होता है। संगीत एक दृष्टि से नहीं होता, केवल *मानस* पाठ नारद बानी में होता है। सभी पात्र पुरुष होते हैं। स्वरूप 10-12 वर्ष के बालक होते हैं। बाकी पात्र पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही पात्र का अभिनय करते हैं।

एक रोचक बात यह है कि रावण वध के समय, जब राम तीर मारते

रामलीला में कलाकारों द्वारा पहने जाने वाले मुखौटे

हैं, रावण मुखौटे उतार कर राम के पास जाता है और उनका अभिवादन कर लीला स्थल से बाहर निकल कर सीधे अपने गांव चला जाता है। रामनगर में अनेक पुश्तों का प्रयोग होता है जैसे- चार फाटक, लंका, जटायु, रथ, घोड़े, पर्वत, नन्दी, हंस, सुरसा, रावण, कुम्भकर्ण के पुतले, स्वर्ग में इन्द्र और देवता तथा आकर्षक पुष्पाकार विमान जिस पर बैठकर सीता आती है। ये पुश्त बांस, कागज आदि से बनते हैं और ताजिया और इनकी रचना में अदभुत साम्य दिखता है। काली-दुर्गा के विशाल मुखौटे और वाराणसी की सभी लीलाओं में युद्ध तथा नृत्य दर्शनीय होता है। रामलीला में दो दर्जन मुखौटे प्रयुक्त होते हैं (जबकि कृष्णलीला में दो-एक ही)। मुकुट भव्य और बनारसी कला के अनुपम नमूने हैं।

रामनगर की अन्य विशेषताएं हैं- फुलवारी लीला में मीना बाजार तथा गिरजा बाग में विशेष सजावट, पक्षी मृग आदि का विचरण, रामजन्म के समय गुलाल उड़ाते हैं, राम बारात में सरकारी बैंड आगे चलता है, राम-विवाह में 1000 छेद वाला मालपुआ बनता है। विवाह और अन्य पूजन कर्मकांड की सम्पूर्ण पद्धति से होते हैं। रामनगर में लीला की अवधि में सैकड़ों साधु-संत काशी नरेश के अतिथि रहते हैं। धनुष भंग के समय तोप दगती है। काशी नरेश जब लीला में पधारते हैं तो 'हर-हर महादेव' के उद्घोष से उनका स्वागत होता है। रामलीला का मार्मिक पक्ष है प्रभु की लीला से दर्शक-जुड़ाव। डॉ. हेस ने अपने लेख 'रामलीला में दर्शक अनुभूति' में इस पर लिखा है। (और कुछ पूर्व तक एक मौनी बाबा, उम्र 120 वर्ष बराबर लीला में आते थे। डा. हेस ने 1976, 77, 78 में तीन वर्ष तब नेमी बनकर लीला देखी थी। उनका यह निबन्ध पठनीय है) वे निबन्ध में लिखती हैं- "रामलीला में वाल्मीकि स्पष्ट कहते हैं, यह जगत एक नाटक है जिसके लेखक, निदेशक, अभिनेता और दर्शक प्रभु स्वयं हैं।" एक उन्यासी वर्षीय वृद्ध जो नौ वर्ष की उम्र से लीला देखते आए हैं, बोले- "मैं रामजी के दरबार में बैठा हूं- कहीं और कुछ नहीं है- बस प्रभु हैं।"

(3) असी घाट की लीला- इसे मैं चार मंच की या तुलसी लीला कहना चाहूंगा। यह लीला सबसे पहले, *मानस* की रचना समाप्त करने के बाद गोस्वामी तुलसीदास ने आरम्भ की थी। *गौतम चन्द्रिका* ने प्रथम लीला, राज्याभिषेक की लीला का विवरण दिया था। यह लीला सम्भवत: सन् 1580 अर्थात 425 वर्ष पूर्व हुई होगी। इसका उल्लेख सवा दो सौ वर्ष पहले के अखाड़ा तुलसीदास के महन्तों के वसीयतनामे में उपलब्ध है जिसमें लिखा है- 'सदा की भांति इसे चलाते रहना'। वैसे वर्तमान रामलीला समिति का पंजीकरण सन् 1933 में हुआ था।

यह 16 दिन की लीला है जो चित्रकूट लीला की तरह मुकुट पूजन के बाद कोपभवन से आरम्भ होकर राम की अयोध्या वापसी तक चलती है। वर्तमान में दो लीलाएं- धनुष यज्ञ तथा सनकसनन्दन लीला जोड़ दी गई है (कुल 18 दिन)। इस लीला में भी स्थल परिवर्तन होता है। यह लोलार्क कुंड, आनन्दबाग, दुर्गाकुण्ड, लंका, संकटमोचन मन्दिर तथा तुलसीघाट पर होता है। इसका भरत मिलाप तुलसीपुरी के मैदान में होता है। एकादशी और चतुर्दशी को लीला नहीं होती। ज्ञातव्य है कि तुलसी अखाड़े की ओर से रामलीला के बाद कृष्ण लीला आरम्भ की गई थी जो आज भी कार्तिक कृष्ण अष्टमी से आरम्भ होकर मार्गशीर्ष प्रतिपदा तक चलती है (21 दिन) और इस लीला की नागनथैया (कार्तिक शु. 4) काशी का प्रसिद्ध लाखी मेला है और इसी लीला में कार्तिक शु. 11 को दशावतार की लीला होती है (जबकि चित्रकूट में रामलीला की यह समापन लीला है)। कहते हैं तुलसी ने ध्रुवलीला तथा प्रहलाद लीला भी आयोजित की थी पर ये अब नहीं होती। चित्रकूट लीला

में प्रतिदिन रामजी का मुकुट नया होता है जबकि असी में राम-सीता के दो-दो मुकुट हैं और दोनों का पूजन होता है। प्रतिदिन लीला के बाद आरती होती है जो महन्त जी करते हैं। सीताहरण के बाद की लीला की आरती की झांकी में सीताजी नहीं रहतीं।

तुलसीदास ने लीला आरम्भ क्यों की यह जानने योग्य है। तुलसी के समय संस्कृत नाटक बन्द हो चुके थे। प्राचीन काल में देवचरित अभिनय की परम्परा थी। तुलसी ने अवश्य ही नाट्य शास्त्र पढ़ा था और अवश्य ही श्री रामकृष्ण लीला अनुकरण सिद्धांत, पांच रात्र संहिता, मथुरा की रासलीला, *हनुमन्नाटक, बृहतब्रह्म संहिता* और *भागवत पुराण* का उन्हें ज्ञान था। उन्होंने वैष्णव पद्धति से होती मेघाभगत की वाल्मीकि रामायण पर आधारित रामलीला भी देखी थी और साथ ही भारत-भ्रमण भी किया था। इस देश-भ्रमण से वे बहुत कुछ सीखकर आए थे : विभिन्न रूप के मुखौटे, दशावतार लीला, कुड़ी अट्टम नाटक, वेषभूषाएं आदि। उन्होंने विचार किया होगा कि मैंने लीला तो स्थापित की पर मेरे देश के लोग अपढ़ हैं, दर्शन तो कर लेंगे पर मर्यादा और धर्म के तत्व कैसे समझेंगे? उन्होंने इसी दृष्टि से भाषा में *मानस* लिखा था पर वे चिंतित थे इसे पढ़ेगा कौन? अस्तु-विचार किया कि लीला में "जाको अर्थ जहां है जैसो, लीला ललित लखावती तैसो" अर्थात् साथ में मानसपाठ हो और दोहा-चौथाई का अर्थ गद्य में मंद गति से बोले संवाद द्वारा समझाया जाए। इस अर्थ में तुलसी का यह देश को जागृत करने का महा अभियान था।

असी की रामलीला की विशेषताओं में कुछेक ये हैं- हनुमान का पीतल का मुखौटा, हनुमान के चेहरे की पूजा, हनुमान के मुखौटे का शुचीन्द्रम् (तमिलनाडु) की हनुमान मूर्ति से अद्भुत साम्य, सीता की अशोक वाटिका में दो हनुमान -एक छोटे बालरूप और दूसरे बड़े। (सीताजी की शंका कि 'तुम नन्हें बालरूप, राक्षसों से कैसे लड़ोगे ? के उत्तर में विशाल रूप दिखाना) आदि (रामनगर में इस प्रसंग में दूसरी अनूठी तरकीब अपनाते हैं, आरम्भ में हनुमानजी एक स्तर नीचे खड़े रहते हैं अस्तु, छोटे दिखते हैं और शंका होने पर ऊपर उठकर सीता के समक्ष खड़े हो जाते हैं अस्तु, बड़े दिखते हैं।)

असी में संवाद ऊंची आवाज़ में खींचकर बोले जाते हैं और एकतारता के कारण लय बनी रहती है। भाषा में खड़ी बोली, भोजपुरी, काशिका, ब्रजभाषा और अवधी का प्रयोग होता है। जुलूस पर जोर नहीं। वेशभूषा में बनारसी रेशम और जरी का प्रयोग होता है। वनवास में स्वरूप जटाजूटधारी, घुटने तक की पीली कच्छियां पहने, पीली बंडी और कुरता पहने होते हैं, वे नंगे पैर धनुष-बाण लिए होते हैं, यज्ञोपवीत धारी और छोटे मुकुट पहनते हैं। सिंगार में चमकी का प्रयोग नहीं होता। रावण दस सिर का मुखौटा और लंबा चोंगा पहने होता है पर मेघनाद मुकुट पहनता है, मुखौटा नहीं लगाता। संगीत एहायुक्त नारद बानी में पाठ तक सीमित है। मान्यता यह है कि मुकुट में ईश्वरत्व होता है अस्तु, स्वरूप जब मुकुट धारण कर लेते हैं तो इन्हें ज़मीन पर पैर नहीं रखने देते (सिवा लीला प्रसंग में)। मंच विधान की आगे चर्चा करेंगे।

काशी की अधिकतर रामलीलाएं तुलसी लीला के पैटर्न पर ही होती हैं। असी लीला में वर्तमान में मंच का रूप स्पष्ट नहीं दिखता पर काशी की लीलाओं में मंच रूप का अध्ययन करने पर और विशेष रूप से शिवपुर की रामलीला में अद्भुत 'तुलसी मंच' के दर्शन होते हैं। मानस में चारघाट का वर्णन है और तुलसी मंच का इससे अदभुत साम्य है। एक आयताकार मैदान में चारों दिशा में चार छोटे मंच होते हैं। उत्तर में सम्भवत: सात सोपान ऊंचा 'विष्णु मंच' होता है, पश्चिम में एक या दो सोपान ऊंचा 'देवी मंच', दक्षिण में पांच सोपान वाला 'राजमंच' और पूर्व में समतल 'जनमंच'। लीला स्थल के पास तालाब हो तो वह भी लीला की गंगा या सागर बन जाता है। इन मंचों के बीच जो स्थल बचता है वहां दर्शक बैठते हैं। विष्णु मंच पर केवल स्वरूप (और धनुष यज्ञ में विश्वामित्र भी), राजमंच पर सभी राजा (क्रम से) दशरथ, जनक, बाली, सुग्रीव, रावण बैठते हैं। देवी मंच रनिवास बनता है और लंका प्रसंग में अशोक वाटिका।

जनमंच पर रामायणी बैठते हैं। यह विश्व का अनूठा मंच है और इसमें दर्शक और पात्रों के बीच की रेखा मिटा दी गई है। वैसे भी इस मंच विधान के अनेक अर्थ हैं जैसे यह मोक्ष-वैरण्य (विष्णु मंच), ज्ञान-अर्थ (राज मंच), काम-भक्ति (देवी मंच) और धर्म-कर्म (जनमंच) का मंच है। (देखें चित्र)। इसका जीवन पथ-मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग बताता है अर्थात् भक्ति-ज्ञान और कर्म मार्ग। इस मंच पर संध्या के धुंधलके में विभिन्न स्तर पर बैठे स्वरूप एक रहस्यमय सृष्टि का सृजन करते हैं। नीचे बैठे दर्शकों को लगता है जैसे आकाश में देवासुर संग्राम हो रहा है।

यह रामलीला, उसके दृश्य बंध और मंच सज्जा लोकधर्मी के सजीव उदाहरण हैं और पात्र संयोजन और झांकी का जवाब नहीं है। तीस दिन का यह शृंखला 'नाटक' विश्व का अनोखा मेला है। और इसमें यात्राएं जोड़ लें तो और भी अद्भुत होता है। काशी की रामलीलाओं में प्रत्येक की अपनी विशेषता है। जुलूस अशिव (नक्कटैया) और शिव (भरत मिलाप) के होते हैं। इनमें चेतगंज की नक्कटैया और गायघाट का भरत मिलाप बहुत प्रसिद्ध है। इन जुलूसों में लाग, काली, मार्शल आर्ट प्रदर्शन, विमान, स्वांग, बांके आदि इन्हें विशेष दर्शनीय बनाते हैं। भरत मिलाप में राम पंचायतन की झांकी लोगों को भक्तिभाव से विभोर कर देता है।

अंत में तुलसी के नाट्य ज्ञान की चर्चा करके 'रामलीला' को नमन करूंगा। मानस में सर्वत्र नाट्य सूत्र देखने को मिल जाते हैं- कुछेक उदाहरण देखें-

1. वेश प्रताप पूजिअ हि तेउ (वेश-भूषा)
2. संवदरसी जानहि हरि लीला (प्रबुद्ध दर्शक)
3. विरह विकल नर इव रघुराई (अभिनय)
4. उदित उदय गिरि मंच पर (मंच)
5. नटकृत विकट कपट खगराऊ (इल्यूजन)
6. नाचहि नर मरकत की नाई (निदेशन)
7. धरि सीता कर रूप (मुख सज्जा)
8. राम सूत्रधर स्वामी (निदेशक)
9. इच्छामय नर वेश संवारे (भूमिका)
10. खेलहि खेल सकल नृप लीला (नाटक)
11. सारद दारु नारि सम स्वामी (कठपुतली)
12. जथा अनेक वेष धरि नृत्य करह नर कोई
    सोइ सोइ भाव दिखावई, आपु न होइ सोई।।

(अभिनय का मंत्र जिसके लिए स्टैनिलवास्की सुख्यात हैं, उनका कहना है : अभिनेता को 'स्व' को अभिनीत चरित्र से अलग रखने का गुर सीखना चाहिए। तुलसी ने यह सूत्र आज से 450 वर्ष पूर्व दिया था।)

तुलसी की भारत यात्रा और उससे प्राप्त अनुभव द्वारा रामलीला को अखिल भारतीय रूप देने का प्रयास भी अद्भुत है और अध्ययन योग्य है। विश्व के प्रदर्शन जगत में 'रामलीला' अद्भुत है, उसका मंच विधान अद्वितीय है। □

काशी की कला के आयाम

काशी की कला के उदाहरण वर्तमान में प्रस्तर मूर्तियों एवं मन्दिरों के साथ ही धार्मिक क्रियाकलाप में प्रयुक्त धातु निर्मित बर्तनों, मृण्मूर्तियों, काष्ठ मूर्तियों एवं लोकपूजा की परम्परा के उदाहरण के रूप में करवा चौथ, कोहबर एवं दीपावली के अवसर पर बनने वाले भित्तिचित्रों के रूप में भी द्रष्टव्य हैं जिन्हें हमारे और आपके परिवार की महिलाओं ने सुरक्षित रखा है। काशी की सांस्कृतिक और कलात्मक विरासत का परिचय दे रहे हैं

मारुतिनंदन तिवारी

नमस्ते विश्वनाथाय विश्वरूप नमोस्तुते।
नमस्ते शून्यरूपाय लक्ष्यालक्ष्य नमोस्तुते।।

काशी भारत ही नहीं वरन विश्व की प्राचीनतम नगरियों में एक है, जिसकी तुलना एथेंस, रोम, येरूसलम एवं पीकिंग जैसे विश्व के प्राचीन नगरों स की जाती है। सांस्कृतिक चेतना के निर्बाध प्रवाह और धार्मिक तथा सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि से काशी विश्व की अन्य किसी भी प्राचीन नगरी से अधिक महत्त्वपूर्ण रही है। बुद्ध की उपदेशस्थली, जैन तीर्थंकर महावीर की धर्मदेशना स्थली तथा सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ जैन तीर्थंकरों की जन्मस्थली होने के साथ ही काशी रामानंद, शंकराचार्य, कबीर, रैदास, तुलसीदास, विवेकानंद जैसे धर्माचार्यों एवं चिंतकों की कर्मभूमि भी रही है।

काशी के धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व के कारण ही लगभग 800 ईसा पूर्व से यहां मिट्टी, पत्थर और धातु में निर्मित मूर्तियों के अवशेष मिलने लगते हैं जिनके उदाहरण मुख्य रूप से राजघाट, सारनाथ, कंदवा तथा काशी के अन्य क्षेत्रों से मिले हैं। मौर्य (अशोक का सारनाथ सिंह शीर्ष स्तंभ) और गुप्त (सारनाथ की बौद्ध मूर्तियां) काल में एक प्रमुख कला केंद्र के रूप में काशी का महत्त्व सर्वविदित है। मूर्ति निर्माण की यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से बाद की शताब्दियों में भी मिलती है जिसके प्रभूत उदाहरण लगभग सातवीं शती से 13वीं शती के बीच विभिन्न क्षेत्रों से मिलते हैं। इनमें शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति, गणेश, ब्रह्मा आदि का विविध रूपों में अंकन हुआ है। गाहडवाल काल (11वीं-12वीं शती) में काशी को विशेष प्रतिष्ठा मिली और उस समय अनेक मन्दिरों और उनके विभिन्न भागों पर मूर्तियों का निर्माण हुआ। किंतु दुर्भाग्य से आगे की शताब्दियों में तुर्क एवं मुसलमान शासकों की कट्टरवादी धार्मिक नीतियों के कारण यहां के मन्दिरों एवं मूर्तियों को बुरी तरह क्षतिग्रस्त किया गया। इसी कारण कंदवा के कर्दमेश्वर मन्दिर के अतिरिक्त हमें अन्य किसी प्राचीन मन्दिर के सुरक्षित अवशेष नहीं मिलते हैं।

18वीं से 20वीं शती के मध्य का काल काशी के धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण था। ज्ञातव्य है कि इसी अवधि में काशी के विश्व प्रसिद्ध घाटों और उनके किनारों तथा नगर के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण हुआ। इन मन्दिरों तथा मूर्तियों एवं घाटों के निर्माण में लगभग संपूर्ण भारतवर्ष के शासक धर्मों एवं समृद्धजनों का सहयोग रहा है। इस प्रकार ये अवशेष सांस्कृतिक दृष्टि से पूरे भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अपने आप में अद्वितीय है। 18वीं से 20वीं शती के मन्दिरों में स्थापत्य एवं शिल्प की विविध शैलियां देखी जा

कर्दमेश्वर, पंचकोसी मार्ग कंदवा 12वीं शती

जैन सरस्वती, पार्श्वनाथ मन्दिर, भेलुपुर, वाराणसी, 20वीं शती

सकती हैं। इस काल के कुछ मुख्य मन्दिरों में भोंसलाघाट स्थित लक्ष्मीनारायण एवं रघुराजेश्वर मन्दिर (लगभग 1800 ईस्वी), आदिकेशव स्थित आदिकेशव मन्दिर समूह (18वीं शती का उत्तरार्द्ध), ललिताघाट स्थित समराजेश्वर महादेव मन्दिर (नेपाली मन्दिर-काष्ठ निर्मित 1843 ईस्वी), काशी विश्वनाथ मन्दिर (काशी विश्वेश्वर-1775-80 ईस्वी), रामनगर स्थित दुर्गा मन्दिर (सुमेर मन्दिर लगभग 1800 ईसवी), मणिकर्णिकाघाट स्थित अमेठी शिव मन्दिर (19वीं शती) और विश्वनाथ गली स्थित रामेश्वर मन्दिर (19वीं शती) विशेषत: उल्लेखनीय है।

इन मन्दिरों में प्रतिमा लक्षण की दृष्टि से अनेक दुर्लभ मूर्तियां मिली हैं जिनमें नेपाली मन्दिर की काम संबंधी मूर्तियों के अतिरिक्त 18 हाथों वाली महिषमर्दिनी तथा विविध लक्षणों वाली भैरव एवं सप्तमातृका मातृकाओं के एक हाथ में त्रिशूल देखकर उन्हें शिव परिवार से संबद्ध किया गया है। 11 मूर्तियां, लक्ष्मीनारायण एवं रघुराजेश्वर मन्दिरों की अलग-अलग लक्षणों वाली हनुमान की आकृतियों के अतिरिक्त विष्णु के विविध अवतारों, विट्ठल और समुद्र मंथन (14 रत्नों सहित) की कथा, आदिकेशव मन्दिर समूह में सूर्य, गणेश एवं विष्णु के साथ ही पंचदेव पट्ट (देव आकृतियों के स्थान पर पांच ब्राह्मण देवों- विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश एवं शक्ति के वाहनों- गरुड़, वृषभ, अश्व, एवं सिंह के माध्यम से अभिव्यक्ति) का अंकन, रामनगर के दुर्गा मन्दिर पर विष्णु के विविध अवतारों एवं सूर्य की आकृतियों के अतिरिक्त परशुराम सहस्रबाहु युद्ध, उड़ीसा शैली के शिखर वाले देवालय में प्रतिष्ठित जगन्नाथ, सुभद्रा और बलभद्र की आकृतियां, बलराम का यमुना-कर्षण, नर-नारायण, कृष्ण के चीरहरण, गोवर्धन धारण तथा शेषशायी विष्णु, समुद्र मंथन और गंगा, यमुना, सरस्वती, अश्वमेध यज्ञ एवं पुत्रिका (पुतलियां) की आकृतियों और मणिकर्णिका घाट स्थित अमेठी शिव मन्दिर की कृष्णलीला एवं पुतलियों की आकृतियां कुछ विरल उदाहरण हैं।

मन्दिरों पर उत्कीर्ण मूर्तियों के अतिरिक्त इनमें अनेकश: पूर्वकालीन देव मूर्तियां भी सुरक्षित हैं, जो कला की उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस दृष्टि से तिलभांडेश्वर स्थित तिलभांडेश्वर मन्दिर की शिव दक्षिणामूर्ति, सुकुलपुरा स्थित शुक्केश्वर मन्दिर की गाहडवाल कालीन विष्णु एवं सूर्य मूर्तियां, शंकुधारा स्थित द्वारिकाधीश मन्दिर की चेदि-कलचुरी शैली की विष्णु मूर्ति, लोलार्ककुंड स्थित पूर्व प्रतिहार काल की सातवीं शती की ब्राह्मण चौमुखी (उमा-महेश्वर, पार्वती, गणेश एवं विष्णु), त्रिलोचन स्थित त्रिलोचन महादेव मन्दिर की पूर्वी भारत की शैली में निर्मित विष्णु एवं कार्तिकेय की मूर्तियां, मानसरोवर स्थित राम मन्दिर की चंदेल शैली की विष्णु मूर्ति, भैरवनाथ स्थित सोरईया महादेव मन्दिर की रावणानुग्रह मूर्ति, मणिकर्णिका स्थित देवकुलिका की कल्याण सुंदर मूर्ति, केदारघाट स्थित केदारेश्वर मन्दिर की दक्षिण भारतीय शैली की विष्णु, शिव, दक्षिणमूर्ति, दत्तात्रेय, गणेश एवं ब्रह्मा की मूर्तियां तथा भदैनी एवं भेलुपुर स्थित सुपार्श्वनाथ एवं पार्श्वनाथ मन्दिरों की 10वीं शती की यक्ष-यक्षी आकृतियों से वेष्टित तीर्थंकर ऋषभनाथ की मूर्तियां और द्वारिकाधीश मन्दिर का 19वीं शती का रूपमंडन के आधार पर निर्मित चतुर्विंशति केशवपट्ट सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

काशी प्रधानत: शिव की नगरी रही है। इसी कारण यहां के 17वीं से 20वीं शती के अधिकतर मन्दिर शिव को समर्पित हैं। इन मन्दिरों के गर्भगृह में शिवलिंग और चारों ओर की भित्तियों पर क्रमश: शक्ति (महिषमर्दिनी या अन्नपूर्णा या गणेश एवं शिवलिंगधारिणी तपस्विनी पार्वती), विष्णु, (एकल विष्णु या लक्ष्मी-नारायण), सूर्य (चतुर्भुज और मुख्यत: मानव-विग्रह और आदित्य रूप में) एवं गणेश, (सामान्य एवं नृत्य गणेश) की मूर्तियां उकेरी

चतुर्भुज गणेश, लोलार्क कुण्ड स्थित चौमुखी (सातवीं-आठवीं शती)

गई हैं जो काशी में पंचायतन पूजन की की परम्परा और समन्वयात्मक धार्मिक आस्था की साक्षी हैं।

काशी स्थित सारनाथ बौद्ध परम्परा और कला का अति विशिष्ट केंद्र है। बुद्ध की प्रथम धर्मोपदेश स्थली होने के कारण सारनाथ न केवल भारत वरन् विश्व के बौद्ध धर्मावलम्बियों के लिए पवित्रतम स्थल है। सारनाथ के स्थापत्य में धमेख या धर्मचक्र, धर्मराजिका और चौखंडी स्तूपों का विशेष महत्त्व है। यहां से कुषाण-गुप्त काल से 12वीं शती के मध्य के स्थापत्य एवं मूर्त्त उदाहारण मिले हैं। यहां से मिली मूर्तियां मुख्यत: सारनाथ के पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित हैं। सारनाथ के मौर्यकालीन पुरावशेष काशी की बौद्ध कला के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। अशोक का सारनाथ का सिंह शीर्ष स्तंभ आज भारत के राष्ट्रीय चिह्न के रूप में गौरव प्राप्त कर रहा है। स्वाभाविक और ओजपूर्ण रचना वाला यह सिंह शीर्ष स्तंभ एक ओर अशोक के चक्रवर्तीत्व को प्रकट करता है तो दूसरी ओर बुद्ध की चतुर्दिक फैली ''धम्मवाणी' को। बुद्ध के जीवन की चार प्रमुख घटनाओं का संकेत करने वाली अश्व, गज, वृषभ और सिंह आकृतियों का अपना वैशिष्ट्य है। गुप्तकाल में सारनाथ की कला श्रेष्ठतम स्तर पर अभिव्यक्त हुई। यहां की गुप्तकालीन बुद्ध मूर्तियों में शैली का परिष्कार और ओज सहज स्वाभाविक स्तर पर दिखता है और ये भावभूमि और शारीरिक सौंदर्य की दृष्टि से अप्रतिम हैं। बुद्ध की ध्यानमुद्रा, धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा, भूमि स्पर्श मुद्रा में बैठी और अभय एवं वरदमुद्रा में खड़ी भावपूर्ण मूर्तियों में आध्यात्मिक चिंतन और करुणा भाव की अभिव्यक्ति तथा पारदर्शक वस्त्रों का सुंदर अंकन अद्‌भुत है।

सारनाथ से प्राप्त बुद्ध प्रतिमा

बलराम–रेवती, कर्दमेश्वर मंदिर की बाह्य भित्ति – बारहवीं शती

काशी जैन कला का भी महत्त्वपूर्ण केंद्र रहा है जिसकी पारंपरिक पृष्ठभूमि सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ जिनों के काशी से संबंधित रहे होने में रही है। यहां गुप्तकाल से 20वीं शती ई. के मध्य की जैन मूर्तियां और परवर्ती जैन मन्दिर हैं। मूर्तियों में मुख्यत: जिनों या तीर्थंकरों का निरूपण हुआ है जिनमें ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियों की प्रधानता है। ये मूर्तियां भारतीय कला की अमूल्य निधियां हैं।

काशी में लोकधर्म से संबंधित नाग, वृक्ष, पशु पूजन की परम्परा भी प्राचीन काल से लोकप्रिय रही है जो आज भी व्यवहार में है। काशी के विभिन्न क्षेत्रों से इनके मूर्त उदाहरण भी मिलते हैं। इनमें भोंसला मन्दिर का 18वीं शती का नागपट्ट और आदिकेशव मन्दिर का 19वीं शती का पंचदेवों से संबंधित वाहनपट्ट मुख्य हैं। पंचदेव वाहनपट्ट पर सूर्य के अश्व, शक्ति के सिंह, गणेश के मूषक, विष्णु के गरुड़ और शिव के नंदी वाहनों का अंकन हुआ है।

काशी की कला के उदाहरण वर्तमान में प्रस्तर मूर्तियों एवं मन्दिरों के साथ ही धार्मिक क्रियाकलाप में प्रयुक्त धातु निर्मित बर्तनों, मृण्मूर्तियों, काष्ठ मूर्तियों एवं लोकपूजा की परम्परा के उदाहरण के रूप में करवा चौथ, कोहबर एवं दीपावली के अवसर पर बनने वाले भित्तिचित्रों के रूप में भी द्रष्टव्य हैं जिन्हें हमारे और आपके परिवार की महिलाओं ने सुरक्षित रखा है। मृण्मूर्तियों में खिलौनों के अतिरिक्त धार्मिक पर्वों के अवसरों पर व्यक्तिगत पूजन के लिए लक्ष्मी-गणेश, सरस्वती, शिव-पार्वती तथा विश्वकर्मा की छोटी मूर्तियों का भी निर्माण किया जाता है। साथ ही सार्वजनिक पूजन के लिए महिषमर्दिनी, सरस्वती, काली, विश्वकर्मा आदि की विशाल मृण्मूर्तियों के कलात्मक निर्माण और पूजन की परम्परा भी काशी की परम्परा में रची-बसी है। काशी का कलात्मक स्वरूप यहां के सांस्कृतिक पर्वों में भी द्रष्टव्य है, जिनमें देव दीपावली दुर्गा पूजा, शिवरात्रि नागनथैया, सूर्यषष्ठि आदि मुख्य हैं। □

काशी की चित्रकला

महाराज बनारस के दरबार में कई घरानों के चित्रकार रहे होंगे, ऐसा वहां से प्राप्त उदाहरणों से स्पष्ट हैं / पर आश्चर्य का विषय है कि उस दरबार में नगर के प्रमुख चित्रकार घरानों की सहभागिता न थी / वहां न तो उक्त पट्टनीमल्ल रामायण के रत्तर के चित्र बने न उस्ताद सिक्खी घराने के / जान पड़ता है कि काशीराज के दरबारियों ने चित्रकारों को प्रवेश न होने दिया / काशी की चित्रकला परम्परा पर **राय आनंदकृष्ण**

काशी सदा से भारतीय संस्कृति का केंद्र रहा है, कला-कौशल का भी। अत: आशा करनी चाहिए कि यह चित्रकला का भी केंद्र रहा होगा। यद्यपि इसके प्राचीनत्तर काल के साहित्य में ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। काशी-चित्रकला के प्राचीन काल के संकेत मिले हैं, भले ही वे प्रकारांतर क्यों न हों। यह सर्वमान्य है कि मूर्तियों के निर्माण में उसकी प्रथम परिकल्पना रेखांकन के द्वारा ही होती है। काशी और उसके उपरांत सारनाथ से प्राप्त विशाल मूर्तिशिल्प वैभव इसका प्रबलतर साक्षी है, उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं। वर्तमान राजघाट टीले (प्राचीन काशी) से प्राप्त लघु आकार की कुछ मृण्मूर्तियों में जैसा बारीक और सजीव अंकन मिलता है, गुप्तकाल में उसी श्रेणी के चित्र बनते रहे होंगे। काशी वस्त्रोद्योग का प्रमुख केंद्र था अत: वस्त्र अलंकरणों (डिजाइनों) के लिए भी चित्रकला का प्रयोग होता था, इसमें संदेह नहीं। गुप्तोत्तर काल वाले *स्कंद पुराण* के काशीखंड में विभिन्न प्रकार के धार्मिक दानों के अंतर्गत (काशी के) पट चित्र के दान का भी उल्लेख है। *चतुर्भाणी* में काशी में डिंडियों (गुंडों) के उत्पाती स्वभाव के प्रसंग में यह भी उल्लिखित है कि वे भित्ति चित्रों पर काली स्याही से चील बिलार कर उन्हें नष्ट भ्रष्ट कर देते थे।

मध्य काल में यहां 'अपभ्रंश' शैली का प्रभाव रहा होगा क्योंकि निकटवर्ती जौनपुर में, जो उस समय सल्तनत की राजधानी थी, इसी शैली में श्वेतांबर जैन धार्मिक ग्रंथ, *कल्पसूत्र* की एक प्रति 1465 ई. में तैयार हुई थी जिसके चित्रों में स्थानीयता स्पष्ट है। इसी उपशैली की दो एक अन्य चित्रित प्रतियां भी प्रकट हुई हैं।

स्वयं काशी शैली के चित्रित ग्रंथों की शृंखला अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध से उपलब्ध होती हैं। मेरा संकेत लालचदास हलवाई रचित *हरिकथा* (रचना काल 1528 ई.) की एक परवर्ती सचित्र प्रति की ओर है जो 1736 ई. में लिपिबद्ध होकर चित्रित हुई।[1] मेरी जानकारी में काशी में प्रस्तुत और चित्रित, यह सबसे प्राचीन (ज्ञात) उदाहरण है। सामान्य दृष्टि से इसे बृहत्तर 'राजपूत' शैली के व्यापक संदर्भ में रखा जा सकता है। इस पर अभी तक इस दृष्टि से विस्तृत खोज अथवा विचार-विमर्श नहीं हुआ है।

मेरा अनुमान है कि मुग़ल काल की स्थानीय चित्रकला इसी बृहत्तर राजपूत चित्रकला का एक विस्तार था, जिसके प्रमाण दक्षिणी बिहार तक मिले हैं। अनेक राजपूत चित्रों को, जिन्हें हम राजस्थानी मानते आ रहे हैं, उनमें से कुछ पूर्वी भारत के (पूर्वी उत्तर प्रदेश-बिहार) के होने चाहिए[2] परंतु यह एक स्वतंत्र विषय है। यहां इतना ही अभीष्ट है कि जिस प्रकार उस युग में ब्रजभाषा काल की व्यापक व्याप्ति थी उसी प्रकार उक्त राजपूत शैली की भी। उक्त *हरिकथा* चित्रणों में व्यापक राजपूत शैली के अंतर्गत, स्थानीय छाप भी है।

अंगूरी जाल (चित्र : रामप्रसाद)

पुष्पिका के अनुसार *हरिकथा* की यह चित्रित प्रति काशी के स्थानीय शासक मीर रुस्तम अली के शासन काल में 1793 ई. में प्रस्तुत हुई। यह प्रति व्यापक रूप में चित्रित हुई जिसमें दो-ढाई सौ अंकन हैं। इसमें संकेत मिलता है कि इस शैली के चित्रकारों की बड़ी संख्या रही होगी जो इसमें प्रवृत्त हुए। उनकी कला अभिव्यक्तियों में थोड़ा-थोड़ा अंतर स्पष्ट दीखता है। इसमें मुख्यत: तीन श्रेणियों के चित्र हैं : पूरे पृष्ठ के अंकन/ अभिव्यक्ति की दृष्टि से इनमें से कई बड़े प्रभावशाली हैं। उनमें लोक शैली जैसी सप्राणता है। यद्यपि वे लोक शैली के अंतर्गत नहीं रखे जा सकते। फिर भी कहीं-कहीं उसके निकट अवश्य है। सामान्य रूप से इनमें राजस्थानी शैली से बहुत निकटता मिलती है। साथ-साथ रूप विधान, रंग विधान आदि में एक स्पष्ट एवं निश्चित परम्परा की निरंतरता भी मिलती है, उदाहरण के लिए परम्परागत 'एक चश्मी' चेहरों में आंख के अंकन के नीचे 'डॉल' (मॉडलिंग) के हेतु साया दिखलाने के लिए एक अतिरिक्त रेखा का प्रयोग। कहीं-कहीं यह रेखा ऐसी असंगत है

गुरुनानक (चित्र : शारदाप्रसाद)

कि जान पड़ता है कि इसे परवर्ती काल में सर्वत्र 'बैठा' दिया गया हो। इस वर्ग में कुछ अत्यंत प्रभावशाली अंकन हुए हैं। पूर्वी राजपूत शैली की एक अन्य विशेषता भी यहां मौजूद है: रंगविहीन सादी पृष्ठभूमि और कागज के स्वाभाविक सफेद सतह पर स्थान-स्थान पर 'बूटों' (अलंकारिक पुष्पित पौधों) का अंकन। प्राकृतिक दृश्यावली कम ही है, पर अलंकारिक चट्टानें, वृक्ष-लतादि अपनी स्वतंत्र परम्परा के साक्षी हैं। आकाश में अत्यंत हल्के प्रकार के बादल हैं।

इस ग्रंथ के दूसरे वर्ग के चित्रण मूल पाठ काव्यालेखन के बीच-बीच में आते हैं। ये फलक (पैनल) अत्यंत छोटे आकार के हैं। ध्यान देने योग्य है कि इन छोटे-छोटे दृश्यांकनों में उपर्युक्त शैली अत्यंत साधारण कोटि की है, संभवत: एक भिन्न वर्ग के चित्रकारों की कृति। पर बड़े पैनल प्रथम वर्ग के समकक्ष हैं। चित्रों की एक सामान्य विशेषता है कि पात्रों के निकट, अथवा हाशिए से सटे हुए पात्र परिचय अथवा दृश्य परिचय दिया गया है वह भी स्थानीय एवं कैथी लिपि में और भ्रष्ट वाक्य विन्यास द्वारा। यह दृश्य लोक कला के निकट है। यहां एक प्रासंगिक सूचना अपेक्षित है कि पूरे पृष्ठ वाले बड़े आकार वाले चित्रों की परम्परा पिछली शती के पूर्वार्द्ध तक, किसी न किसी रूप में चली आ रही थी, लेकिन भित्ति चित्रों के रूप में। पर द्वितीय महायुद्ध काल से एक 'नया' दौर चल पड़ा जिसे हम सिनेमा पोस्टरों से प्रभावित कह सकते हैं। इसके आते ही उक्त पुरानी परम्परा की इतिश्री हो गई।

अब उक्त 1736 ई. वाले (*हरिलीला*) सचित्र ग्रंथ की तीसरी शैली का भी सूक्ष्म में विवेचन करें। इस धारा के अंतर्गत प्रारंभिक भाग के दृश्यों तक का ही चित्रण हुआ है फिर भी उनकी संख्या यथेष्ट है। ये भी छोटे-छोटे फलकों (पैनल्स) के आकार वाले हैं। पर ये केवल रेखाचित्र हैं, जिनमें कहीं-कहीं रंगों का हलका-सा प्रयोग हुआ है। रेखाएं अत्यंत पुष्ट और प्रवाहमान हैं एवं दृश्यों की प्रबल अभिव्यक्ति है। संभवत: ये किसी चित्रकार वर्ग विशेष की कृतियां थीं। किसी अज्ञात कारणवश पूर्वांश में काम करने के बाद उनके स्थान पर परवर्ती चित्रकार आ गए। साथ-साथ यह भी संभव है कि इस वर्ग वाले चित्र, रेखांकन के स्तर पर ही, अधूरे छोड़ दिए गए। ध्यान देने योग्य है कि ये रेखाएं हलकी बादामी-सी हैं : इस रंग को उस्ताद रामप्रसादजी के घराने में 'आबरंग' कहा जाता था। इन चित्रों के विधिवत प्रकाशन द्वारा काशी शैली पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ेगा।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि काशी क्षेत्र में उक्त 'राजपूत' शैली का प्रभाव कब आया। यों तो चित्रकला के क्षेत्र में यह एक व्यापक आंदोलन था, जिसके स्थानीय उपभेद समूचे उत्तरी भारत में (पश्चिमी एवं पूर्वी भारत समेत) मिलते हैं परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर काल (सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध) से इसका प्रभाव बढ़ा। काशी के संदर्भ में, इसके तीन प्रमुख प्रतिपालक रहे होंगे : सुप्रसिद्ध राजा टोडरमल के सुपुत्र गिरधारी; जिन्होंने विश्वनाथ मन्दिर का पुनर्निर्माण किया। बूंदी के राव सुरजन जो बादशाह अकबर द्वारा नियुक्त यहां के प्रांतीय शासक थे, एवं आमेर (वर्तमान) जयपुर के राजा मानसिंह राव सुरजन जिनके विषय में ख्याति है कि उनके साथ सैकड़ों पंडित, सुलेखक, अनेक प्रकार के कला कौशल वाले कारीगर आदि आए। यह क्रम बाद की पीढ़ियों तक चलता रहा। उधर काशी में उनके महाराज मानसिंह ने एक बहुत बड़ा विद्या केंद्र स्थापित किया था जो तत्कालीन बिंदुमाधव मन्दिर (वर्तमान माधवराव के धौरहरे) के पार्श्व से चलता हुआ, वर्तमान रामधार तक विस्तृत था। वहां आमेर के राजकुमार विद्याध्ययन के हेतु भेजे जाते थे। ऐसे उल्लेख मिले हैं।

अठारहवीं-उन्नीसवीं शती से क्रमबद्ध रूप में काशी की चित्रकला का विकास क्रम मिलने लगता है। उनमें से एक प्रमुख उदाहरण *हरिकथा* की सचित्र प्रति का ऊपर उल्लेख हो चुका है। वस्तुत: काशी में समानांतर रूप में कई चित्र शैलियां चल रही थीं, जिनके स्पष्ट संकेत मिलते हैं। ''राजपूत शैली के जिस स्थानीय स्वरूप की चर्चा की गई है उसी धारा में काशी के नगर सेठ ग्वालदास की शबीह'' (व्यक्ति चित्र) उपलब्ध है। (अठारहवीं शती

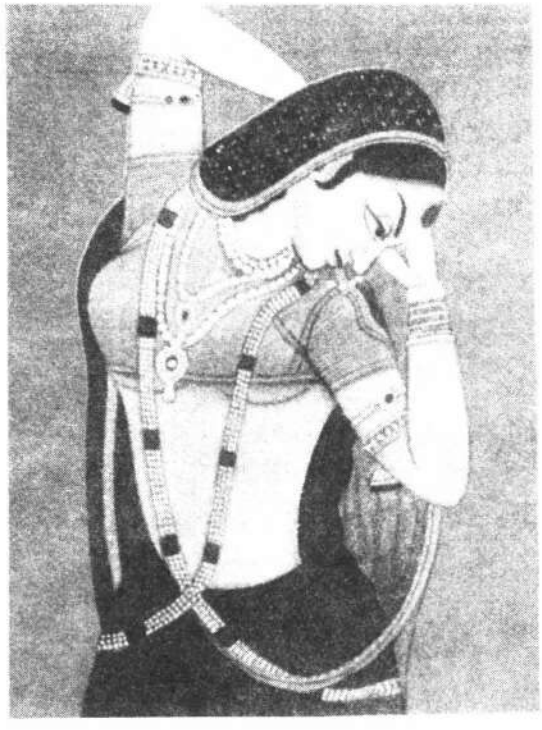

अंगड़ाई (चित्र : मुकुन्द प्रसाद)

का मध्य) परम्परागत होते हुए भी यह उच्चकोटि का उदाहरण है। इसका आलेख सधा हुआ है और रंग भी तीखे एवं आकर्षक हैं। इसमें शबीह के सभी गुण हैं : सेठजी का व्यक्तित्व साकार हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि परम्परागत चित्रकार इतनी उत्कृष्ट शबीहें तैयार करते थे। यहां मेरा सुझाव है कि मूलत: उस्ताद सिक्खी की भी इसी श्रेणी की कोई परम्परा रही होगी

स्थानीय राजनीतिक उथल-पुथल के उस युग में काशी का एक विशिष्ट स्थान था। अवध के नबाबों, मराठों, दिल्ली की बादशाही तथा राजपूतों की दूर से सही, पर धार्मिक-सांस्कृतिक भागीदारी, इन सभी की दृष्टि काशी पर थी। सर्वोपरि दूर से ही सही, पूरब से उठती हुई एक राजनीतिक आंधी थी, ईस्ट इंडिया कंपनी। इसी समय फैजाबाद-लखनऊ की नवाबी के अंतर्गत स्थानीय जनप्रिय नवाब रुस्तम अली के हाथों से सत्ता फिसल कर वर्तमान काशी नरेश के पूर्वजों के हाथ में चली गई। दिल्ली का प्रभुत्व पहले ही अस्त हो चुका था। ईस्ट इंडिया कंपनी दरवाजे पर दस्तक दे रही थी। अंतिम राजा चतसिंह 'कंपनी' के कारिंदे थे। वह भी पलायन कर गए। नाती के वंश को 'कंपनी' ने काशीराज माना जो आज तक चला आ रहा है (दे.नीचे)। यह वंश कला संस्कृति का विशेष प्रतिपालक रहा है। काशी 'कंपनी' के प्रभाव में आ गई।

रुस्तम अली स्वयं भी चित्रों के प्रतिपालक थे। उत्तर मुग़ल चित्रशैली के अंतर्गत, होली खेलते हुए मीर का एक रंगीन रेखाचित्र भारत कला भवन में सुरक्षित है। कला की दृष्टि से यह बहुत प्रभावशाली नहीं कहा जा सकता परंतु कुछ ही बाद स्थानीय चित्रकला में सुदूरगामी परिवर्तन लक्षित होने लगा। अठारहवीं शती के अंत में यहां दिल्ली की उत्तर मुग़ल शैली की एक शाखा स्थापित हुई। शाह आलम द्वितीय के पुत्र शाहजाद जवान बख्त ने वहां से भागकर काशी में वारेन हेस्टिंग्स की शरण ली (1786 ई.)। उनके साथ के लबाज में शाही चित्रकार लालजी मुसव्वर भी थे। इनके द्वारा चित्रित *भागवत पुराण* की एक विस्तृत चित्रमाला स्थानीय दशाश्वमेध के एक पंडितजी के पास थी। संभवत: ये रामनगर के दुर्गा मन्दिर के पुजारी थे। मुझे उस प्रति को देखने का अवसर प्राप्त हुआ था : शुरू से इति तक रेखांकन पक्का स्याह कमल स्तर का था, शैली की दृष्टि से उसमें और मीर रुस्तम अली वाले उपयुक्त चित्र में थोड़ा बहुत साम्य भी था। मेरे पू. पिताजी के बहुत प्रयत्न करने पर भी वह प्रति भारत कला भवन को उपलब्ध न हो सकी।[3] लालजी मुसव्वर की कला का काशी चित्रशैली पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। उनसे काशी के कलाकार उस्ताद सिक्खी ने विद्या ग्रहण की जो आज भी इस वंश में चली आ रही है।

यहां हम काशी की चित्रकला की एक अन्य धारा पर भी विचार करेंगे जिसके अंतर्गत कुछ (तत्कालीन) शबीहें (व्यक्तिचित्र, पोट्रेट) आती हैं जैसे- स्वयं राजा चेतसिंह की शबीह (भारत कला भवन), सेठ फतहचंद की शबीह (भारतेन्दु परिवार में), कांच पर बनी महाराज महीप नारायण सिंह की शबीह (भारत कला भवन)[4]। इनमें मिट्टी की बनी शिबरतन साहु (सुंघनी साह) की शबीह (महाकवि जयशंकर प्रसाद जी के परिवार में) सम्मिलित की जा सकती है। ऐसे अन्य उदाहरण भी हो सकते हैं। इनमें परम्परा और वास्तविकता का अद्भुत सम्मिश्रण है। एक विलक्षणता भी है कि इन सभी में मृद रंगों (अरांक्र्स) वाला रंग विधान है जिसके अंतर्गत झांवर (बुझे हुए) रंगों का प्रयोग मिलता है[5]।

काशी में 'कंपनी शैली' के आगमन के साथ-साथ दो नई विधाओं का प्रवेश हुआ। एक ओर तो यूरोपीय शैली में तैल चित्र (ऑयल पेंटिंग) का प्रचलन हुआ जिसका सीमित प्रयोग ही मिलता है, दूसरी ओर हाथी दांत पर अंकन। इसके समानांतर कांच पर चित्रण आता है। अंतर इतना ही है कि कांच के पिछली ओर रंग लगाया जाता है और रंग लगाने का क्रम भी उलटा होता है।

प्राय: 1810 ई. में मेरे पूर्वज सुप्रसिद्ध राजा पट्टनीमल्ल काशी में आ बसे।[6] उन्होंने *रामचरित-मानस* की एक सचित्र प्रति तैयार कराई।[7] यह खंडित अवस्था में है। संभवत: यह पूरी ही नहीं हुई। आज बालकाण्ड का अधिकांश भाग बचा हुआ है : वही कोई दो सौ पृष्ठों का बीच-बीच में प्रभूत संख्या में चित्र हैं, अनेक पूरे पृष्ठ वाले। यह भी ज्ञात नहीं कि इस प्रति के चित्रकार स्थानीय थे अथवा राजा साहब के साथ आकर यहां बस गए। ऐसी स्थिति में काशी में चित्रकला की एक नई धारा चल पड़ी। चित्र उच्चकोटि के हैं, बीच-बीच में कुछ स्तरहीन पर ये संख्या में नगण्य। शैली की दृष्टि से इन्हें हम उक्त 1736 ई. वाले हरिकथा के कुछ (पूरे पृष्ठ वाले) चित्रों की सीधी परम्परा में है। *मानस* वाले इस काल चित्रों की संख्या नगण्य है। संभावना यह है कि ये चित्रकार किसी-किसी प्रकार इस चित्रण में स्थान पा सकें। यद्यपि इस आधार पर इस परम्परा का अभिज्ञात होता है, इसे दूर-दूर से उक्त ग्वालदास साहु की शबीह की धारा में 'बृहत्तर राजपूत शैली' के अंतर्गत रखा जा सकता है। मेरा अनुमान है कि ये काशी मूल के चित्रकारों के

कंपनी शैली का चित्र

जंतु जगत (चित्र : शारदा प्रसाद)

महाराज ईश्वरी नारायण सिंह

घरानों की कृतियां हैं पर अब उसका अंत हो गया है। इनके अनेक चित्र अत्यंत उच्चकोटि के हैं। इनमें कृतित्व है, सप्राणता है, रंगों का अद्‌भुत चुनाव है, ताजगी है, आकृतियां सश्वास हैं। जन्म के साथ ही भगवान राम के विराट रूप का चित्रण है, वैसा ही फुलवारी लीला का सरस। ऐसी अनेक विशिष्ट कृतियां हैं।

यहां हम काशीराज महाराज उदित नारायण सिंह के आदेश से प्रस्तुत *रामचरितमानस* की 1808 ई. वाली सचित्र प्रति को लें। यह बड़े सजधज के साथ चित्रित की गई। परंतु इन दृश्यों में इतनी अधिक सजावट है कि प्रस्तुत घटना परिप्रेक्ष्य में चली जाती है। पृष्ठभूमि के भवन आदि में यह अलंकारिकता विस्तार से प्रकट होती है। इसकी कलम (आलेखन) अच्छी है पर अभिव्यक्ति की दृष्टि से शुष्क [8]। काशीराज के रामनगर दुर्ग के एक कक्ष में शकुंतलोपाख्यान के भित्ति चित्र हैं। कहा जाता है कि बार-बार मरम्मत होने पर भी अब वे झड़ रहे हैं। अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये अत्यंत जड़ हैं। ये किस घराने की कृति है, पता नहीं। परंतु इनसे प्रतिपालक राजा की चित्रों के प्रति उदासीनता का संकेत होता है [9]। इनकी तुलना के लिए हम भारतेन्दु परिवार संग्रह के 'बुढ़वा मंगल' वाले चित्र को ले सकते हैं। स्वयं भारतेन्दु सभा में एक चित्रकार थे। संभवत: स्वयं भारतेन्दु ने चित्रकला में कुछ शिक्षा भी ली थी। उनका जलीय रंगों में अंकित एक लघुचित्र (मिनिएचर) हमारे संग्रह में था [10]। यह भी मूलत: उपर्युक्त 'राजपूत शैली' के अंतर्गत है। स्थानीय शैलीगत पर इसे साधारण कोटि में ही रखना होगा। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि काशी में सामान्य स्तर के चित्र भी बन रहे थे पर उन चित्रकारों के विषय में सूचनाओं का अभाव है। कुछ वर्ष पूर्व मैंने दिल्ली के एक सुप्रसिद्ध चित्र विक्रेता के पास इस कोटि के कुछ चित्र देखे थे जो काशी नरेश के दरबार अथवा रामलीला संबंधी दृश्यों पर आधारित थे।

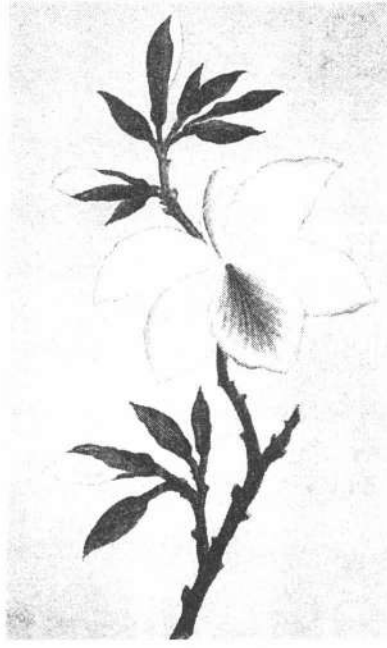

कंपनी शैली का चित्र

काशी में 'कंपनी शैली' [11] के आगमन के साथ-साथ दो नई विधाओं का प्रवेश हुआ। एक ओर तो यूरोपीय शैली में तैल चित्र (ऑयल पेंटिंग) का प्रचलन हुआ जिसका सीमित प्रयोग ही मिलता है, दूसरी ओर हाथी दांत पर अंकन। इसके समानांतर कांच पर चित्रण आता है : अंतर यह है कि कांच के पिछली ओर रंग लगाया जाता है और रंग लगाने का क्रम भी उलटा होता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति का अंकन करना हो तो पहले उसके शरीर पर धारण किए हुए आभूषण, तदुपरांत वस्त्र का अंकन किया जाता है। अंत में इसका खूब प्रचलन हुआ पर भंगुर होने के कारण अब इसके स्थानीय उदाहरण नहीं के बराबर प्राप्त है। यथास्थान महाराज महीप नारायण सिंह की शबीह की चर्चा हो चुकी है।

हाथी दांत पर चित्र बनाने की भी विशेष प्रक्रिया है। उस पर बनी आकृतियों में एक अजब लुनाई होती है, यदि रंगों का समुचित प्रयोग हो तो वे बड़े मृदुल लगते हैं, असरदार भी। इन विधाओं के आते ही परम्परागत कलाकारों में एक होड़-सी मच गई। पर उनमें किसी की एक भी कृति उपलब्ध नहीं, न उनकी परम्परा ही बची है। अपवादस्वरूप उपर्युक्त उस्ताद सिक्खी के वंशजों में यह परम्परा कुछ चलती दिखाई देती है, पर वह भी नामलेवा मात्र। इस वंश की कृतियों के भी उदाहरण परवर्ती काल से ही मिलते हैं।

उन्नीसवीं शती में काशी में, विशेषत: काशीराज के दरबार में कंपनी शैली का प्रवेश हुआ। इसके सबसे विशिष्ट प्रतिपालक महाराज ईश्वरी नारायण सिंह विख्यात है, परंतु मेरी दृष्टि में काशी दरबार में इसकी व्याप्ति कुछ पहले से ही, महाराज उदित नारायण सिंह के समय से ही रही होगी। इसका संकेत उनके द्वारा निर्मित रामनगर [12] स्थित दुर्गा मन्दिर की बाहरी दीवारों पर उकेरी प्रस्तर मूर्तियों से मिलता है। उन पर उक्त 'कंपनी शैली' की प्रभूत छाप है। फिर महाराज ईश्वरी नारायण काल में मुख्यत: उनके परवर्ती काल में, (उन्नीसवीं शती का मध्य एवं अंत) में इस दरबार में कंपनी शैली का भरपूर पल्लवन हुआ जिनके उदाहरण बड़ी संख्या में भारत कला भवन में संग्रहीत हैं, पर उनकी तुलना में कितने ही इधर-उधर हो गए कहा नहीं जा सकता। अनेक उदाहरणों पर तत्कालीन कैथी लिपि में लेख हैं।

काशी में कंपनी शैली की स्थापना पटने से आए चित्रकारों ने की। इसे महाराज ईश्वरी नारायण सिंह के अंतर्गत उसी उपशैली का एक परवर्ती बढ़ावा मानना चाहिए। परंतु यहां उसे एक नई स्फूर्ति मिली, प्रतिपालक एवं प्रतिपाल्य (चित्र भर) के बीच एक मानसिक एवं भावनात्मक सेतु बना, मानो तार जुड़ गए। फलत: इन चित्रों में एक आत्मीयता है। इनके विस्तृत वर्णन एवं अनुशीलन का यहां अवसर नहीं। मोटे तौर पर चित्रकार के विषय थे स्वयं राजा और उनके निकटवर्ती, उनकी पसंद के फल-फूल, पशु-पक्षी आदि। प्रत्येक में सप्राणता है। घटनाओं का स्वल्प ही चित्रण हुआ, जैसे रामलीला देखते हुए राजा अथवा शिकार किए हुए मृत शेर के साथ राजा, आदि। महाराज के गुरु काष्ठ जिह्वा स्वामी (कठ-जिब्या स्वामी) या देव स्वामी थे। उनके प्रबंधन का चित्र है, उनके शरीरांत का भी। कला की दृष्टि के साथ-साथ तत्कालीन संस्कृति एवं उसके प्रधान पुरुष महाराज ईश्वरी नारायण सिंह के भी ये मार्मिक प्रतिबिंब हैं। स्वयं 'कंपनी शैली' के बृहत्तर परिवेश में इनका विशिष्टतर स्थान है। महाराज ईश्वरी नारायण सिंह के साथ-साथ ही इस शैली का अंत हो गया। फुटकर रूप में यह कुछ वर्षों तक और चली।

महाराज बनारस के दरबार में कई घरानों के चित्रकार रहे होंगे, ऐसा वहां से प्राप्त उदाहरणों से स्पष्ट हैं। पर आश्चर्य का विषय है कि उस दरबार

में नगर के प्रमुख चित्रकार घरानों की सहभागिता न थी। वहां न तो उक्त पट्टनीमल्ल रामायण के स्तर के चित्र बने न उस्ताद सिक्खी घराने के। जान पड़ता है कि काशीराज के दरबारियों ने चित्रकारों को प्रवेश न होने दिया [13]। इन दरबारी चित्रकारों के एक वर्ग का काम– 'रागनी' शैली में था जिसमें जलीय रंगों से चित्रण करने के बाद उसका रागन का लेप कर देते थे। उन्नीसवीं शती में इस शैली का प्रचार शुरू हुआ। रामनगर दुर्ग संग्रहालय में इसके कुछ उदाहरण प्रदर्शित किए गए हैं जिसमें एक महाराज उदित नारायण सिंह का दरबार वाला तथा दूसरा बुढ़वा मंगल वाला दृश्य है। कलाभिव्यक्ति की दृष्टि से इन्हें हम उच्च स्थान नहीं दे सकते।

उस्ताद रामप्रसाद का स्वरचित व्यक्ति चित्र

क्रमश: रामनगर आश्रित कंपनी शैली इतिहास की वस्तु होती जा रही थी। इनमें से कुछ कलाकारों ने फोटोग्राफी में अपना स्थान बनाया। उन्नीसवीं शती के अंतिम दशकों में उस्ताद सिक्खी (दे. ऊपर) के वंशज अपनी परम्पराओं को जगाए हुए थे, यद्यपि आर्थिक दृष्टि से वे बहुत सफल न हुए। उस काल में इसके प्रतिनिधि उस्ताद मूलचंद हुए जो 'मूला उस्ताद' के नाम से विख्यात थे।[14]। इनकी मुख्य चुनौती तत्कालीन 'कंपनी शैली' के चित्रकारों से थी। उसी प्रभाव में इन्होंने भी उनकी विधाएं (तैल चित्र, हाथी दांत, कांच पर चित्र) में भी कुशलता प्राप्त कर ली थी। आश्चर्य है कि काशीराज ही नहीं, काशी के सुसंस्कृत एवं, प्रभविष्णु समाज में इन्हें तनिक भी आश्रय प्राप्त न हुआ, न उनकी कृतियां ही इन घरानों से प्राप्त हुई हैं। अपवाद के रूप में सुप्रसिद्ध पीतांबर देवी के मन्दिर के स्वामी (किसी व्यास जी) ने इनसे दुर्गापाठ की दो चित्र मालाएं तैयार कराई थी। सौभाग्यवश वे सुरक्षित हैं। उनके द्वारा उस्ताद मूलचंद की अद्‌भुत प्रतिभा एव सृजनशीलता से हम परिचित होते हैं [2]। उनके सुपुत्र उस्ताद रामप्रसाद जी (दे. नीचे.) के अनुसार ये एक पूर्ववर्ती चित्रावली पर आधारित थी [15]। परंतु उस्ताद मूला ने उनसे प्रेरणा मात्र प्राप्त की होगी। इन चित्रों में अद्‌भुत कृतित्व है, सप्राणता है। उस्ताद मूला को समुचित प्रतिपालन का अभाव ही रहा। मुख्यत: वे दूसर व्यवसाय में लग गए [16] अथवा उन दिनों प्रचलित लीथा प्रकाशनों का चित्रण करने लगे परंतु सुधी ग्राहकों में मूला उस्ताद की मांग थी [17]। इस घराने में देवी देवताओं के 'ध्यानों [18] का व्यापक भंडार था, काशी में उनका प्रतिद्वंद्वी न था। इनमें कुछ गुह्य उपासना के हेतु थे जिनका दर्शन निषिद्ध था। इनकी मांग थी। प्रतिपालन के अभाव में ये स्वयं प्रतिपालक खोज लेते। किसी प्रभविष्णु का फोटोग्राफ प्राप्त कर, उसके आधार पर हाथीदांत पर शबीह बनाकर भेंट करते, अकूत पारितोषिक पाते। उस्ताद मूला और उनके सुपुत्र रामप्रसाद (दे.नीचे) इसमें अद्वितीय थे। पर यह आकाशी वृत्ति थी। भारत कला भवन संग्रह में नेपाल के कर्नल मातबर सिंह की (हाथी दांत पर अंकित) शबीह संभवत: उस्ताद मूला की कृति है [19] जो इस वर्ग का एक अद्‌भुत उदाहरण है।

उस्ताद मूला प्राय: 1880–90 तक कार्यरत थे। उनके पुत्रों में द्वितीय, उस्ताद रामप्रसाद थे जिन्होंने इस परम्परा को एक नई ऊंचाई दी। हम इसे उत्तर मुग़ल शैली की स्थानीय काशीस्थ उपशैली कह सकते हैं। संयोगवश मेरे पिता स्व. राय कृष्णदास जी से उनका संपर्क हुआ (प्राय: 1906 ई.) फिर वह आजन्म बना रहा। उस्ताद के पुत्र (स्व. शारदा प्रसाद) एवं पौत्र (श्री मुकुंद प्रसाद) के द्वारा यह परम्परा चलती आ रही है। पर इन परवर्ती पीढ़ियों में कृतित्व का अभाव है, मुख्यत: प्रतिलिपियां ही बनीं।

उस्ताद रामप्रसाद जी के बड़े भाई, उस्ताद बटुक प्रसाद में दृश्य परिकल्पना की जो शक्ति थी, उसे रामप्रसाद जी में नहीं खोजा जाना चाहिए। पर बटुक प्रसाद जी की आकृतियां रामप्रसाद जी की आकृतियों के समकक्ष नहीं ठहर सकतीं। फलत: रामप्रसाद की कृतियां ही अधिक प्रकाश में आईं। उनकी प्रेरणा के स्रोत मेरे पूज्य पिताजी ही थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि मेरा और उनका (राम प्रसाद जी का) अंतस् एक हो गया। अर्थात् वे जो कल्पना करते, चित्रकार उन्हें चित्रों में साकार कर देता। इस प्रकार अपनी ठेठ परम्परा में रहते हुए भी रामप्रसाद जी ने चित्रों की कुछ विलक्षण सृष्टि की। एक नया ज्वार आया पर खेद, वहीं तक सीमित रह गया।

देवी का चित्र

बीसवीं शती के पहले दशक से रामप्रसाद का यह कृतित्व प्रारंभ होता है। उस समय बंगाल में एक नई चित्र शैली का उदय हो चुका था जो सामान्यत: 'बंगाल शैली' के नाम से विख्यात है। मेरे पूज्य पिताजी ने इसे एक सार्वदेशिक कलाभिव्यक्ति की संज्ञा दी– ठाकुर शैली– नाम दिया पर वह चल न सका। 'बंगाल शैली' की एक प्रमुख विशेषता थी पौराणिक एवं ऐतिहासिक दृश्यों की पुर्नव्याख्या। इसमें उन्हें परम्परा के भारी-भरकम स्वरूप के आवरण को झीना करना पड़ा। मूल उद्‌देश्य परम्परा के प्रवाह को एक नई दिशा देना हो गया। उदाहरण के लिए, रामप्रसाद जी की सुप्रसिद्ध कृति *शिव तपस्या* अथवा *गंगावतरण* की परिकल्पना है जो हाथी दांत और जलीय रंग विधाओं में अपने एकाधिक संस्करणों में उपस्थित हुई [20]। इन चित्रों में राजा रवि वर्मा के चित्रों का उसी प्रकार चुनौती थी जैस महाकवि जयशंकर प्रसाद जी के नाटकों द्वारा पारसी थियेटर अथवा डी.एन. राय के नाटकों की हाथी दांत वाले संस्करण में भगवान का किशोर रूप है जो सारनाथ बुद्ध के समानांतर कहा जा सकता है, इसी प्रकार तपापूत कुंद इंदु के समान उनका धवल वर्ण स्वयं हाथी दांत के रंग द्वारा प्रकट हुआ है [4]। पृष्ठभूमि में कल्पित वस्तुवादी स्वभाविकता

है. गंगा की धारा का निर्माण पार्वत्य प्रवाह मनोहारी है।

रामप्रसाद जी की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में 'उमर खैय्याम' चित्रावली [21] है इनमें इस्लामी परिवेश का भारतीयकरण है। 'जीवन संध्या' (वस्तुत: प्रभात) में याचना की अथवा फानूस (लैंप के चारों ओर घूमती दृश्यावली) की अस्पष्ट दृश्यावली का विलक्षण चित्रण है [25]। स्वयं रामप्रसाद जी का व्यक्तित्व और चिंतन भी सूफीवाद के निकट था।

यहां जलीय रंगों और हाथी दांत पर उनके द्वारा अंकित शबीहों (व्यक्ति-चित्र, पोट्रेट) की हल्की-सी चर्चा अपेक्षित है। इनमें कुछ अत्यंत मार्के की कृतियां हैं, कुछ सामान्य भी। परवर्ती काल में विपन्नता के दौर में उन्होंने फोटोग्राफों पर रंग भर कर जीवन यापन किया पर उन्हें हम उनके कृतित्व में सम्मिलित नहीं कर सकते। उनके पुत्र स्व. शारदा प्रसाद तथा पौत्र, मुकंद प्रसाद ने भी अपनी सीमाओं के अंतर्गत उस परम्परा को जिलाए रखा।

इस प्रकार काशी की परम्परागत चित्रशैलियों का अध्याय समाप्त होता है। यहां अलंकरण (डिजाइन) चित्रण और लोककला को सम्मिलित नहीं किया गया है। परिशिष्ट के रूप में चित्राचार्य श्री जगन्नाथ अहिवासी द्वारा प्रवर्तित परम्परागत शैली का भी संक्षिप्त उल्लेख अपेक्षित है। वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय के कला विभाग के अध्यक्ष थे। इसके पूर्व मुंबई के अपने लंबे अध्यापन कार्य में उन्होंने राजस्थानी-पहाड़ी शैलियों का पुनर्जागृत कर एक नई चित्र शैली संघटित की थी। इसमें उनकी गिनी-चुनी, पर उत्कृष्ट कृतियां हैं। उनके प्रमुख शिष्यों में श्री बासुदेव स्मार्त थे। कुछ समय बाद विश्वविद्यालय में कला वे अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। उनके जीवन का विशिष्ट भाग यहीं बीता। उन वर्षों में उन्होंने प्रभूत कला का निर्माण किया। उनके चित्रों की ऊर्जा परम्परागत चित्रों, लोककला, व्यावहारिक कला एवं अलंकरणों (डिजाइनों) के विराट संग्रह से प्राप्त होती थी। उन्होंने भारत का एक-एक कोना देखा था, वहां से परिस्पंदित हुए थे। पर उनकी शैली, उन्हीं तक सीमित रह गई। अहिवादी जी के अन्य स्थानीय शिष्यों में स्व. श्री बैजनाथ एवं श्री जयशंकर मिश्र उल्लेख्य हैं।

इस प्रकार यह वृत्तांत पूरा होता है। इसमें केवल परम्पराबद्ध सूत्रों का उल्लेख किया गया है। उसमें भी कुछ सूत्र बचे रह गए हैं। भित्तिचित्रों एवं लोककला का भी उल्लेख नहीं है। इन विषयों पर स्वतंत्र लेखन अपेक्षित है। □

---

1. संप्रति यह स्थानीय 'ज्ञान प्रवाह' के संग्रहालय में संगृहीत है।
2. उन पर अंकित लेख (टिप्पणियां) स्थानीय कैथी लिपि में है। यह भी एक प्रमाण है कि यह 'पूर्वी' पोथी है।
3. संभवत: उससे मिलता-जुलता, एक पत्र कला भवन को प्राप्त हुआ था, पर मेरा यह भ्रम भी हो सकता है।
4. कहा जाता है कि दुर्भाग्यवश यह बीच से चिटक गई है।
5. अब इस पर आधुनिक रंगरोगन कर दिया गया है, अत: इसका मूल स्वरूप मिट गया है।
6. अर्थात् यह परम्परा (उपर्युक्त) सेठ ग्वालदास साहु की शबीह की (दे. ऊपर) बिलकुल विपरीत दिशा में।
7. स्थानीय नाटी इमली, काशी स्थित उनकी बारादरी में, भित्तिचित्रक रूप में कमलवन का बड़ा सजीव चित्रण था। सुनते हैं कि कुछ वर्ष पूर्व यह बारादरी समाप्त हो गई। एक अमेरिकन शोधकर्ता के पास भावनावस्था के फोटो-चित्र थे।
8. मेरे पिताजी राय कृष्णदास जी ने उक्त चित्रित प्रति भारत कला भवन को दान कर दी थी, वहां सुरक्षित है।
9. स्थान-स्थान पर स्वयं तुलसीदास भी उपस्थित हैं। ध्यान देने योग्य है कि उनका स्वरूप ठीक उसी परम्परा में है, जैसा काशी नागरी प्रचारिणी सभा के वाचनालय वाले चित्र में है अर्थात् वे श्मश्रुविहीन हैं।
10. कहा जाता है कि दुर्ग में काली मन्दिर की बाहरी दीवारों पर उत्कृष्ट चित्र हैं, पर वहां प्रवेश निषिद्ध है।
11. यह परम्परा उपर्युक्त सेठ ग्वालदास साहु की शबीहे की (दे. ऊपर) बिलकुल विपरीत दिशा में थी।
12. ईस्ट इंडिया कंपनी काल में फिरंगियों द्वारा प्रवर्तित। सामान्यत: यह अंग्रेजी वाटर कलर शैली की परम्परा में थी, मुख्यत: इसके विषय-वस्तु स्थानीय थे।
13. एक बार तत्कालीन वेश्याओं के चित्र भी विक्रय के लिए आए थे, अब उनका पता ठिकाना नहीं।
14. वहां स्वयं मिरखी घराने के सुप्रसिद्ध उस्ताद रामप्रसाद के साथ ऐसा बर्ताव हुआ। (प्राय: 1900-1905 ई.)
15. हाल के कुछ प्रकाशनों से ज्ञात होता है कि उन्हें 'मूलाराम' भी कहा जाता था। इसकी मुझे सूचना नहीं है। मूलाराम कोई भिन्न चित्रकार भी हो सकते हैं।
16. संयोगवश ये आज तक अप्रकाशित हैं। वर्ष में एक बार इन्हें प्रदर्शित किया जाता है।
17. अब पहाड़ी शैली वाली यह दुर्गापाठ चित्रावली भारत कला भवन संग्रह में है।
18. यह सूचना उनके सुपुत्र उस्ताद रामप्रसाद जी से प्राप्त हुई।
19. उनके इस पक्ष पर डॉ. अंजन कुमार चक्रवर्ती ने विशद शोध/प्रकाशन किया।
20. उनका स्वरूप, वर्ण, मुद्रा, आयुद्ध वाहन आदि।
21. किसी कारण से यह नेपाल न जा सकी होगी, इसी वंश में बच रही।
22. उस काल में तो इसकी धूम मच गई, अनेक अनुकरण भी निकले।
23. हाथी दांत चित्रण की यह प्रमुख विशेषता है प्राय: जिसका पालन नहीं किया जाता।
24. आचार्य आनंद कुमार स्वामी ने भी इन्हें 'खैय्याम' के (विश्व स्तर पर) सर्वश्रेष्ठ अंकन माना था।
25. इसका प्रमुख उदाहरण भारत कला भवन संग्रह में है। इसकी परिकल्पना मेरे पिताजी का विस्तृत वक्तव्य, प्रसादजी की याद लेख माला में प्रकाशित हो चुका है।

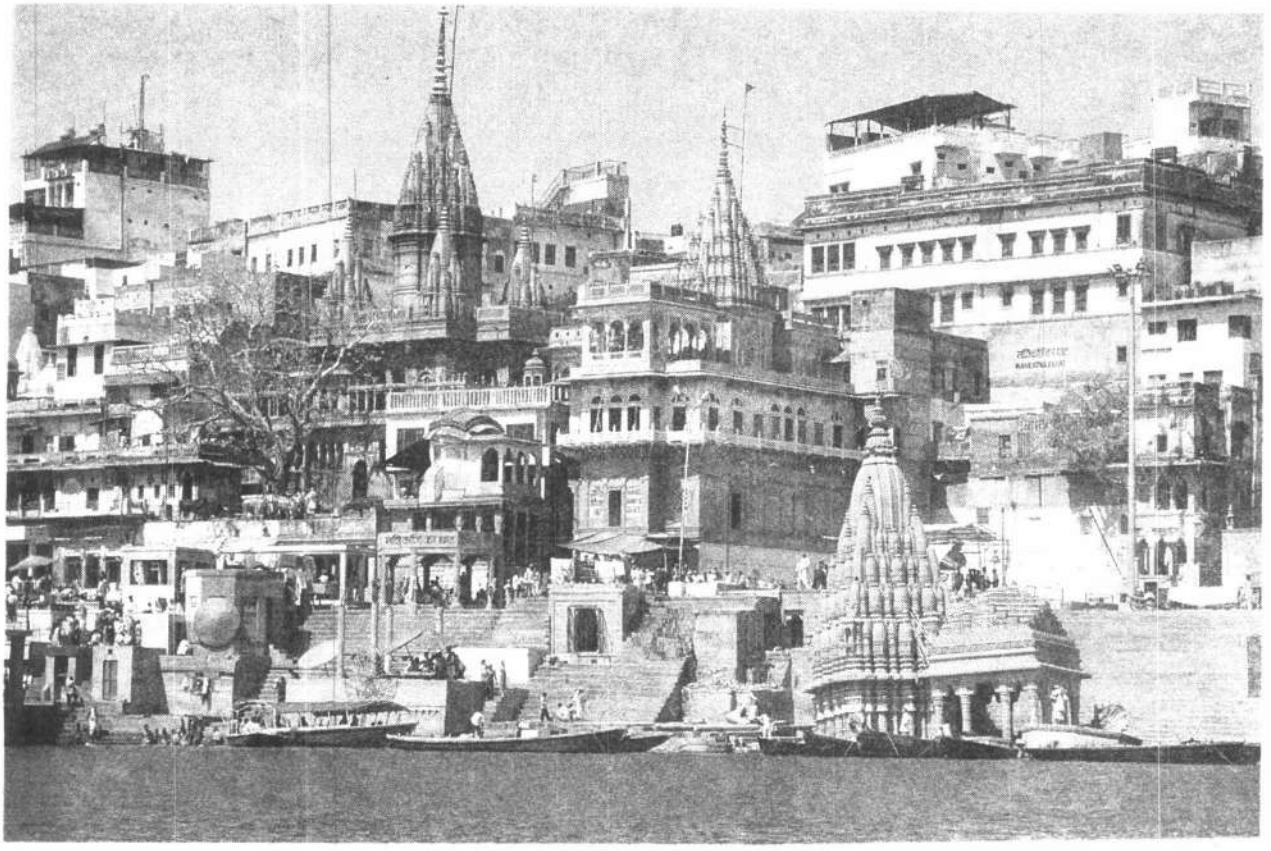

मणिकर्णिका घाट

बनारस की वास्तुकला का इतिहास

अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में बनारस का भौतिक पुनरुत्थान इसके वास्तुशिल्प से स्पष्ट रूप से झलकता है। चाहे यहां के धार्मिक भवन हों, सार्वजनिक भवन हों या ऐसी इमारतें हों जिनका धर्म से कोई लेना-देना नहीं है, सब में पुनर्जागरण का पुट दिखाई दे जाता है। काशी की वास्तुकला का विस्तृत ब्यौरा दे रही हैं **माधुरी देसाई**

चाहे इस काल को परिवर्तन के ऐसे युग के रूप में देखें जिसमें कई अन्य क्षत्रीय हित अधिक मुखर हो गए, या फिर इसे मुग़लों के पराभव के काल के रूप में देखें, भारतीय उपमहाद्वीप में अठारहवीं सदी ऐसा समय था जब बहुत से राजनीतिक हितों का नए सिरे से ध्रुवीकरण हुआ। यह वह दौर भी है जब उपमहाद्वीप के अनेक क्षत्रीय हितों ने तीर्थस्थलों, जैसे बनारस, गया और प्रयाग में निवेश करना प्रारंभ किया।

बनारस में इस तरह का निवेश शहर में भवन परियोजनाओं के रूप में सामने आया या मन्दिरों और सरोवरों अथवा नदी तट के भव्य घाटों के निर्माण के रूप में हुआ। इसके अलावा 18वीं शताब्दी के अंत और 19वीं शताब्दी के प्रारंभ के वर्षों में स्थिरता का लाभ उठाकर अनेक राज परिवारों और सेठ-साहूकार घरानों ने 'काशीवास' का पुण्य अर्जित करने के लिए इस नगरी में अचल संपत्ति का निवेश किया। बनारस के पक्के मोहल्ले और शहर के बाहरी इलाकों में बनी विशाल हवेलियां और कोठियां इस तरह के निवेश के प्रमाण हैं।

अगर 18वीं शताब्दी के मध्य में शहर का फोटो खींचना संभव होता

इस आलेख के सभी चित्र माधुरी देसाई के सौजन्य से

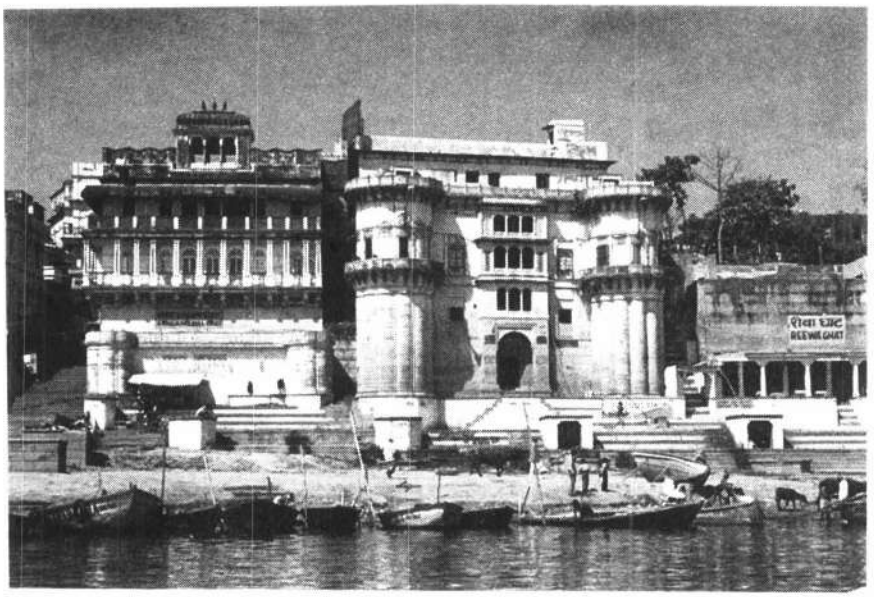

गंगा महल और रीवा कोठी

तो इस चित्र की रूपरेखा इस प्रकार होती : पंचकोसी परिक्रमा मार्ग के भीतर का 'काशी क्षेत्र' जिसका 19वीं शताब्दी में लगातार पुनर्निर्धारण, विस्तार और समायोजन होता रहा। तब गंगा के घाट पर केवल कुछ ही इमारतें थीं, जैसे- चेत सिंह का महल, केदार घाट मन्दिर (जिसके पीछे कुमारस्वामी मठ स्थित था), राणा महल, मान मन्दिर, कंगन वाली हवेली, पंचगंगा घाट की धरहरा मस्जिद और कुछ अन्य इमारतें। इनमें से मीर घाट के महल जैसी कुछ इमारतें तो ध्वस्त भी हो गई हैं। इस फोटो में दशाश्वमेध घाट के दक्षिण में कई बाग-बगीचे और फलों के उद्यान भी होते जिनका विस्तार असी घाट पर जगन्नाथ मन्दिर तक था। कई मठ, जैसे जगदम्बी मठ और कुमारस्वामी मठ भी काशी क्षेत्र के अंतर्गत थे तथा शहर में आने वाले व्यापारियों के ठहरने के लिए औरंगाबाद-सराय हुआ करती थी। इसके बाद अगले डेढ़ सौ सालों में अनेक परिवर्तन हुए।

नदी मार्ग से व्यापार के बढ़ने और गंगा के घाटों के निर्माण के बीच सीधा संबंध होने से इनकार नहीं किया जा सकता। बनारस शुरू से ही व्यापार का केंद्र रहा है और 18वीं शताब्दी में तो यह बैंकिंग यानी महाजनी से संबंधित गतिविधियों का भी बहुत बड़ा केंद्र बन गया और यहां से बड़े पैमाने पर विदेशों से व्यापार किया जाने लगा। कई जाने-माने सेठ-साहूकार घरानों ने यहां अपनी इमारतें या कोठियां बनाईं। यूरोप के व्यापारियों से व्यापार करने के साथ-साथ इन लोगों ने शहर में भवन निर्माण संबंधी कार्यों में निवेश करने में भी बड़ी रुचि ली। आज बनारस के घाटों पर कई महल और मन्दिर स्थित हैं जिनका निर्माण उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में सत्तारूढ़ रहे अनेक राजघरानों द्वारा कराया गया। असी से वरुण संगम तक फैले बनारस के घाटों का सदा से बड़ा महत्त्व रहा है। इसका कारण इनका पतित पावनी गंगा के तट पर होना ही नहीं है। गंगा तट के धार्मिक महत्त्व के प्रमुख स्थान तो पहले भी दशाश्वमेध घाट, मणिकर्णिका घाट, पंचगंगा घाट और असी तथा वरुण संगम थे। और आज भी यही हैं, जहां विभिन्न धार्मिक अनुष्ठान कराए जाते हैं। यहां के प्रमुख श्मशान घाटों में हरिश्चंद्र घाट और मणिकर्णिका घाट शामिल हैं जहां मृतकों का अंतिम संस्कार किया जाता है। मणिकर्णिका घाट में अंतिम संस्कार और धार्मिक कर्मकाण्ड दोनों होते हैं।

घाटों को स्थानीय बोली में पुश्ता भी कहा जाता है। महलों वाले घाटों की विशेषता यह है कि इन्हें नदी से और नदी तट से देखने पर अंतर स्पष्ट नजर आता है। नदी से देखने पर आम तौर पर पत्थर के विशाल तटबंध और बुर्ज नजर आते हैं, जो विशाल प्रवेश द्वार से प्रतीत होते हैं। इनके निर्माण का मकसद नदी किनारे बनी इमारतों को नदी की लहरों के थपेड़ों से बचाना है। ये इंजीनियरी का शानदार नमूना हैं। नदी से देखने पर ऐसा लगता है कि घाट चार या पांच मंजिला इमारत की ऊंचाई के हैं। ऊपर की दो मंजिलें आम तौर पर 'हल्की' नजर आती हैं। इन पर बेल-बूटों वाले मेहराब, स्तंभ और छतरियां बनी हुई हैं। तट से देखने पर अधिकतर इमारतें सामान्य किस्म की संरचनाएं दिखाई देती हैं। अक्सर ये दो या तीन मंजिला होती हैं और इनमें एक ही आंगन होता है। गंगा महल और रीवा कोठी इस तरह के डिजाइन का शानदार उदाहरण है। नदी से देखने पर भवनों की भव्यता को लेकर जो दृष्टिभ्रम उत्पन्न होता है वही बनारस के घाटों के डिजाइन की उत्कृष्टता का शानदार प्रमाण है।

घाट स्थापत्य की उत्कृष्टता की एक और मिसाल है भोंसले घाट। इसकी आकल्पना घाट स्थापत्य के नियमों को ध्यान में रखकर की गई है।

ठठेरी बाजार का गोपाल मन्दिर

बंगाली ड्योढ़ी का मन्दिर

इसके विशाल बुर्ज और द्वार नदी तट से देखने पर भव्यता का अहसास कराते हैं जबकि वास्तव में इमारत उतनी बड़ी नहीं है। भोंसले घाट की विशेषता यह है कि इसे बड़े सुनियोजित तरीके से बनाया गया है। इस इमारत का नदी की तरफ का हिस्सा इस परिसर की पूरी लंबाई में फैला हुआ है और कई तलों वाला है। गली से देखने पर जो दृश्य नजर आता है वह नदी से दिखाई देने वाले दृश्य से एकदम अलग है। गली से जब हम दालान में प्रवेश करते हैं तो यह बहुत बड़ा नहीं दिखाई देता और यहां दो मन्दिर बने हुए हैं। अहाते के चारों ओर रहने के लिए कमरे बने हुए हैं और निचले तल्ले में दालान के इर्द-गिर्द कुछ और रिहाइशी मकान हैं। यहां से सीढ़ियां नीचे नदी को चली जाती हैं। एक जमाने में नागपुर रियासत के मराठा भोंसले शासकों से इसे भरपूर अनुदान मिलता था।

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों और 19वीं शताब्दी में नदी तट पर बहुत से महल बनाए गए। दशाश्वमेध के पास रानी अहिल्याबाई होल्कर ने 18वीं शताब्दी के अंत के वर्षों में 'अहिल्या बाड़ा' नाम की एक हवेली और ब्रह्मपुरी का निर्माण कराया। बाद में इसे 'अहिल्याबाई घाट' के नाम से जाना जाने लगा। लगभग इसी समय दिगपतिया के राजा ने 'राणा महल घाट' के दक्षिण में अपने लिए एक हवेली बनवाई। पुणे के पेशवाओं ने भी बनारस में संपत्ति निवेश किया और 1807 में गंगाघाट पर गणेश मन्दिर और अन्नपूर्णा छत्र का निर्माण कराया। घाट पर निर्मित सभी इमारतों में से अन्नपूर्णा छत्र अपने आप में अनोखा है। इसकी आकल्पना मूलत: ब्रह्मभोज कराने के लिए की गई थी।

1820 तक बनारस के गंगा घाटों पर भवन निर्माण गतिविधियां पूरे जोरों पर थीं। जेम्स प्रिंसेप नाम के एक अंग्रेज ने जो टकसाल का मुख्य मूल्यांकनकर्ता था और जिसने शहर का पहला मानचित्र भी बनाया, इस दौरान बनाए जा रहे घाटों का वर्णन किया है और उनके चित्र भी बनाए हैं। सिंधिया घाट का निर्माण 1830 में होना था और इसकी योजना तैयार हो चुकी थी। लेकिन निर्माण सामग्री इकट्ठा होने के बाद काम आगे नहीं बढ़ सका। एक अंग्रेज मिशनरी रेवरेंड शेरिंग ने अर्द्धनिर्मित इमारतों के ध्वस्त होने का जिक्र किया है। बहरहाल सिंधिया घाट आज भी मौजूद है लेकिन इस पर बाईजाबाई सिंधिया द्वारा बनाई गई योजना के अनुसार कोई इमारत नहीं खड़ी है। आज हम बनारस में जो घाट देखते हैं उनका निर्माण 20वीं शताब्दी के अंत तक पूरा हो चुका था।

मन्दिर

आदि विश्वेश्वर मन्दिर रजिया की मस्जिद से सटा है। ऐसा माना जाता है कि इसका निर्माण जयपुर के सवाई जयसिंह ने 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में कराया था। इसकी छत गुंबदनुमा है और बाहर से देखने में इसके अभिनव डिजायन में मुग़ल वास्तुशिल्प की तमाम खूबियां दिखाई देती हैं। इसी दौरान 1777 में अन्नपूर्णा मन्दिर का निर्माण किया गया और इंदौर की महारानी अहिल्याबाई की आर्थिक सहायता से विश्वेश्वर मन्दिर का निर्माण हुआ। मन्दिर में गर्भगृह है जिन पर शिखर बने हैं और पार्श्व में गुंबदनुमा मण्डप हैं। बनारस के मन्दिर विभिन्न प्रकार की अभिनव शैलियों में निर्मित हैं। इनमें 'क्लासिकल' यानी पारंपरिक शैली, मुगलकालीन और औपनिवेशिक वास्तुशिल्प का समन्वय स्पष्ट नजर आता है।

विश्वेश्वर मन्दिर का जीर्णोद्धार बनारस के लिए स्वाभाविक रूप से एक महत्त्वपूर्ण घटना थी लेकिन यह एक ऐसा शहर है जहां कई नई धार्मिक परम्पराओं का विकास हुआ। उदाहरण के लिए वल्लभाचार्य संप्रदाय के श्रद्धालुओं के उपासनास्थल के रूप में गोपाल मन्दिर की स्थापना की गई। 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में बनारस के कई सेठ-साहूकार परिवारों ने इस मन्दिर को संरक्षण प्रदान किया। इस मन्दिर के प्रधान उपास्य देवता 'ठाकुरजी' हैं और यह हवेली शैली में बनाया गया है। सारे धार्मिक अनुष्ठान 'हवेली' के प्रांगण और मन्दिर के पिछवाड़े में बने विशाल उद्यान में ही होते हैं।

अठारहवीं और 19वीं शताब्दी में मन्दिरों का स्वरूप क्या रहा? नटोर की रानी भवानी के संरक्षण में बना दुर्गा मन्दिर 'शास्त्रीय' शैली का मन्दिर कहा जा सकता है। मन्दिर के गर्भ गृह और शिखर का निर्माण 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किया गया। 19वीं शताब्दी के मध्य में मन्दिर में पिरामिड की आकृति का मण्डप बनाया गया जो नक्काशीदार स्तंभों और छज्जों पर टिका है। इस मन्दिर में पत्थरों पर बड़ी शानदार नक्काशी की गई है। दुर्गा मन्दिर जन सामान्य की पूजा-उपासना के लिए बनाया गया था और यह पंचक्रोशी परिक्रमा मार्ग का प्रमुख पड़ाव है। अगर दुर्गा मन्दिर की तुलना भोंसले घाट के मन्दिर से करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन मन्दिरों में गर्भगृह और शिखर का निर्माण 'शास्त्रीय' परम्परा के अनुसार किया गया है जबकि मण्डप अन्य मराठा मन्दिरों के मण्डपों की तरह 'सुराहीदार' मुग़ल शैली के स्तंभों पर टिके हैं। यहां पहुंच कर लगता है मानो 18वीं शताब्दी के किसी शाही दरबार में पहुंच गए हों।

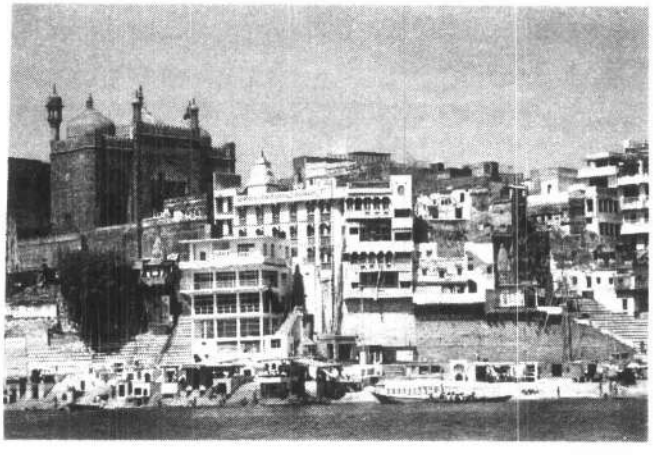

पंच गंगा घाट पर धरहरा मस्जिद

इसी काल में मणिकर्णिका घाट और इसके आस-पास के कई मन्दिरों का निर्माण हुआ और उन्हें विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों तथा परिक्रमाओं में शामिल कर कई पुरानी परम्पराओं को पुनर्जीवित किया गया। यहां इस तरह के दो मन्दिरों का उल्लेख करना विशेष रूप से प्रासंगिक होगा जिनमें पंचायतन परम्परा का निर्वाह किया गया है। पहला मन्दिर जलसी घाट (मणिकर्णिका से लगा) है। जलसी घाट में अंतिम संस्कार संबंधी गतिविधियां बढ़ जाने से इस मन्दिर में अब पूजा-उपासना नहीं की जाती। इसके अलावा मणिकर्णिका घाट का अमेठी शिव मन्दिर भी पंचायतन शैली में बनाया गया है। मणिकर्णिका घाट पर अन्य महत्त्वपूर्ण मन्दिरों में तारकेश्वर मन्दिर और रत्नेश्वर मन्दिर प्रमुख हैं। इनमें से पहला मन्दिर 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में महारानी अहिल्याबाई होल्कर के सौजन्य से बनाया गया। यह गर्भगृह और अर्ध मण्डप शैली में बना है। रत्नेश्वर मन्दिर गर्भगृह / मण्डप/ अर्ध मण्डप शैली के अनुसार निर्मित है। इसके बाहरी भाग में शानदार नक्काशी की गई है जिस कारण यह मणिकर्णिका घाट में सब मन्दिरों से अलग नजर आता है। लेकिन इसका कुछ हिस्सा पानी में डूब गया है। इस तरह बनारस के मन्दिरों में 'शास्त्रीय' शैली की कई विशेषताएं जैसे शिखर आदि तो मिलती ही हैं, इनमें 18वीं और 19वीं शताब्दी के वास्तुशिल्प की नई बातों का, जैसे गुंबद, मेहराब और मुग़ल शैली के स्तंभों का भी समावेश किया गया है।

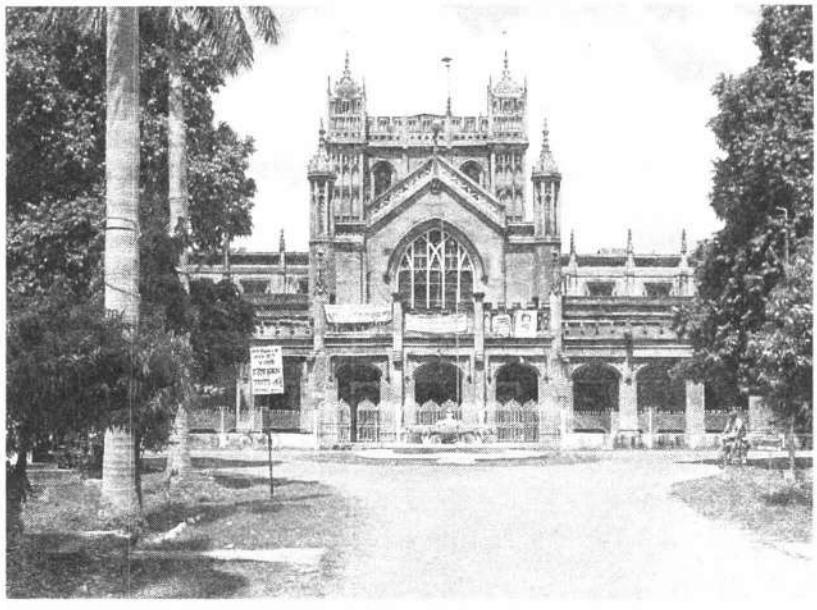

गौथिक पुनर्जागरण शैली में निर्मित संस्कृत विश्वविद्यालय

पंचगंगा घाट पर धरहरा मस्जिद बनारस के घाटों की छवि का अभिन्न अंग है। इस मस्जिद का निर्माण औरंगजेब ने 1669 में किया था। इस मस्जिद में तीन मेहराबदार कक्ष हैं और बीच के कक्ष के मेहराब के सामने दालान है। दक्षिण एशिया की अधिकतर मस्जिदों में यही शैली अपनाई गई है। शुरू में इस मस्जिद में दो ऊंची मीनारें थीं जिनसे बनारस के घाटों की बड़ी विशिष्ट पहचान उभरकर सामने आती थी। 1820 के दशक में जेम्स प्रिन्सेप ने इन मीनारों में से एक का जीर्णोद्धार भी कराया था लेकिन 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में भूकंप के खतरे की वजह से दोनों मीनारों को गिरा दिया गया।

हवेलियां

काशीवास करना पुण्य का कार्य माना जाता था, इस कारण 18वीं और 19वीं शताब्दी में कई सभ्रांत घरानों ने पक्का मोहल्ला में संपत्ति की खरीद में पैसा लगाना शुरू कर दिया। 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में यहां कई भव्य हवेलियां बनीं। ऐसी ही एक हवेली जो आज भी लगभग पूरी तरह सुरक्षित है, वह है ठठेरी बाजार की बंगाली ड्योढ़ी। यह हवेली शहर में पहली सामूहिक दुर्गा पूजा के अनुष्ठान स्थल के रूप में भी जानी जाती है और इस परम्परा को आज तक सहेजकर रखे हुए है। पक्का मोहल्ला में कई आंगनों वाली और कई खंडों में निर्मित बंगाली ड्योढ़ी को देखकर ऐसा लगता है माना किसी पुराने कथानक को नया मोड़ दे दिया गया हो। इसमें औपनिवेशिक वास्तुशिल्प के कई तत्वों के समावेश के साथ-साथ इसके सामने की ओर के द्वारों के ऊपर प्राचीन यूनानी शैली की त्रिकोण संरचनाएं बनी हुई हैं। हवेली के भीतर शिव मन्दिर का निर्माण नींव की खुदाई के दौरान ज़मीन से शिवलिंग प्राप्त होने पर किया गया। बनारस के चौखंबा इलाके में कई हवेलियां बनीं, जो उन लोगों की थीं जिन्होंने पिछली दो शताब्दियों में इस नगरी के धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में अपना योगदान दिया था।

अठारहवीं और 19वीं शताब्दी में बनारस में कई निजी मन्दिर बने थे। ये मंदिर शहर की विशाल हवेलियों और कोठियों का हिस्सा थे। इसका एक अच्छा उदाहरण रमनपुरा में 19वीं शताब्दी के अंत में निर्मित देवकीनंदन हवेली परिसर है। यह हवेली अंग्रेजी के 'एल' अक्षर के आकार में बनी है और एक खंड में इसका मुख्य प्रवेश द्वार है जिसके ऊपर नक्काशीदार मेहराब बना हुआ है। इमारत के इसी खंड की पहली मंजिल में बैठक है। इसी परिसर में बेल-बूटों की नक्काशी किए हुए मेहराब हैं और मुगल शैली के स्तंभ बने हैं। बिशप हेबर ने जो 1825 में इस हवेली में आए थे, लिखा था कि किस तरह "पानी की चार धाराएं छत में चारों ओर बीच की तरफ से निकलकर स्थायी फव्वारे के रूप में फर्श पर बनी पत्थर की हौदी में गिरती थीं।..." ठंडा रखने की इस विधि से गर्मी के महीनों में बैठक में बड़ा आरामदेह माहौल रहता होगा।

इन इमारतों के अलावा 18वीं और 19वीं शताब्दी में बनारस में कई उद्यान भी थे। उदाहरण के लिए जेम्स प्रिंसेप ने शहर के नक्शे में ऐसे कई उद्यानों को दर्शाया है। इनमें से एक उद्यान को माधो दास उद्यान के नाम से जाना जाता है। यह वही जगह है जहां वारेन हेस्टिंग्ज 1781 में चेत सिंह के साथ युद्ध के दौरान छिपा था। पंचकोशी परिक्रमा मार्ग के भीतर कुलीन घरानों की कई हवेलियों और कोठियों के दीवारों से घिरे परिसरों में उद्यान थे। काशी की तीर्थ यात्रा पर आने वाले कुलीन घरानों के लोगों के ठहरने के ये बड़े लोकप्रिय स्थान थे।

संस्थाओं के भवन

उन्नीसवीं शताब्दी के पूरा होते-होते शहर पूरी तरह औपनिवेशिक शासन की गिरफ्त में आ चुका था। इस दौरान ऐसी कई इमारतें बनीं जिनमें औपनिवेशिक स्थापत्य का पुट स्पष्ट नजर आता है। 1791 में औपनिवेशिक सरकार ने बनारस में संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की ताकि इसके माध्यम से संस्कृत भाषा के पठन-पाठन की व्यवस्था हो सके और औपनिवेशिक ढांचे के अंतर्गत इसकी शिक्षा दी जा सके। 19वीं शताब्दी के मध्य में औपनिवेशिक सरकार ने गौथिक पुनर्जागरण शैली में संस्कृत कालेज का निर्माण

कराया। मेजर किट्टा द्वारा आकल्पित इस इमारत का निर्माण कार्य 1852 में संपन्न हुआ। शहर के अनेक जाने-माने लोगों ने भी इस भवन के निर्माण में आर्थिक सहयोग दिया।

1820 के दशक में जेम्स प्रिंसेप ने शहर में एक नई टकसाल का आकल्पन तैयार किया। सरल डिजाइन पर आधारित यह इमारत एक ऊंची प्लिंथ यानी चबूतरे पर निर्मित है। इसमें खंभों वाले वृहद कक्षों के सामने उपकक्ष बने हैं। अंदरूनी स्तंभों के शीर्ष विशिष्ट शैली में निर्मित हैं। उसने उस इमारत का डिजाइन भी तैयार किया जिसे आज 'नंदेसर कोठी' के नाम से जाना जाता है। यह भवन औपनिवेशिक बंगले की विशिष्ट शैली में बना है। बनारस के महाराजा ने इसे अपने मेहमानों की अतिथिशाला बनाने के लिए खरीदा था।

उन्नीसवीं शताब्दी के बाद के वर्षों में शहर के प्रशासन में भारतीयों ने प्रमुख भूमिका निभाना प्रारंभ कर दिया था। इस दौरान कई राष्ट्रवादी संस्थाओं की स्थापना हुई और उन्होंने ऐसे संस्थागत वास्तुशिल्प पर आधारित भवनों का निर्माण किया, जिन पर औपनिवेशिक प्रभाव तो है लेकिन जिनमें भारतीयता की रक्षा का सायास प्रयास भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। भारतीयों की पहल और औपनिवेशिक सरकार की मौन स्वीकृति से 19वीं शताब्दी के अंत में मदागिन तालाब के नाम से पहचाने जाने वाले इलाके का विकास संस्थानिक क्षेत्र के रूप में किया गया। यहां टाउन हॉल और नागरी प्रचारिणी सभा जैसी बनारस की महत्त्वपूर्ण संस्थाओं की स्थापना की गई। टाउन हॉल का निर्माण 1870 में विजयानगर के महाराजा ने तत्कालीन प्रिंस ऑफ वेल्स की यात्रा की स्मृति में किया। यह इमारत कुछ हद तक औपनिवेशिक शैली पर आधारित है और इसमें सार्वजनिक सभा-समारोहों के आयोजन की व्यवस्था की गई है। लेकिन इसमें वास्तुशिल्प संबंधी कुछ ऐसी बातों का भी समावेश किया गया है जो स्पष्ट रूप से स्थानीय कौशल पर आधारित हैं। इस तरह की खूबियों में सुसज्जित स्तंभ, छज्जे और छतरियां प्रमुख हैं। यह 19वीं शताब्दी के अंत के वर्षों में शहर में निर्मित उन अनेक भवनों में से एक है जो बनारस के सुव्यवस्थित सार्वजनिक जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं।

अठारहवीं शताब्दी के अंत और 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में बनारस का भौतिक पुनरुत्थान इसके वास्तुशिल्प से स्पष्ट रूप से झलकता है। चाहे वहां के धार्मिक भवन हों, सार्वजनिक भवन हों या ऐसी इमारतें हों जिनका धर्म से कोई लेना-देना नहीं है सबमें पुनर्जागरण का पुट दिखाई दे जाता है।

इस लेख में बनारस के वास्तुशिल्प की विविधता और समृद्धि का परिचय देने का प्रयास किया गया है। आवश्यकता है इसके संरक्षण के लिए तत्काल और जोरदार प्रयास किए जाएं।

–अनुवाद : **राजेन्द्र उपाध्याय**

सहयोगी रचनाकार

गुणाकर मुळे : सी-210, पाण्डव नगर, दिल्ली-92

पृथ्वी कुमार अग्रवाल : द्वारा विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी भवन, चौक, पो.बॉ. नं. 1149, वाराणसी-221001

संजय गर्ग : द्वारा विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी भवन, चौक, पो.बॉ. नं. 1149, वाराणसी-221001

डॉ. शीतला प्रसाद उपाध्याय : बी-7, नवीन अध्यापकवास, स.म. वि.वि. वाराणसी (उ.प्र.)

आचार्य विश्वेश्वर शास्त्री द्राविड : अध्यक्ष, सांगवेद विद्यापीठ, वाराणसी (उ.प्र.)

प्रो. डी.पी. अग्रवाल : द्वारा विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी भवन, चौक, पो.बॉ. नं. 1149, वाराणसी-221001

संत विवेकदास आचार्य: अध्यक्ष, कबीर मठ, कबीरचौरा, वाराणसी एवं कबीर भवन, दिल्ली

डॉ. चंद्रकला त्रिपाठी : प्लॉट नं. 59, लेन नं. 8 ए महामनापुरी कालोनी विस्तार, पो. बी.एच.यू., वाराणसी (उ.प्र.)

बदरीनाथ कपूर : 'शब्दलोक' 47 लाजपत नगर, वाराणसी-221102 (उ.प्र.)

युगेश्वर : वेदांत, सी 33/78-4 चनुवा छित्तूपुर, वाराणसी-221102 (उ.प्र.)

धीरेन्द्र नाथ सिंह : कं 4/37, लालघाट, वाराणसी-221102 (उ.प्र.)

डॉ श्रीप्रसाद : ब्रजभूमि, एन, 9/87-डी-77 जानकी नगर, बजरडीहा, वाराणसी-221109 (उ.प्र.)

पारसनाथ सिंह : कं. 4/37, लालघाट, वाराणसी-221001

प्रो. राममोहन पाठक : प्लाट-11, कबीरमठ, सी. 23/5 कबीरचौरा, वाराणसी (उ.प्र.)

कुंवरजी अग्रवाल : द्वारा विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी भवन, चौक, पो.बॉ. नं. 1149, वाराणसी-221001

डॉ. भानू शंकर मेहता : द्वारा विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी भवन, चौक, पो.बॉ. नं. 1149, वाराणसी-221001

डॉ. मारुति नंदन प्रसाद तिवारी : प्रोफेसर, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

रॉय आनंदकृष्ण : द्वारा विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी भवन, चौक, पो.बॉ. नं. 1149, वाराणसी-221001

डॉ. माधुरी देसाई : द्वारा विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी भवन, चौक, पो.बॉ. नं. 1149, वाराणसी-221001

हरे प्रकाश : ई. 170/172 बी.के. दत्त कालानी, लोदी रोड, नई दिल्ली-3

देखी तुमरी कासी
लोगो देखी तुमरी कासी

हरे प्रकाश उपाध्याय

आखिर काशी में क्या है कि जहां एक तरह वहां रहने वाले प्रसिद्ध लेखक प्रेमचंद अपनी पत्रिका *हंस* का एक विशेषांक उस पर केंद्रित करते हैं तो दूसरी तरफ उस पर उनसे काफी दूर रहने वाले प्रसिद्ध समाजवादी विद्वान बदरीविशाल पित्ति हिंदी की सुप्रतिष्ठ पत्रिका *कल्पना* का भी विशेषांक निकालने की ख्वाहिश रखते थे। और अब *आजकल* का भी विशेषांक उस पर आ रहा है। दरअसल इस सवाल का जवाब जिससे पूछा जाएगा, वह इसका उतर अपनी तरह से देगा, लेकिन एक बात वह छूटते ही जरूर कहेगा कि "काशी में क्या नहीं है!"

कल्पना पत्रिका के काशी अंक में उषा गांगुली कहती हैं, "काशी को इस अर्थ में चलता-फिरता छोटा-सा भारत कहा जा सकता है कि यहां हर रोज देश के अलग-अलग हिस्सों के लोग तो पहुंचते ही हैं, सुदूर गांव से आए ऐसे लोग भी मिल जाएंगे, जिन्होंने कोई दूसरा शहर या स्थान कभी देखा नहीं, मगर काशी चले आए। दशाश्वमेध घाट पर होने वाली आरती के समय हमने बुर्का ओढ़े औरतों को यहां बैठे देखा।" दरअसल यही विस्मयकारी अंतर्विरोध लोगों को काशी के बारे में जानकर भी बार-बार जानने के लिए उत्प्रेरित करता है। यह एक ऐसा विस्मयकारी शहर है, जिसके बारे में श्रीकांत वर्मा ने अपनी एक कविता में लिखा है :

तुमने देखी है काशी?
जहां जिस रास्ते
जाता है शव
उसी रास्ते
आता है शव।

(काशी में शव)

केदारनाथ सिंह पर भरोसा करें तो बनारस एक ऐसा शहर है, जिसके बारे में जानकर सुदूर अमरीका की एक महिला उससे प्रेम करती है और वहां न पहुंच पाने के दुख से विचलित हो जाती है, तो अमरीका में ही सुखपूर्वक जी रहे प्रो. प्रमोदचंद्र अपनी अन्यतम जीवनसंगिनी से छुपाकर यह दिली ख्वाहिश रखते हैं कि बनारस की गलियों में वे मरें।

बनारस इस देश के लोगों के लिए ही नहीं विदेशियों के लिए भी सिरमौर रहा है। विदेश के कोने-कोने से जिज्ञासु लेखक, श्रद्धालु और विद्यार्थी तो यहां आते ही रहते हैं। बनारस की पहली सुव्यवस्थित जनगणना जेम्स प्रिंसेप नामक एक विदेशी ने की। वे नौकरी के सिलसिले में इंग्लैंड से बनारस आए और बनारस के होकर ही रह गए। उन्होंने बनारस का पहला मानचित्र बनाया और उसे अपने खर्चे से प्रकाशित करवाया। जिस कर्मनाशा के पानी को छूने से लोग डरते थे, प्रिंसेप ने उस पर पुल बनवा दिया। सम्राट अशोक के अभिलेखों को भी उसी ने पढ़ा। सुप्रसिद्ध इतिहासकार ओम प्रकाश कंजरीवाल ने अपने लेख में जेम्स प्रिंसेप के बारे में विस्तार से तथा रोचकपूर्ण ढंग से जिक्र किया है। प्रिंसेप ने बनारस के लिए महज दस वर्षों में जो किया वह कभी नहीं भूलने वाला है।

उस बनारस की खासियत यह है कि पान बेचने वाला संगीत सुनने जाने के लिए दरवाजे पर आए ग्राहक को लौटा देता है। संस्कृति के प्रति इतना त्याग और मोह और कहां? तभी तो वली दकनी जैसे शायर ने लिखा है :

कूचा-ए-यार ऐन काशी है।
जोगिए दिल वहां का वासी है।।

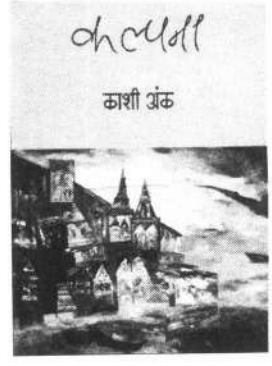

कल्पना *(काशी-अंक)*
संपादक : प्रयाग शुक्ल
प्रकाशक : शरद पित्ति
बदरीविशाल पन्नालाल पित्ति ट्रस्ट,
6-3-648/401
पद्मजा लैंडमार्क
सोमीजीगुडा, हैदराबाद-500008
वर्ष: 2005; पृष्ठ 376
मूल्य : 400 रुपये

हिंदी कविता के भक्तिकाल का प्रमुख केंद्र तो काशी रहा ही और हिंदी आलोचना की महान विभूतियां आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह से लेकर विश्वनाथ त्रिपाठी तक सभी तो वहीं से आए। हिंदी साहित्य की सभी बड़ी शख्सियतें– कबीर, तुलसी से लेकर प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, धूमिल, उग्र, त्रिलोचन, केदार नाथ सिंह, रामदरश मिश्र से लेकर विष्णु चंद्र शर्मा और अब्दुल बिस्मिल्लाह आदि सब के सब वहीं की ऊपज हैं। क्या कहा नहीं जा सकता कि बनारस की आमद से ही हिंदी साहित्य की दुनिया बनी है। नींव भी तो वहीं है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र भी वहीं के थे। *हंस* और इन्दु जैसी पत्रिकाएं वहीं से निकलीं। काशीनाथ सिंह, ज्ञानेन्द्रपति, वाचस्पति, चंद्रकला त्रिपाठी से लेकर हिन्दी साहित्य की कई युवा प्रतिभाएं वहां रह रही हैं। ग़ालिब वहां गए। सत्यवादी हरिश्चंद्र ने वहीं सत्य के लिए राज-पाट दांव पर लगा दिया। बेटे-पत्नी तक को नहीं बख्शा। दरअसल वह एक ऐसा शहर है, जिसको जैसी आंख से देखो, वैसा ही दिखता है। ज्योतिषियों से पूछो, कर्मकांडियों से पूछो, व्यापारियों से पूछो, पर्यटकों, चित्रकारों, संगीतकारों, जिस किसी से भी पूछो- सब अपनी परंपरा भूमि काशी ही बताएंगे। सबको अपनी तरह से बनारस दिखता है। कवि अष्टभुजा शुक्ल

ने लिखा है :

जो भी बनारस आता है
कोई सिर के बाल, कोई जेब, कोई मन, कोई तन।
अर्थात् कुछ न कुछ खोकर जाता है

(यह बनारस है)

कवि राजेश जोशी को वहां सिर्फ जीवन ही जीवन दिखा। उन्होंने अपनी कविता में लिखा है :

मृत्यु के प्रति कैसा निर्विकार भाव था
कि बस जीवन ही जीवन था बनारस में।

(सुबहे-बनारस)

बिस्मिल्ला खान, रसूलन बाई, जद्दन बाई, गिरिजा देवी, नंदलाल, सिद्धेश्वरी बाई, अनोखे लाल, कंठे महाराज, शीतला प्रसाद तथा रवि शंकर किशन महाराज जैसी संगीत जगत की प्रमुख हस्तियां वहीं की हैं। धर्म, शिक्षा और व्यवसाय से भी बनारस का घनिष्ठ संबंध है। वहां हर घर में दुकान मिलेगी। भारत का प्रतिष्ठित शिक्षा केंद्र बनारस हिंदू विश्वविद्यालय वहां है। काशी केवल तीर्थ मात्र न होकर संस्कृत शिक्षा का भी एक प्रधान केंद्र रहा है। जातकों में यहां की शिक्षा प्रणाली का उल्लेख है। वेद-पुराणों तक में काशी की महिमा बखानी गई है। पर काशी में सब कुछ 'गुडी-गुडी' ही नहीं है। अपने समय में भारतेन्दु ने इस पर व्यंग्य करते हुए लिखा :

आधी कासी भाट-भंडेरिया, बाह्मन और सन्यासी।
आधी कासी रण्डी, मुण्डी रांड़ खानगी खासी।

तो आज वहां का जैसा माहौल है, उससे चिढ़कर काशीनाथ सिंह भी शिकायती लहजे में कहते हैं, "राजधानी आज भी है यह नगर, लेकिन कला और संस्कृति की नहीं, धार्मिक अनुष्ठानों और कर्मकांडों की। इस पर कोई गर्व करना चाहे तो कर सकता है।" इन आरोपों के बाबत सोचते हुए विनोद तिवारी का यह स्पष्टीकरण बिल्कुल सही जान पड़ता है- "काशी धर्मनगरी मानी जाती है, अतः यदि उसकी कथा भी यदि एक पतनगाथा ही है तो किम आश्चर्यम्।"

काशी और कजरी में गहरा सम्बन्ध है। पं. बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' मिर्जापुर स्थित भगवती विन्ध्याचल देवी के जन्मोत्सव में गाये जाने वाले समस्त वर्षा गीतों को कजरी मानते हैं। वैसे भी, भगवती विन्ध्याचल भवानी का दूसरा नाम कजली है और श्रावण-भादों में गायी जाने वाली कजरियों को यहां 'विन्ध्याचली' या 'हरिकाली' के नाम से भी पुकारा जाता है। महाराजा चेतसिंह के शासनकाल के दौरान मिर्जापुर में सुन्दर नाम की एक कजरी गायिका अपनी शोहरत की बुलंदियों पर थी। उसके द्वारा रचित कजरी आज भी काशी में बड़े सम्मान की दृष्टि से देखी और गायी जाती है :

अरे रामा नागर नैया जाला, काले पनियां रे हरी।
सब कर नैया जाला कासी हो बिसेसर रामा,
नागर नैया जाला, काले पनियां रे हरी।...

काशी अंतर्विरोधों की वजह से ही तो विशिष्ट है। वहां से आचार्य द्विवेदी लगभग अपमानित होकर चंडीगढ़ चले गए। तुलसी को *रामचरित मानस* लिखने के बाद वहां अनेक तरह के कटु व्यवहारों को झेलना पड़ा। कबीर उस शहर को चुनौती देते हुए अंत समय में मगहर चले गए। नामवर सिंह से लेकर रामदरश मिश्र तक ने बनारस अपनी-अपनी परिस्थितियों से छोड़ दिया। पर आखिर ज्ञानार्जन तो सबने वहीं किया। वहां की हवा, पानी और मिट्टी में ये विभूतियां तैयार हुईं।

प्रयाग शुक्ल ठीक कहते हैं कि "काशी से साक्षात्कार कुल मिलाकर इस देश के जीवन दर्शन की विराट वास्तविकता से साक्षात्कार है।"

आदि शंकरराचार्य ने कहा था "काश्यां काश्यते काशी" अर्थात् काशी प्रकाश भूमि है।

काशी के पंडित प्रसिद्ध हैं, पान और साड़ियां प्रसिद्ध हैं तो वहां के संन्यासी, ठग, सांड़ और रांड़ भी प्रसिद्ध हैं। केदारनाथ सिंह ने 'बनारस' शीर्षक कविता में उसकी बनावट की चर्चा की है :

अद्भुत है इसकी बनावट
यह आधा जल में है
आधा मंत्र में
आधा फूल में है
आधा शव में
आधा नींद में है
आधा शंख में
अगर ध्यान से देखो
तो यह आधा है
और आधा नहीं है।

अब जिसका ऐसा स्थापत्य हो, उसे पूरा कभी कैसे समझा जा सकता है?

कल्पना का जो काशी अंक है, उसमें काशी का रंग, हवा, पानी, मिट्टी तो है, फिर भी यह पूरा काशी नहीं है, जैसे कि इसमें आधा मंत्र नहीं है, आधा शंख नहीं है, आधा शव नहीं है। बकौल संपादक प्रयाग शुक्ल, "काशी जैसे विषय का आकलन चाहे हम जिस दृष्टि या रूप में करें, उसमें बहुत कुछ छूट जाएगा।" लेकिन *कल्पना* के काशी अंक में जितना है, उतना काशी ही है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। □

लेखकों से

□ रचना भेजने के लिए कोई शर्त नहीं है। सभी रचनाओं का हम स्वागत करते हैं।

□ रचना एक तरफ टाइप की हुई या स्पष्ट लिखी होनी चाहिए। रचना के अंत में अपना नाम व पूरा पता अवश्य लिखें।

□ यदि आप अस्वीकृत रचना वापस चाहते हैं तो कृपया अपना पता लिखा, डाक टिकट लगा लिफाफा लगाना न भूलें।

हमारा नया पता :

संपादक

आजकल

प्रकाशन विभाग

कमरा नं. 120, सूचना भवन

सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

पत्र

पृष्ठ 6 से आगे

जानकारी आवश्यक

● बाल रंगमंच पर, सुरेंद्र विक्रम का आलेख 'बाल नाटकों में हास्य व्यंग्य' बाल नाटकों का ऐतिहासिक लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए वर्तमान के संकट पर गंभीर चिंता प्रकट करता है। बाल मन को समझने के लिए बाल मनोविज्ञान की जानकारी भी आवश्यक है। इसकी जानकारी के बिना स्वस्थ बाल साहित्य नहीं लिखा जा सकता। रोहिताश्व अस्थाना का बाल साहित्य पर आलेख 'बाल साहित्य में मनोविज्ञान' तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत करता है।

प्रकाश मनु ने हिंदी में बाल विज्ञान लेखन पर पाठकों को 'एक शताब्दी का सफर' करा दिया है। सृजनात्मकता की अच्छाइयों से रहित केवल प्रचार तंत्र के बल पर लोकप्रियता प्राप्त बाल साहित्य *हैरी पॉटर* बाल मन को दिशाहीन कर भटका सकता है। उससे स्वस्थ मानसिक विकास की अपेक्षा करना भारी भूल होगी।

-उमेश प्रसाद शर्मा 'उमेश'
(बिहार)

संग्रहणीय अंक

● बाल साहित्य पर आधारित *आजकल* का अंक काफ़ी संग्रहणीय है इस छोटे से पत्र में पूरा तो समेटा नहीं जा सकता, बस कोशिश की जा सकती है और वही कर रहा हूं।

जातिवाद, वर्गवाद आदि पर करारा व्यंग्य करती हुई लघुकथा 'पांच साल बाद' काफ़ी अच्छी रचना बन पड़ी है। कहानियों में 'सोने का कंगन' और 'मुट्ठी भर मिट्टी' भी ठीक-ठाक रहीं। कविताओं में अंजलि उपाध्याय की कविता 'स्वार्थ' में बहुत हल्के से दर्द उठता दिखा जो एक देश की तरह है। क्या कभी हम सोच पाते हैं उनके लिए जो हाथ में ब्रश थाम 'पालिश करा लो बाबू' कहते फिरते हैं, गलियों में कटोरा लिए अचानक मिल जाते हैं नाक बहाते आंसू पोंछते घेरने लगते हैं हमें, वास्तव में वही हमारे देश के भविष्य हैं कैसी विडंबना है कि हम 'सभी...बस अपने ही लिए' जीते हैं। 'निर्बीज' कविता भी कहीं न कहीं हमारी मानसिकता पर व्यंग्य करती है। 'वे लोग', 'निहत्था' आदि कविताएं भी अच्छी लगीं।

-शिवदीय सिंह 'प्रखर'
इलाहाबाद (उ.प्र.)

किन रचनाओं को शामिल किया जाए?

● बाल साहित्य पर केंद्रित *आजकल* के अंक को पूरा पढ़ने के उपरांत यह निश्चय करना लगभग कठिन रहा कि इसमें जो सामग्री प्रकाशित की गई है, वह हिंदी बाल साहित्य के संदर्भ में है या सभी भाषाओं के बाल-साहित्य की। क्योंकि जिन अधिकांश पुस्तकों का हवाला दिया गया है (*पंचतंत्र, कथा सरित्सागर, हितोपदेश*) वह मूल रूप में संस्कृत साहित्य की सामग्री रही है। निश्चय कर पाना मुश्किल है कि बाल-साहित्य के अंतर्गत किन रचनाओं को शामिल किया जाए, बालकों के लिए लिखी गई रचनाएं या बालकों द्वारा लिखी गई रचनाएं।

चन्द्रकांता एवं चन्द्रकांता संतति नामक तिलिस्मी उपन्यास जिनका उल्लेख डा. श्रीप्रसाद ने अपने लेख में किया है वो गुलेरी जी के न होकर बाबू देवकी नंदन खत्री के हैं। श्री देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की ग़ज़लें भाव एवं विषय की दृष्टि से अच्छी बन पड़ी हैं शिल्प की कसावट होती तो और भी अच्छा होता। अनूदित कहानी 'सोने का कंगन' इस अंक का प्रमुख आकर्षण है।

-पुरु मालव, बारां (राज.)

आकर्षक मुखपृष्ठ

● आवरण पर बच्चे का चित्र आकर्षक है। प्रसंगवश संपादकीय में बच्चों के विषय में पंडित जवाहरलाल नेहरू के उद्गार उत्कृष्ट हैं। भारी-भरकम स्कूली बस्ते के बोझ से प्रायः सभी बच्चे परेशान हैं। बाल साहित्य विशेषांक में बालकों के संबंध में *आजकल* की रचनाओं में वो रंग नहीं है जो पूर्व में *हितोपदेश, पंचतंत्र* की कहानियों में था, महाकवि सूरदास की बालकृष्ण संबंधी वात्सल्यपूर्ण बाल रचनाओं में था। क्षमा शर्मा से साक्षात्कार में बातचीत मनोरंजक एवं ज्ञानवर्धक है। शेष आधुनिक लेखन से तो लगता है बाल जीवन प्रौढ़ावस्था से आच्छादित है। महाकवि निराला के शब्दों में-

मानव यहां बैल-घोड़ा है
कैसा तन-मन का जोड़ा है।।

ऐसा लेखन कहां जो शब्दों की नोक-झोंक से हंसा-हंसा कर बाल पाठकों को लोट-पोट कर दे। बाल नाटकों में हास्य व्यंग्य के उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। मनोज वार्ष्णेय का यह निश्छल सत्य लगता है कि विदूषक (जोकर) बन गया है बाल साहित्य। फिर भी बाल साहित्य के लिखने-लिखाने में *आजकल* का प्रयास प्रेरणादायी और प्रशंसनीय है।

-कुशलकरण, जोधपुर, (राज.)

यथार्थ को समझा जाए

● यह कहना बिल्कुल सच है कि कविता के भावलोक में उतरने के लिए जरूरी है कि उसके बाह्य अथवा परिवेशगत यथार्थ को समझा जाए। समकालीन युवा कविता के संदर्भ में यह और जरूरी है, क्योंकि स्त्रियां चाहें जितनी जटिल हों, यथार्थ से वह आज भी सीधे टकरा रही हैं। अकारण नहीं कि *कुमार मुकुल की कविता कवि के दुख को सीधे पाठकों के सामने इस तरह रखती है : अब जनता है कि कविता पढ़ती नहीं/ और अपनी ही कृति से/रह जाती है वंचित/इस तरह /महान कवि और जनता/दिन-रात की तरह/इक दूजे का दरस-परस नहीं पाते।*

'महुआ बीनती लड़की' और 'जीवन अगोरूंगा', कविता खूबसूरत है। नरेन्द्र तिवारी की 'निर्बीज' कविता पढ़ते हुए हमें अनायास ही गोरख पांडे याद आने लगते हैं और जिसे कवि ने निर्बीज संवेदना के खिलाफ लिखा बताया है। लेकिन कविता क्या सिर्फ उतना ही करेगी, जितना कवि चाहेगा? नहीं, क्योंकि उसके संवेदन तंत्र को निर्बीज संवेदन के साथ-साथ और भी बहुत कुछ संवेदित करता है और अंततः उसकी कविता एक व्यापक कैनवस पर जीवन जगत के बहुविध सौन्दर्य-चित्रों की सृष्टि करने लगती है।

-राहुल झा, मुंगेर(बिहार)

गहरी आत्मीयता

● बालपन से लेकर युवावस्था तक पोते के प्रति दादी की गहरी आत्मीयता श्रीरमणा की तेलुगु कहानी 'सोने का कंगन' में हुआ है। इस कहानी में धर्म के पाखंडियों की पोल भी खोली गई है। महेश चंद्र चौरसिया की लघुकथा 'पांच साल बाद' में नेताजी ने ग्रामवासियों के साथ आत्मीयता दिखाने का गिरगिट की तरह ऐसा रंग बदला कि महिलाओं और बूढ़ों को उस पर तरस आया और उसके हार के लक्षण पलक झपकते जयकार में बदल गए। रॉबिन शॉ पुष्प की कहानी 'रोशनियों के दरख्त' में संवेदनशून्य हो रहे डॉक्टरों को उनकी मानसिकता का सही दायित्व बोध कराया गया है।

-राधेलाल 'नवचक्र'
भागलपुर (बिहार)

हमारे नये प्रकाशन

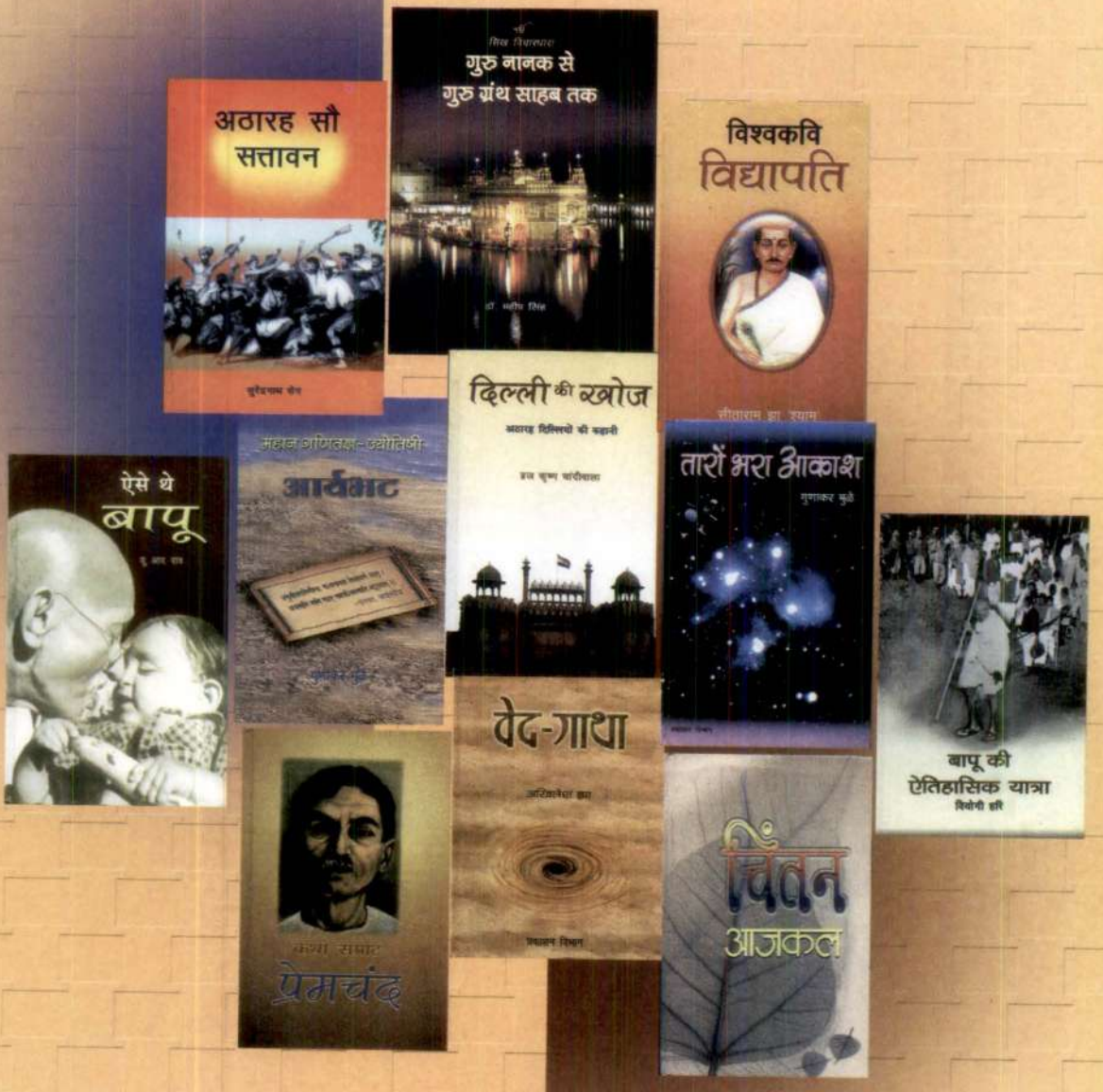

पुस्तक मंगवाने के लिये संपर्क करें

व्यापार व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

सूचना भवन, सी.जी.ओ.काम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली 110003

फोन:2436 7260

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस)-05/3222/2006-08 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली में पोस्ट करने के लिए लाइसेंस U(DN) 49/2003-05
Postal Regn No DL(S)-05/3222/2006-08
Licenced U(DN) 49/2003-05 to post without pre-payment at RMS Delhi
दिल्ली डाक आर एन 701/57
Delhi Postal RN701/57

पंचगंगा घाट, बनारस– जेम्स प्रिंसेप (1830)

प्रकाशक व मुद्रक उमाकांत मिश्र, निदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए तारा आर्ट प्रेस, बी-4, हंस भवन, बहादुरशाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110 002 से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110 003 से प्रकाशित। संपादक : प्रवीण उपाध्याय